लिये—जिसे करने की उसमें सामर्थ्य है, अपने पुराने घर और मित्रों का त्याग करना पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार ऐसी घटनायें भी हुई हैं कि ब्रह्मविद्या के सत्य को कुटुम्ब के किसी एक व्यक्ति ने तो समझा किंतु अन्य नहीं समझ सके, जिससे कि कष्ट और भेद की उत्पत्ति हुई। आधुनिक समय में बहुधा ही मनुष्य धन कमाने के उद्देश्य से कुटुम्ब को छोडकर पृथिवी के दूसरे कोने को चला जाता है, और किसी को भी उसके लिये आपत्ति नहीं होती; किंतु यदि कोई मानवजाति के हित के लिये जाने का प्रस्ताव करे, तो तुरन्त ही उसका विरोध होता है—हमारे समय की यही अनुन्नत गति है।

याद कीजिये कि जब राजकुमार सिद्धार्थ ने परार्थ का जीवन व्यतीत करने की इच्छा की थी, तो महाराज शुद्धोधन ने उनके मार्ग में कितनी वाधायें खड़ी कर दीं थीं। उन्होंने अपने पुत्र को उसके परम सौभाग्य को प्राप्त करने से रोकने के लिये, तथा उसे जगत् का सर्वश्रेष्ठ गुरु बनाने के स्थान पर भारत का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् बनाने के उद्योग में—क्योंकि ज्योतिषियों की गणना के अनुसार उनका इन दोनों में से कोई एक बनना अवश्यम्भावी था—अथाह धन और अपने जीवन का एक बड़ा भाग व्यय कर दिया था। महाराज शुद्धोधन को यह विदित था कि उसके पुत्र के धर्मगुरु बनने का अर्थ ही है उसके लिये दरिद्रता और त्याग; उन्होंने यह नहीं समझा कि यह पद एक सम्राट् के पद की अपेक्षा कहीं उच्च है। एक महान् धर्मगुरू के नाम की कीर्ति इतिहास में जितनी अमर होती है, उतनी किसी सम्राट् की नहीं होती।

महाराज शुद्धोधन ने अपने पुत्र के लिये अतुलनीय शक्ति और यश की इच्छा की थी, और वह आये भी, किंतु उस रूप में नहीं जिसकी कि उसने इच्छा और योजना की थी। भगवान् बुद्ध की शक्ति पृथिवी के किसी भी सम्राट् की अपेक्षा महान् है, और उनकी कीर्ति आज समस्त जगत् में छाई हुई है।

क्राइस्ट ने लोगों से कहा था कि "सबका परित्याग करके मेरा अनुसरण करो; जब हमारे ईसाई मित्र उनके इस वचन को पढ़ते हैं तो समझते हैं कि वे तो ऐसा तुरन्त ही कर सकते थे। किंतु यह बात उतनी सहल नहीं है। हमें चाहिये कि हम अपने को उस समय के लोगों की स्थिति में रख कर देखें। आपको उस युवक की बात याद होगी जो अतुल धन-सम्पत्ति के साथ क्राइस्ट के पास आया था; अब यह भी सम्भव है कि उसे अपनी उस सम्पत्ति द्वारा आवश्यक कर्त्तव्य कर्म करने हों और इसी कारण वह उसे न त्याग सका हो। उस समय का समस्त जन-मत, सम्पूर्ण प्रतिष्ठित समाज, और सब धर्माचारियों का सम्पूर्ण बल क्राइस्ट का विरोध करने में जुटा हुआ था। वे तो केवल एक ऐसे परिव्राजक मात्र थे जिनका कहीं भी आश्रय न था। क्या इन सब बातों का सामना करके भी हम उनका अनुसरण कर सकते? क्या निश्चय ही हम उनका अनुसरण करने के लिये सर्वस्व त्याग देते, जिन पर हमारे गुरुजन, बड़े-बड़े पण्डित और धर्माचार्य धर्मोन्मत्तता का कलंक लगाते थे? क्या हमें यह संदेह न होता कि कहीं हम सार को त्याग कर छाया को तो नहीं पकड़ रहे हैं? यह बात उतनी सहल नहीं

है। आज भी कदाचित् यह बात वैसी ही प्रतीत होती है, तथापि हममें से जिन्होंने उन महर्षियों का अनुसरण करने के लिये अन्य वस्तुओं को त्याग दिया है उन्हें अपने इस काम के लिये कभी क्षण भर को भी पश्चात्ताप नहीं हुआ।

"बहुधा इन महात्माओं को अपनी शक्ति प्रवाहित करने के लिये किसी शिष्य की आवश्यकता हुआ करती है, किन्तु यदि वह शिष्य विषाद-ग्रस्त हो तो वे ऐसा नहीं कर सकते; अस्तु, सर्वदा प्रसन्न रहने को अपना एक नियम ही बना लेना चाहिये।"

लेडबीटर—इस पुस्तक में लगातार बारम्बार श्री गुरुदेव की सेवा का ही वर्णन किया गया है। विषाद के विरोध में और भी बहुत से कारण दिये जा सकते हैं, जैसे कि यह स्वयं उस मनुष्य के लिये भी हानिकर है और इसका दूसरों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है इत्यादि, किन्तु यहाँ पर इसी एक बात पर ज़ोर दिया गया है कि यदि हम विषादग्रस्त हो जायें तो श्री गुरुदेव अपनी शक्ति प्रवाहित करने के लिये हमारा उपयोग नहीं कर सकते।

ऐनी बेसेंट—यहाँ यह बताया गया है कि किस लिये हमें सदा प्रसन्न रहने की आवश्यकता है, क्योंकि यहाँ वही प्रेरणादायक विचार फिर उपस्थित किया गया है कि श्री गुरुदेव को आप की सहायता अपेक्षित है और आप उनके लिये उपयोगी बन सकते हैं। उनकी शक्तियाँ आनन्दमयी हैं, क्योंकि वे ईश्वरीय शक्ति का ही एक भाग हैं, अतः वे अपनी शक्तियों को किसी ऐसे स्रोत द्वारा प्रवाहित नहीं कर सकते जो विषाद से अवरोधित हो।

यह कथन आश्चर्य-जनक प्रतीत होता है कि श्री गुरुदेव किसी कार्य को करने में असमर्थ हैं, तथापि यह सच है। यदा कदा मनुष्य श्री गुरुदेव को ऐसा कुछ कहते हुए सुन सकता है कि "मैं ऐसा करने में सफल न हो सका।" जब वे स्थूललोक में अपना काम करते हैं तो यहाँ की स्थितियों के कारण उनकी शक्ति भी परिमित हो जाती है। बहुधा किसी के मध्यस्थ हुये बिना वे स्थूललोक में किसी व्यक्ति तक नहीं पहुँच सकते, अतः उन्हें सहायता की आवश्यकता पड़ती है, जो कदाचित् आप उन्हें दे सकते हैं। उस सहायता के बिना बहुत से कार्य असंपादित ही रह जाते हैं और फलतः पीछे से ऐसी-ऐसी बाधाओं को दूर करना पड़ता है जिनके होने की वहाँ आवश्यकता ही न थी।

बाँईसवाँ परिच्छेद

एकनिष्ठा

"तुम्हे सदा अपने सामने गुरुदेव के कार्य का ही लक्ष्य रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त तुम्हे चाहे जो भी कार्य करने पड़ें किंतु अपने इस लक्ष्य को कभी नहीं भूलना चाहिये।"

लेडबीटर—सामान्य जीवन में भी वास्तविक सफलता के लिये एकनिष्ठा की आवश्यकता है। एकनिष्ठ मनुष्य अंत में सदा ही सफल होता है, क्योंकि उसकी समस्त शक्तियां संगठित होकर कार्य करती हैं, जहाँ कि अन्य लोगों

के नाना लक्ष्य होते हैं जिनमें सदा ही परिवर्तन होता रहता है। दृष्टांत के लिये, जो व्यक्ति धन कमाने के लिये उद्यत हो जाता है और अपने समस्त विचार और इच्छा शक्ति को उसी उद्देश्य की प्राप्ति में लगा देता है, एवं प्रति समय उसी के लिये अवसर ताकता तथा योजनायें बनाता रहता है, उसका काम सफल होना लगभग निश्चित ही है। यदि मनुष्य अपनी शक्ति की लगातार वृद्धि करते हुये श्री गुरुदेव की सेवा करने का दृढ़ निश्चय कर लेता है और उसके लिये अन्य सब वस्तुओं का त्याग करने को प्रस्तुत है, तो उसकी उन्नति निःसंदेह शीघ्र ही होगी।

"तथापि कोई भी अन्य कार्य तुम्हारे मार्ग में नहीं आ सकता क्योंकि सभी उपयोगी और निःस्वार्थ कार्य गुरुदेव के ही कार्य है, और तुम्हे उन सबको उन्हीं के निमित्त करना चाहिये। तुम्हे अपना प्रत्येक कार्य दत्तचित्त होकर करना चाहिये, ताकि वह सर्वोत्तम रीति से संपादित हो सके।"

लेडबीटर—एक शिष्य का बहुत सा कार्य अपने को भविष्य में श्री गुरुदेव की अधिक दायित्वपूर्ण सेवा करने योग्य बनाना ही होता है। उसके कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो श्री गुरुदेव की वर्तमान योजना में प्रत्यक्ष उपयोगी नहीं हैं, किंतु उनकी तुलना स्कूल के उस विद्यार्थी से की जा सकती है, जो उदाहरणार्थ, लैटिन पढ़ते समय कोई विशेष भलाई का काम तो नहीं करता, किंतु अपने मन की शक्तियों और चरित्र के गुणों का विकास कर रहा है अथवा कर सकता है, जो कि उसके भावी जीवन के लिये उपयोगी होंगे। सामान्य जीवन के कर्त्तव्यों में भी बहुधा इन्हीं

दोनों बातों का समावेश होता, क्योंकि जो अपने इन कर्त्तव्यों का भली भाँति पालन करते हैं, उन्हें इनमें भी अभ्यास और शिक्षा प्राप्त करने के सुन्दर साधन मिल जाते हैं, और अन्य लोगों के भी चरित्र और आदर्शों को उत्कृष्ट बनाने में सहायता करने के अवसर प्राप्त होते हैं, जो कि निश्चय श्री गुरुदेव का ही कार्य है। हमारे नित्य जीवन के कार्यों को भी जब हम श्री गुरुदेव के नाम पर और उन्हीं के निमित्त करते हैं, तो वे भी श्री गुरुदेव की सेवा करने के हमारे एकान्त उद्योग के अन्तर्गत ही आजाते हैं। श्री गुरुदेव के कार्य कोई अनोखे और अनूठे नहीं हैं। अपने परिवार को अच्छी शिक्षा देना ताकि अपनी बारी आने पर वह भी श्री गुरुदेव की सेवा कर सके, धन-प्राप्ति का उद्योग करना ताकि उस धन को उन्हीं की सेवा में उपयोग किया जा सके, सत्ता प्राप्त करना ताकि उससे उन्हीं की सहायता की जा सके--यह सब काम भी उन्हीं के कार्य के अन्तर्गत हैं; तथापि इन कार्यों को करते समय हमें आत्म-प्रवंचना से सदा सावधान रहना चाहिये कि कहीं हम धन और सत्ता को प्राप्त करने की हमारी छिपी हुई कामना को तो श्री गुरुदेव के पवित्र नाम का आवरण नहीं पहना रहे हैं?

"इन्हीं आचार्य ने यह भी लिखा था कि "तुम जो भी कुछ करते हो, उसे हार्दिक उत्साह से ईश्वर का ही कार्य समझ कर करो, अपना नहीं। विचार करो कि यदि तुम्हे यह विदित हो जाये कि तुम्हारे गुरुदेव अमुक कार्य का निरीक्षण करने को आ रहे है, तो तुम उसे कैसे करोगे? ठीक उसी प्रकार तुम्हे अपने सभी कार्यों को करना चाहिये। जिन्हे अधिक ज्ञान है, वही इस वचन का यथार्थ अर्थ

समझेंगे। ऐसा ही एक और वचन इससे भी पुरातन है कि "जो भी कार्य तुम्हारे सम्मुख आये उसे अपनी पूरी योग्यता से करो।"

लेडबीटर—यह सारा संसार उन एक दीक्षागुरु—उन्हीं जगदीश्वर की चेतना में समाहित है, अतः वे हमारे प्रत्येक कार्य के साक्षी हैं। इसी सत्य के द्वारा ईश्वर के सर्वदर्शी और सर्वव्यापी होने के विचार की उत्पत्ति हुई है जिसके विषय में कहा गया है कि "संपूर्ण जगत उसी में व्याप्त है।" यह कोई काव्य-कल्पना नहीं है, वरन् एक वैज्ञानिक सत्य है कि हम उस जगत् के स्वामी के तेजस् के भीतर ही निवास करते हैं। अवश्य ही जो चेतना एक ही समय में समस्त जगत् में परिव्याप्त है, वह हमारे लिये अकल्पित रूप से दुर्बोध है; तथापि एक न एक दिन हम उस परम पद को अवश्य पहुँचेंगे।

ईसाइयों में पहिले ईश्वर के सर्वव्यापक होने की धारणा एक भयानक विचार बनी हुई थी; ईश्वर के लिये ऐसी कल्पना की जाती थी कि जैसे वह सदा दोष ही ढूंढ़ा करता है, और अपने किसी नियम के भंग होने की उत्सुकतापूर्वक राह देखा करता है, ताकि उस अभागे अपराधी पर अपनी कोप बरसाये। बहुत से बालक इस धारणा के कारण आतंकित हुये हैं; वे इसे एक अन्याय समझते हैं कि उनके कोई भी काम गोपन नहीं रह सकते। ऐसा विशेषतः इसलिये भी होता है कि एक भयभीत बालक यह नहीं समझ सकता कि उसके सब कार्यों का साक्षी उसके कार्यों को किस दृष्टि से देखेगा। किंतु इसके स्थान पर यदि मनुष्य उस दैवी प्रेम को पहचान ले, तो उसे प्रतीत होगा

कि ईश्वर की सर्वव्यापकता ही हमारी सुरक्षा है, और यह हमारे लिये सबसे बड़ा वरदान है।

एनी बेसेंट—श्री गुरुदेव के बताये हुये इस उपाय को हमें अपने सभी कार्यों में प्रयोग करना चाहिये। मान लीजिये कि आप एक पत्र लिख रहे हैं, यदि आप जानते हैं कि श्री गुरुदेव आकर इसे देखेंगे, तो आप पत्र की लिखावट और उसके विषय दोनों में ही बहुत सावधानी बरतेंगे। यदि आप अपने प्रत्येक कार्य को सर्वोत्तम रीति से संपादित करते हैं, तो वह कार्य श्री. गुरुदेव का ही है, चाहे वह कोई ऐसा कार्य हो जिसे श्री. गुरुदेव किसी उद्देश्य की शीघ्र पूर्ति के लिये करवाना चाहते हैं अथवा ऐसा हो जो आपको भविष्य के कार्य के लिये तैयार करे। यदि हमने उन्हें आत्म समर्पण कर दिया है तो हमारा प्रत्येक कार्य भी उनके ही लिये है, अन्य किसी के लिये नहीं। इसे अपने मन की स्वाभाविक और अनवरत वृत्ति बना लीजिये, और तब ऐसी अवस्था बन जाती है जिसमें एक निष्ठा की उत्पत्ति होती है।

यदि हममें सच्ची एक निष्ठा हो तो हमारा प्रत्येक कार्य कितनी सुंदरता से होगा। मैं स्वयं भी अपने मन में सदा श्री गुरुदेव की सेवा के लिये ही प्रत्येक कार्य को करने का विचार रखती हूँ, जैसे कि कोई नया शिष्य रख सकता है—यद्यपि नये शिष्य की अपेक्षा स्वभाव का बल मुझमें अधिक है जो कि मेरी सहायता करता है। मैं स्वयं ही सोचा करती हूँ कि "इस पत्र का उत्तर मैं क्यों दूं?" और मेरे अपने ही प्रश्न का उत्तर तुरंत ही मेरे मस्तिष्क में आ जाता है। "क्योंकि मेरे सम्मुख य [illegible] रने के लिये आया है यह कार्य भी श्री गु [illegible]।"

आप इस विचार को सदा अपनी स्मृति में रखिये कि आप एक साधक हैं, प्रत्येक मनुष्य को इस आदत का निर्माण करना है, और एक बार इसके बन जाने पर इसे और भी प्रबल बनाते रहना है। इससे हमें अपने प्रत्येक कार्य को पूरी योग्यता से करने में सहायता मिलेगी। हमें अपना प्रत्येक कार्य अपनी पूरी योग्यता से करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार यह दैवी कार्य का ही एक भाग बन जाता है, और इससे हमारे चरित्र का शिक्षण होता है। अपने कार्य को सदा सर्वश्रेष्ठ बनाइये, मध्यम श्रेणी का नहीं।

"एकनिष्ठा का यह भी अर्थ है कि कोई भी वस्तु कभी तुम्हे एक क्षणके लिये भी उस पथ से विचलित न कर सके, जिस पर कि तुम आरूढ़ हो चुके हो। कोई प्रलोभन, कोई भौतिक वस्तु, यहाँ तक कि कोई सांसारिक स्नेह भी तुम्हें कभी पीछे न हटा सके; क्योंकि तुम्हे स्वयं उस पथ के साथ एक रूप हो जाना चाहिये। यह बात तुम्हारी प्रकृति का ही एक अङ्ग बन जानी चाहिये, ताकि इसका कोई विचार किये बिना ही तुम इसका अनुसारण करते रहो, और इससे कभी विमुख न हो। तुमने अर्थात् आत्मा ने इसका निश्चय कर लिया है; इससे नाता तोड़ने का अर्थ अपने आप से नाता तोड़ना होगा।"

लेडबीटर—मनुष्य को इस पथ के साथ एक हो जाना चाहिये, यह वचन इस पुस्तक के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी कहे गये हैं। क्राइस्ट ने अपने शिष्यों से कहा था कि "मैं ही वह मार्ग हूँ" ठीक यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि मैं ही वह पथ हूँ जिस पर कि साधक को अवश्य चलना चाहिये," 'सारशब्द' (Voice of the

Silence) नामक पुस्तक में भी यही विचार प्रकट किया गया है, उसमें कहा गया है कि "तुम उस पथ पर तब तक आरूढ़ नहीं हो सकते, जब तक कि तुम स्वयं उसके साथ एक रूप न हो जाओ।" वास्तव में होता यही है कि तब मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप को पहचानने लगता है। पातंजलि ने योग की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब मनुष्य अपने मन पर निग्रह प्राप्त कर लेता है तो वह "सच्चे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।" आत्मा (Monad) जो कि मनुष्य में ईश्वर रूप से स्थित है, वही हमारा सत्य स्वरूप (True Self) है; किन्तु उसने जीवात्मा (ego) के रूप में अपना ही एक अंश नीचे उतारा है, और वही जीवात्मा (ego) पुनः अपने एक अंश से देहाभिमानी व्यक्तित्व (Personality) के रूप में प्रकट होता है। जब तक मनुष्य पर्याप्त उन्नति न कर ले, तब तक जीवात्मा (ego) देहाभिमानी व्यक्ति (Personality) पर शासन नहीं कर सकता। उससे पहिले की आशाहीन स्थिति में तो वह बिना किसी विशेष प्रयत्न किये चुपचाप देखता रहता है। इसके पश्चात् प्रथम दीक्षा की वह अवस्था आती है जब कि देहाभिमानी व्यक्तित्व की अपनी कोई स्वतंत्र इच्छा शेष नहीं रह जाती, और उसका अस्तित्व केवल जीवात्मा के उपयोग के लिये ही रहता है (केवल उस समय के अतिरिक्त जब कि यह इस बात को भूल जाता है)। अब देहाभिमानी व्यक्तित्व के द्वारा जीवात्मा ही नीचे के लोकों में क्रियाशील रहता है, और आत्मा (Monad) की इच्छा को पहचानना तथा उसी की इच्छानुसार बर्तना आरम्भ कर देता है। आत्मा (Monad) ने ही जीवात्मा (ego) के विकास

का मार्ग निर्दिष्ट किया है और वह अब दूसरे किसी मार्ग को नहीं चुन सकता, क्योंकि वह अब अपने स्वरूप को पहचान रहा है, और प्रत्येक बन्धन से यहां तक कि अध्यात्म लोकों के बन्धन से भी मुक्त हो रहा है। इस पथ पर चलते हुये साधक लगातार इधर उधर भटकता रहेगा किंतु एकनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर सदा ठीक मार्ग की ओर पुनः मुड़ जायेगा।

ऐनीबेसेन्ट—लोग बहुधा ही यह भूल जाते हैं कि वे आत्मा (Monad) का ही प्रतिरूप हैं। आपका सच्चा स्वरूप आत्मा ही है, अतः आप जो कुछ भी यहाँ करते हैं वह आपके ही सत्य संकल्प द्वारा किया जाता है, किसी अन्य इच्छा के बाहरी अनुरोध से नहीं। आत्मा का संकल्प ही आपका संकल्प है, आपकी इच्छायें आपका संकल्प कदापि नहीं है; किन्तु आपके यह सब शरीर किसी विशेष सुख की इच्छा करते रहते हैं इसी लिये आप अन्य वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं। उन सुखों की चाहना करने वाले आप नहीं हैं, यह तो वह मूलभूत पदार्थ (Elemental material) ही है जो इनका रस लेना और इनका अनुभव करना चाहता है। अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर, जिसका लक्ष्य निश्चित रूप से सदा उच्च ही रहता है, आपको ऐसी स्थितियों का विरोध करना चाहिये। आपको उस कुतुबनुमा (Compass) कंपास घड़ी की सूई के समान होना चाहिये, जो घुमाई तो अवश्य जा सकती है किंतु सदा ही अपने स्थान पर फिर लौट आती है। जब तक आप इतने दृढ़ न हो जायें कि कोई भी वस्तु आपको विचलित न कर सके, तब तक उस एक ही संकल्प पर बारंबार लौट आने का

आपको निरंतर अभ्यास करना चाहिये।

आप प्रकृति (Matter) नहीं हैं; इसे तो आपको अपना एक यन्त्र बना लेना चाहिये। यह एक असंगत सी बात है कि आप किसी ऐसे यंत्र के आधीन हो जायें जिसे कि आपने अपने उपयोग के लिये बनाया था। यह तो वैसे ही बात है जैसे कि किसी बढ़ई के हाथ का हथौड़ा उसकी इच्छानुसार चलने के स्थान पर अपनी ही इच्छानुसार चलने लगे, और कील पर पड़ने के स्थान पर उसी की अंगुली पर पड़नेलगे। कभी कभी ऐसा होता है कि मनुष्य अपने हथियार से अपनी ही अंगुली को कुचल लेता है, किंतु इसका कारण यही है कि वह एक अनाड़ी कारीगर है। अपने उद्देश्य के प्रति, अपने सत्य संकल्प के प्रति सच्चाई रखनी सीखिये और तब वह समय आयेगा जब कि आप उससे विचलित नहीं हो सकेंगे।

एकनिष्ठा की वृद्धि एकाग्रता के अभ्यास से भी की जा सकती है; किसी भी समय में अपना ध्यान किसी छोटे क्षेत्र पर लगा दीजिये, एक समय में एक ही काम पर मन को एकाग्र कीजिये, ताकि आप उसे भली-भाँति संपादित कर सकें। जितना जल एक छोटी नहर में एकत्रित होने पर प्रबल प्रवाह से बह सकता है, उसे ही यदि बड़े क्षेत्र में फैला दिया जाये, तो वह कोरी पानी की एक चद्दर ही बनकर रह जाती है। यही बात आपकी शक्तियों के लिये भी है। सभी कार्यों को अनिश्चित रूप से करने के स्थान पर, एक-एक कार्य को हाथ में लीजिये और प्रत्येक को निश्चित रूप में और अपनी पूरी सामर्थ लगा कर

पूरा कीजिये। यदि आप स्थिरतापूर्वक इस सम्मति पर चलते रहेंगे, तो शीघ्र ही एक निश्चित परिणाम को प्राप्त करेंगे; वह परिणाम पहिले तो आपको थोड़ा ही दिखाई देगा, किंतु जैसे-जैसे समय वीतता जायगा, वैसे-वैसे आप उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करेंगे और शीघ्र ही आप के कार्य और शक्ति दोनों की ही प्रचुर मात्रा में उन्नति होगी।

तेईसवाँ परिच्छेद

श्रद्धा

"तुम्हे अपने गुरुदेव पर भरोसा रखना चाहिये, और अपने आप पर विश्वास होना चाहिये। तुमने यदि श्री गुरुदेव के दर्शन कर लिये हैं तो तुम जन्मजन्मान्तर तक उनमें पूरा भरोसा रखोगे। यदि तुम्हें उनके दर्शन नहीं हुये, तो तुम्हें उनकी समीपता का अनुभव करने तथा उन पर भरोसा रखने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि ऐसा हुए बिना तो वे भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकते।"

लेडबीटर—उपरोक्त शब्द वहुत कुछ श्री कृष्णमूर्ति के निज के हैं जोकि यहाँ वे अपने गुरुदेव के विषय में कह रहे हैं; किंतु ऐसी ही वात श्री गुरुदेव ने भी अपने से महान् आत्माओं के विषय में कही थी, क्योंकि जैसे हम श्री गुरुदेव के विषय में सोचते और कहते हैं, वैसे ही वे भी भगवान् बुद्ध, भगवान् मैत्रेय आदि के विषय में सोचते और कहते हैं, जो उनसे भी अधिक उच्च श्रेणी पर हैं।

श्री गुरुदेव को पूर्णरूप से समझना हमारे लिये लगभग असम्भव है। हमें इसके लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये;

हम उनमें अपनी समझ में आनेवाले उच्चतम आदर्शों की कल्पना कर सकते हैं; किंतु श्री गुरुदेव इतनी प्रकार की महानताओं के मूर्तिमान् स्वरूप हैं कि हमारे लिये उनकी कल्पना भी असम्भव है; और हम अपने जिस ऊँचे से ऊँचे आदर्श का उनमें आरोप कर सकते हैं, वह भी उनकी महानता के सामने अति तुच्छ है। ऐसी अवस्था में उनके ज्ञान पर पूरा भरोसा रखना ही सरल बुद्धिमानी की बात है।

श्री गुरुदेव में पूर्ण श्रद्धा का होना मनुष्य के पूर्व जन्मों से संबन्ध रखता है। यदि हम एलक्योनी के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त पढ़ें तो हमें विदित होगा कि उनके विषय में यह बात कितनी सत्य है। उनका अपने गुरुदेव के साथ अनेक जन्मों से निकट सम्पर्क रहा है। उदाहरणार्थ, श्री कृष्णमूर्ति के इन्हीं जन्मों के वृत्तान्त से मुझे मालूम हुआ कि मैं तथा और भी कई लोग अपने अपने गुरुदेव के निकट सम्पर्क में आते रहे हैं। मैं समझता हूँ कि इस बात की सत्यता का यह भी एक प्रमाण है कि जिस क्षण मैंने श्री. गुरुदेव के विषय में पढ़ा, उसी क्षण मेरे हृदय में उनके लिये प्रबल आकर्षण उत्पन्न हो गया। जब मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो कभी एक क्षण के लिये भी उन पर अविश्वास करने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसे स्थानों पर यह कहा जा सकता है कि या तो उच्च मनोलोक पर श्री गुरुदेव की उपस्थिति से अभिज्ञ होने के कारण अथवा पूर्व जन्मों में उनके परिचय की स्मृति के कारण जीवात्मा उनसे परिचित रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवात्मा किसी बात को जानता तो

है, किंतु अपने उस बोध को वह देहाभिमानी व्यक्तित्व तक प्रेषित नहीं कर सकता, और कभी कभी उसका वह प्रेषण अपूर्ण या अयथार्थ भी हो जाया करता है; अथवा फिर कहीं कहीं जीवात्मा स्वयं ही उससे सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। जीवात्मा से भूल होना कभी संभव नहीं, स्पष्टतः ही वह कभी किसी बात में धोखा नहीं खा सकता, किंतु यह सच है कि कुछ विषयों के संबन्ध में वह अज्ञान है, और वास्तव में इसी अज्ञान को दूर करना ही उसके जन्म लेने का उद्देश्य है ।

जिन लोगों के पास इन महर्षियों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं, वे इस निश्चित और युक्तिसंगत बात पर भली प्रकार विचार कर सकते हैं कि जहां मनुष्य विकास कर रहा है और उसकी श्रेणी से नीचे बहुत सी श्रेणियां विद्यमान हैं, तो उससे ऊपर भी विकासक्रम की अन्य श्रेणियां अवश्य होनी चाहिये। हम अपने आप को अपने युग के सर्वोन्नत मनुष्य नहीं कह सकते। जो लोग इन महर्षियों से मिले हैं, और जिन्होंने इनसे वार्तालाप भी किया है, उनके द्वारा इनके अस्तित्व का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। १

कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जिन्होंने श्री गुरुदेव के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं और तो भी पीछे जाकर उनका उनपर से विश्वास उठ गया है; यद्यपि यह बात अकल्पित सी प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, लंडन के मिस्टर ब्राउन नामक व्यक्ति कि घटना मुझे भली प्रकार याद है। उसने स्वयं ही एक

---

१. जीवन्मुक्त और मुक्तिमार्ग (The Masters and The Path) नामक पुस्तक में इस विषय का विस्तृत विवरण दिया गया है।

पुस्तिका में अपना जीवन-वृत्तान्त लिखा है, अतः उसका उदाहरण देने में यहाँ कोई हानि नहीं। बहुत वर्ष पहले जब वह भारतवर्ष में था, तब उसे थिऑसोफिकल सोसायटी के प्रवर्तक दो महात्माओं में से एक के दर्शन स्थूल शरीर में ही होने का असाधारण सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे महात्मा अपने तिब्बत के निवास स्थान से बहुत ही कम बाहर जाते हैं, किन्तु सोसायटी के प्रारंभिक वर्षों में जब मैं इसका सदस्य बना था, तब वे दोनों महात्मा भारतवर्ष में ही थे 'आध्यात्म-जगत' (Occult World) नामक पुस्तक में महात्मा कुथुमि के अमृतसर में पधारने का वृतान्त आया है, जहाँ कि सिक्खों का बड़ा भारी स्वर्ण-मंदिर है। उन्होंने कहा कि "मैंने इस गुरुद्वारे में सिक्खों को मदिरा पान करके भूमि पर पड़े देखा,...... मैं कल अपने आश्रम की ओर जाता हूँ।" मेरी समझ में अधिकाधिक यही आता है कि वे अपनी शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग उच्चलोकों में ही कर सकते हैं, और नीचे के लोकों का कार्य उन व्यक्तियों पर छोड़ सकते हैं जो संसार में क्रमशः उनके संसर्ग में आ रहे हैं। मिस्टर ब्राउन ने सबसे पहले तो महात्मा कुथुमि को सूक्ष्मलोक में देखा था, और उसके पश्चात् जब वह कर्नल आलकॉट का सेक्रेटरी बनकर उत्तर भारत में यात्रा कर रहा था, तब श्री गुरुदेव अपने स्थूल शरीर में ही कर्नल ऑलकार को देखने आये। मि० ब्राउन भी उसी तम्बू के दूसरे भाग में सो रहा था। श्री-गुरुदेव ने पहिले तो कुछ देर तक कर्नल ऑलकार से बात की, और तब तम्बू के दूसरे भाग में गये। कारण तो मैं नहीं समझा सकता, किंतु मि० ब्राउन ने श्री गुरुदेव के

सन्मुख होने के भय से पलंग की चादर से अपने सिर को लपेट लिया। स्वभावतः मनुष्य को अपने दोषों का भान तो अवश्य होगा, किंतु शुतरमुर्ग के समान अपने सिर को चादर से छिपाने में तो कुछ लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि सूक्ष्मदृष्टि के सामने तो वह चादर भी पारदर्शी ही थी। तो भी, श्री. गुरुदेव ने धीरे से उससे यही कहा कि "अपने सिर को चादर से बाहर निकाल लो, मैं चाहता हूँ कि तुम यह देखलो कि जिस व्यक्ति को तुमने अपने सूक्ष्म शरीर में देखा था, मैं वही हूँ या नहीं।" किंतु अन्त में श्री. गुरुदेव ने वह चेष्टा छोड़ दी, और उसके लिये एक रुक्का लिखकर छोड़ गये, और तब कहीं जाकर उसके होश ठिकाने आये। उसे वह सुअवसर प्राप्त हुआ था जिसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य बहुत कुछ दे सकता है। वह उसे प्राप्त करने के योग्य अवश्य था किंतु उसने उसका लाभ न उठाया; और पीछे जाकर तो वह श्री. गुरुदेव के अस्तित्व में ही अविश्वास करने लगा। ऐसे लोग और भी हैं जिन्होंने श्री. गुरुदेव के दर्शन का सौभाग्य पाया है, और तो भी धीरे धीरे उनका विश्वास क्षीण हो गया है।

अपने पूर्व जन्मों के अनुभव के कारण कुछ मनुष्यों की प्रकृति तो अति शंकाशील होती है, और कुछ की अति विश्वासशील। किंतु मनुष्य की उन्नति के लिये ये दोनों ही पराकाष्ठायें अच्छी नहीं, दोनों ही समान रूप से अवैज्ञानिक हैं। प्रत्येक मनुष्य के मन में हर विषय की एक

१—जीवन्मुक्त और मुक्ति मार्ग The Masters and The Path) नामक अंग्रेज़ी की पुस्तक में इस विषय का विस्तृत विवरण दिया गया है।

सामान्य धारणा बनी होती है, यदि उसे बताया गया कोई नवीन सत्य तुरन्त ही उस धारणा के अनुकूल बैठ जाये तो सम्भवतः बिना किसी प्रमाण की माँग किये ही वह उसे स्वीकार कर लेता है, और कहता है कि 'हाँ, यह तो बहुत सम्भव प्रतीत होता है; यह बात मेरे ठीक समझ में आती है, कदाचित् यह ऐसी ही है।" किंतु इसके विपरीत यदि किसी साधारण मनुष्य के सामने कोई ऐसी बात रक्खी जाये, जो उसकी पहिले की जानकारी से बिलकुल ही मेल न खाती हो, तो वह उसे सर्वथा अस्वीकार कर देता है। किंतु जब मनुष्य उसे तात्विक रूप से समझ कर उसका अनुभव कर लेता है, तब वह उस मनोवृत्ति को त्याग देता है जो किसी भी नवीन बात को स्वीकार नहीं करती। मनुष्य अपने निर्णय को स्थागित करना सीख जाता है; न तो वह किसी बात को स्वीकार ही करता है और न उसका निषेध ही करता है, किंतु केवल इतना ही कहता है कि "मेरे आजतक के अनुभव के अनुसार तो यह बात मुझे सम्भव नहीं प्रतीत होती, किंतु मैं इसका निषेध नहीं करता, इस विषय को मैं अभी ऐसे ही छोड़ दूँगा और इसके और भी अधिक स्पष्ट होने की प्रतीक्षा करूँगा।" यह कहना निःसार है कि "क्योंकि अमुक बात मेरे अनुभव में नहीं आई, अतः इसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता।' यह अज्ञानियों की मनोवृत्ति है।

सच बात तो यह है कि मनुष्य का ज्ञान जितना ही अल्प होता है, उतनी ही स्थूल लोक में उसे अपने पर अधिक प्रतीति होती है। वैज्ञानिकों में भी जो लोग अभी केवल विद्यार्थी मात्र ही होते हैं, वे ही अपने मत को निश्चित

सिद्धान्त मानकर प्रकट करते हैं; बड़े-बड़े वैज्ञानिक तो सदा यही कहेंगे कि "मैंने अमुक बातों का अनुभव किया है, किन्तु अवश्य ही मैं इसे एक निश्चित नियम कह कर निर्धारित नहीं कर सकता।" एक बार एक बड़े न्यायाधीश ने कहा था कि "एक छोटे वकील के समान मुझे इस बात का पूरा निश्चय है।" एक छोटे वकील को अपनी बात पर इतना निश्चय होता है, क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं कि एक घटना के अनेक पक्ष हो सकते हैं, और आप प्रत्येक बात में एक ही सिद्धान्त का आधार नहीं ले सकते। जो लोग वर्षों से अध्ययन कर रहे हैं, वे अपने विचारों को प्रकट करने की प्रणाली के विषय में अधिक सावधान रहते हैं। ऐसे अनेकों ही सत्य प्रति समय हमारे सम्मुख विद्यमान हैं जिन्हें हम अभी तक नहीं जानते। बहुत सी बातें जो आज हमारे जीवन में एक सामान्य बात बन गई हैं, उनको एक पीढ़ी पहिले तक के अधिकांश लोग सर्वथा असम्भव कह कर उपहास किया करते थे। इस बात को पहिले से ही जान लेना आवश्यक है कि जैसे-जैसे मनुष्य उन्नति करेगा, उसके सामने नये-नये आविष्कार आते रहेंगे।

हम लोगों के लिये, जो कि अध्यात्म-ज्ञान के विद्यार्थी हैं, प्रत्यक्ष ही यह अच्छा है कि हम अपनी पूर्व-धारणाओं में बद्ध होने की मनोवृत्तिको छोड़ने का प्रयत्न करें। यदि कोई क्रांतिकारी सत्य भी अपने पक्ष में संतोषप्रजनक युक्ति लेकर उपस्थित हो, तो हमें उसे भी सरलता से अंगीकार कर लेना चाहिये। ऐसा करने में असमर्थ होने पर हमें उस बात की तथा उसे मानने वालों की निन्दा किये बिना ही

यह कहकर अलग हो जाना चाहिये कि "हम अभी इसे नहीं समझ सकते।" सत्य सदा बहु-पक्षीय होता है, और इसके सभी पक्षों को एक साथ देखना किसी भी एक व्यक्ति या समाज के हाथ की बात नहीं है। फलतः जो बात आज हमें युक्तिहीन प्रतीत होती है, उसमें सदा कुछ न कुछ सार का होना सम्भव है।

एक बड़ी कठिनाई की बात तो यह है कि बहुत से लोग जो किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते वे ऐसा समझते हैं कि वे सभी कुछ जानते हैं। विशेषतया धार्मिक विषयों में जिनका ज्ञान बहुत ही अल्प होता है, उन्हें भी इस बात की हठपूर्ण रटना रहती है कि जिस भ्रम ने उनके मस्तिष्क को घेर रक्खा है, उस पर सभी को विश्वास होना चाहिये। कभी कभी वे कहते हैं कि उनका अन्त.करण ही उन्हें इस प्रकार प्रेरित करता है; यदि यह बात हो भी, तब भी हम सदा अन्तःकरण पर निर्भर नहीं रह सकते, जब कि जीवात्मा जिसकी कि यह वाणी है वही प्रत्येक बात को नहीं जानता। इतिहास साक्षी है कि लोगों ने इस अन्तःकरण के नाम पर ही दूसरों को जीते जला दिया था और उन पर अनेक अत्याचार किये थे। जो जीवात्मा ऐसे विचारों का समर्थन करता है, वह उन आवश्यक विषयों से अनभिज्ञ है। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो कि अमुक प्रेरणा उसके अन्तःकरण की ही है, तो उसे अवश्य ही उस पर ध्यान देना चाहिए, किन्तु बिशप साउथ (South) के उस प्रसिद्ध उत्तर को याद रखिये जो उन्होंने अपने विरोधी मत वाले व्यक्ति को दिया था कि "अपने अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार अवश्य

चलो, किन्तु ध्यान रक्खो कि कहीं तुम्हारा अन्तःकरण एक मूर्ख का अन्तःकरण न हो।

विश्वास का होना यद्यपि अच्छा है, किन्तु प्रेम के समान विश्वास भी इच्छा करते ही उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु जिस प्रकार सदा किसी व्यक्ति के सद्गुणों को ही देखते रहने से हमें उससे प्रेम करने का कारण मिल जाता है, उसी प्रकार विश्वास करने के कारणों पर विचार करने से कदाचित् वह भी प्राप्त हो सकता है। अवश्य ही मनुष्य को किसी विषय विशेष पर विश्वास करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये, किन्तु जो सत्य प्रतीत हो उसी पर विश्वास करना चाहिये; तथापि, यदि उस सत्य पर हमें पूर्व-प्रतीति न हो, तो हम उस विषय का विचारपूर्ण अध्ययन करके उसे अपना सकते हैं।

बड़े-बड़े अध्यात्म-गुरुओं की रीति यह नहीं होती कि वे प्रत्येक बात को हमारे लिये सरल बना दें। मैं सबसे पहिले श्रीमती ब्लावैडस्की के द्वारा ही गूढ़ज्ञान के सम्पर्क में आया था। वे समय समय पर अपने शिष्यों को ज्ञान की कई बातें बताती थीं, किंतु वे निरंतर उनकी कड़ी परीक्षा लिया करती थीं। उनके कार्य की यह विधि बहुत ही कठोर थी, किंतु इससे केवल सच्ची लगन वाले ही उनके साथ रहे और बाकी के सब शीघ्र ही उन्हें छोड़ कर चले गये। उन्होंने हमें रूढ़िवाद की बुराई से बचा लिया, किंतु उसी क्रम में अनुयायियों की सच्ची परीक्षा हो गई। बहुत से लोग कहते थे कि उन्होंने ऐसे कार्य किये जो एक अध्यात्मिक-गुरु को नहीं करने चाहिये। मेरी अपनी भावना सदा यही रहती थी कि "श्रीमती ब्लावैड-

स्की को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त है, और यदि वे मुझे इस ज्ञान को देंगी तो मैं उसे प्राप्त करूँगा, इसके अतिरिक्त वे क्या करती हैं और क्या नहीं, वह उनका अपना विषय है। मैं यहाँ उनकी आलोचना करने नहीं आया हूँ। उनके उत्थान और पतन का सम्बन्ध उनके गुरुदेव से है, मुझसे नहीं। जो कुछ वे करती हैं, उसका उनके पास कोई न कोई ऐसा कारण हो सकता है जिसे मैं तनिक भी नहीं जानता। उन्हें यह ज्ञान प्राप्त है, वे इन जीवन्मुक्त महात्माओं के संबंध में बातें करती हैं। मेरी इस ज्ञान को प्राप्त करने की अभिलाषा है; और यदि यह मनुष्य के लिये सम्भव हो, तो मैं इन महात्माओं के चरणों तक पहुँचने की आकांक्षा रखता हूँ।" श्रीमती ब्लावैडस्की का अनुसरण करने के लिये मैंने सर्वस्व त्याग दिया, और मुझे उनपर भरोसा रखने के लिये कभी पश्चाताप नहीं हुआ। यदि किसी मनुष्य का स्वभाव टीका-टिप्पणी करने का है, तो वह उसके कर्म का दोष है, और वह मनुष्य उस मनुष्य की अपेक्षा जो युक्तिसंगत बात को ग्रहण करने के लिये सदा उद्यत रहता है, बहुत धीरे धीरे उन्नति करेगा।

यह बात याद रखनी चाहिये कि हम आध्यात्मिकता के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा करते हैं, तो ठीक नहीं करते और इसका कोई भी उपयोगी परिणाम न होगा; यदि यह आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं. तो इसका कुछ भी मूल्य नहीं। हम इसे अपने जीवन में गौण स्थान नहीं दे सकते, जैसा कि बहुत से भले मनुष्य किया करते हैं। हमारे जीवन में ठीक इसी का मुख्य स्थान होना चाहिये, अन्य सब बातें इसके

अन्तर्गत होनी चाहिये। श्री गुरुदेव में श्रद्धा होने का अर्थ ही यह है कि हमें इसका पूर्ण विश्वास है कि श्री गुरुदेव हमारे कर्तृत्व कार्यों को भली प्रकार जानते हैं और उन्हें ही करने को हमसे कहते हैं। अस्तु, जब वे हमें किन्हीं विशेष बातों का आदेश देते हैं—जैसा कि इस पुस्तक में दिया गया है—तो हमें उनका पालन करने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। मैं जानता हूं कि यह बात कठिन प्रतीत होती है, और लोगों को इसका ठीक ठीक विश्वास दिलाना भी बहुत कठिन है। लोग कहते हैं "श्री गुरुदेव का तात्पर्य लगभग इस बात से है, वे कुछ कुछ इस प्रकार की बात चाहते हैं।" किन्तु श्री गुरुदेव तो जो कुछ कहते हैं, स्पष्ट अर्थों में ठीक वही चाहते हैं, और यदि उन पर भरोसा न रखने के कारण हम असफल होते हैं, तो यह हमारा अपना दोष है। आध्यात्म-मार्ग में हमें संसार के कपट से सत्य के प्रकाश में और अपने जगत् से उनके जगत् में प्रवेश करना है।

"पूर्ण श्रद्धा के हुये बिना प्रेम और शक्ति का पूर्ण प्रवाह नहीं हो सकता।"

लेडबीटर—यदि मनुष्य श्री गुरुदेव के अस्तित्व में, अथवा उन तक पहुंचने और उन्नति करने की अपनी शक्ति में संदेह करता हो, तो उसका वह संदेह समस्त अधोमुखी कम्पनों को गतिवान कर देता है, और ऐसे व्यक्ति के द्वारा श्री गुरुदेव की शक्ति प्रवाहित नहीं की जा सकती। अतः एक शिष्य के हृदय में श्री गुरुदेव के प्रति श्रद्धा और प्रेम

का होना आवश्यक है, और साथ ही उसमें मनुष्य मात्र के प्रति भी निष्काम प्रेम अवश्य होना चाहिये। श्री गुरुदेव का सदा एक ही विचार रहता है कि उन्हें जो भी कार्य करना है, उसे करने के लिये यथासम्भव कम आध्यात्मिक शक्ति व्यय की जाये, ताकि उस शक्ति को अन्य कामों में व्यय किया जा सके। यदि कोई मनुष्य पूर्ववागत स्थिति में हो तो वह एक अच्छा स्रोत नहीं है, अतः वह श्री गुरुदेव के उपयोग में नहीं आ सकता। यदि हम अपने विविध शरीरों में ऐसे कंपन उत्पन्न करलें, जो उनके प्रभाव को प्रेषित करने के स्थान पर उसका प्रतिकार करें और इस प्रकार हमारी सेवा की आवश्यकता के समय श्री गुरुदेव हमारा उपयोग करने में असमर्थ हों, तो यह वास्तव में ही एक दुख की बात होगी।

मुझे एक व्यक्ति की घटना याद है जिसे श्री गुरुदेव का शिष्य बनने की प्रबल आकांक्षा थी। उसने पहिले विविध प्रकार से श्री गुरुदेव की सेवायें की थीं, और श्री गुरुदेव के प्रत्यक्ष दर्शन की अभिलाषा ही उसकी सब से बड़ी अभिलाषा थी। मैं स्वयं उस समय उसी सज्जन के यहां रहता था, जब कि श्री गुरुदेव अपने स्थूल शरीर में उस नगर में पधारे; किंतु वे उसके घर नहीं आये। मैं दूसरे स्थान पर उनसे मिला, और बहुत देर तक बात चीत की, किंतु जो मनुष्य उनका शिष्य बनने की इतनी अभिलाषा रखता था, उससे मिलने वे नहीं आ सके, क्योंकि ठीक उसी समय उस व्यक्ति का वासना शरीर (Astral Body) बहुत ही प्रचण्ड कंपनों से युक्त था, और किसी विशेष प्रकार के निकृष्ट विचारों से छिन्न-भिन्न हो रहा था। इस

प्रकार उसने जीवन भर के लिये, और कदाचित् कई जन्मों के लिये, उस सुअवसर को खो दिया। यदि वह व्यक्ति यह जानता होता कि श्री गुरुदेव उसके इतने निकट हैं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि उसके वे विचार एक ही क्षण में नष्ट हो गये होते। तथापि, श्री गुरुदेव के लिये केवल उसे दर्शन देने के अभिप्राय से उसके विकारों को नष्ट करने में अपनी शक्ति का उपयोग करना उसका अपव्यय करना ही होता।

यह विचार नहीं करना चाहिये कि श्रद्धा के अभाव के कारण अथवा ऐसी ही किसी अन्य वृत्ति के कारण श्री गुरुदेव हमसे अप्रसन्न होते हैं, अथवा एक जिज्ञासु के किसी विकार को नष्ट करने में अपना समय व्यय न करना उनकी कठोरता का सूचक है। वे किसी बात के भावुकता-जन्य कारणों द्वारा प्रभावित नहीं किये जा सकते, वे तो केवल वही करेंगे जो उनके कार्य के लिये सबसे अधिक उपयोगी होगा। जब कोई आवश्यक कार्य करने को होता है तो आप उसके लिये सर्वोपयोगी मनुष्य को ही चुनते हैं, और यदि आप उस योग्य व्यक्ति को छोड़ किसी अल्प योग्यता वाले मनुष्य को इस लिये चुन लेते हैं कि वह आपका मित्र है, तो आप अपने कर्त्तव्य से विमुख होते हैं। दृष्टांत के लिये, महायुद्ध के समय आपको अपनी सेना का संचालन करने के लिये, मंत्रिमंडल की अध्यक्षता के लिये अथवा किसी विशेष विभाग का कार्य करने के लिये योग्यतम मनुष्य को ही चुनना चाहिये। इस समय यह नहीं देखा जाता कि अमुक व्यक्ति का भतीजा अमुक पद को पा सकता है या नहीं; आपको तो उसी व्यक्ति को

नियुक्त करना चाहिये जो उस कार्य की सब से अधिक योग्यता रखता हो, क्योंकि अन्य सब बातों की अपेक्षा कार्य का भलो प्रकार होना ही सबके लिये आवश्यक है।

अध्यात्मज्ञान का कार्य भी इसी प्रकार का है, इसे करना ही होगा, और इसका संचालन करने वाले सदा योग्यतम व्यक्ति को ही नियुक्त करेंगे। श्री गुरुदेव की वर्षों तक की हुई सेवा से भी किसी को यह स्वत्व प्राप्त नहीं होता कि किसी कार्य विशेष के लिये उसी की नियुक्ति हो और श्री गुरुदेव उसी की ओर ध्यान दें। जो मनुष्य उस कार्य को करने में दक्ष हो, उसी को नियुक्त करना उनका कर्त्तव्य है, चाहे वह मनुष्य कोई नवागत हो अथवा वर्षों से उनकी सेवा कर रहा हो।

जो मनुष्य कार्य को ही मुख्य स्थान देता है, वह दूसरे को अपने से भी अच्छा कार्य करते देख कर हर्षित हुये बिना रह ही नहीं सकता। बहुत समय पहिले रस्किन ने एक कार्य के लिये कहा था कि "यह कार्य मेरा हो या तुम्हारा, अथवा किसी और का हो तब भी ठीक है, यह सुन्दरता से संपादित हुआ है।" वह कार्य यदि आपने स्वयं किया हो तब भी आपको उसकी प्रशंसा करने में असमंजस नहीं करना चाहिये; आपको दूसरे के उत्तम कार्य को पहचानने में भी नहीं चूकना चाहिये, क्योंकि इस बात का विशेष महत्व नहीं होता कि वह किसके द्वारा किया गया। रस्किन की पुस्तकों में अति सुन्दर वाक्य मिलते हैं। जहां तक मैं जानता हूं उसे अध्यात्मविषयक कोई ज्ञान न था और न उस समय मैं ही इस विषय में

कुछ जानता था, तथापि उसकी बातों में अध्यात्मज्ञान के सच्चे चिन्ह पाये जाते हैं।

"तुम्हें अपने आप पर विश्वास होना चाहिये। क्या तुम यह कह सकते हो कि तुम अपने आपको पूरी तरह पहचानते हो? यदि तुम ऐसा समझते हो तो तुम अपने को कुछ भी नहीं पहचानते; तुम तो केवल उस दुर्बल बाह्य आवरण को ही जानते हो जो बहुधा ही माया में फंसता आया है। किंतु तुम-आत्मा-तो स्वयं ईश्वरीय तेज का ही एक अंश हो, और वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है; और इसलिये ऐसा कोई भी कार्य नहीं जिसे तुम न कर सको। ऐसा विचार करो कि, 'जो कार्य एक मनुष्य ने किया है, वह दूसरा भी कर सकता है। मैं मनुष्य हूँ, किंतु साथ ही ईश्वर भी मैं हूं; अतः मैं इस कार्य को कर सकता हूं, और मैं इसे अवश्य करूंगा।' क्योंकि यदि तुम्हे इस पथ पर आरूढ़ होना है, तो तुम्हारा संकल्प पक्के फ़ौलाद के समान दृढ़ होना चाहिये।"

ऐनीबेसेंट—लोगों के सम्मुख जब इन बहुत सी शिक्षाओं को, जिन पर कि हम विचार करते हैं, रखा जाता है और जब उन्हें मूर्खतापूर्ण और अनुचित कार्यों को न करने की सम्मति दी जाती है तो वे कभी कभी कहा करते हैं कि "यह तो मेरे बस की बात नहीं, यह तो मेरी प्रकृति ही है।" बहुत लोग इसी भाँति छुटकारा पाने की चेष्टा करते हैं। किंतु यदि आप ऐसा कहते हैं तो आपकी लगन सच्ची नहीं है, जिसका होना आवश्यक है; आप इन गूढ़ विषयों के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकते। जिस किसी भी कार्य को करने के लिये आप उद्यत हो जाते हैं, उसे तत्काल न सही, किंतु कर अवश्य सकते हैं।

अवश्य ही, यदि आप ऐसा कहते हैं कि यह मेरे वस की बात नहीं, "तो आप उसे नहीं कर सकते, क्योंकि इस निराशाजनक विचार द्वारा आप अपने को शिथिल कर लेते हैं। यह एक गहन दोष है, यह आपको सब प्रकार की उन्नति में बाधक है, और इससे आप महीनों एवं वर्षों तक जहां के तहां ही रह जाते हैं। यह तो वैसा ही है जैसे कि कोई मनुष्य अपने पावों को रस्सी से बांधकर कहे कि 'मैं चल नहीं सकता।' निश्चय ही वह नहीं चल सकता, क्योंकि उसने अपने आपको बांध रखा है। यदि उसे वहीं का वहीं बैठे नहीं रहना है, तो उसे अपने आपको बंधनमुक्त करना ही होगा, और तब वह सुगमता से चल सकेगा। आप प्रत्येक कार्य को कर सकते हैं। केवल उन मिथ्या विचारों से मुक्त हो जाइये जो आपको अक्षम बनाते हैं। निश्चय कर लीजिये कि आप उसे कर सकते हैं और अवश्य करेंगे, और तब आपको अपनी उन्नति की शीघ्रता पर आश्चर्य होगा। यदि आप ऐसा नहीं करते, तो सच्ची लगन नहीं है, अथवा आप उस पद्धति से कार्य नहीं करते जिसे श्री गुरुदेव चाहते हैं; आप केवल उस लगन का ढोंग करते हैं। मैं यह नहीं कहता कि आप प्रयत्न नहीं करते, किंतु आप ऐसी रीति से प्रयत्न करते हैं जिससे अधिक लाभ नहीं होता।

यदि इस बात को सांसारिक कार्यों पर—उस व्यवसाय पर जिसके द्वारा आप अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते हैं, लागू किया जाय, तो देखिये कि इसका क्या अर्थ होता है। आप अच्छी तरह जानते हैं कि यदि उस कार्य में आपके सम्मुख कोई बाधा आई तो आप उसे दूर करने का तुरन्त ही निश्चय कर लेंगे और उसके लिये भरसक प्रयत्न

करेंगे। वहां आप निश्चल बैठकर ऐसा नहीं कहेंगे कि "मैं विवश हूं।" ठीक उसी प्रकार के निश्चय का यहां भी प्रयोग कीजिये। सभी निःसार बातों के लिये आपका निश्चय सदा दृढ़ रहता है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि उस सार वस्तु के लिये ही सच्चे उत्साह का अभाव है।

यदि आप स्वयं ही अपनी सहायता करने का प्रयत्न नहीं करते, तो श्री गुरुदेव से सहायता की प्रार्थना करना व्यर्थ है। यह तो वैसा ही है जैसे कि अपने गिलास को सावधानीपूर्वक हाथ से ढककर जल के लिये प्रार्थना करना; तब यदि आपको जल दिया जायेगा, तो वह जल आपके हाथ पर से बहकर गिलास के चारों ओर बह जायेगा और आपको उसका कोई लाभ न होगा। जब तक मनुष्य किसी कार्य को करने का भरसक प्रयत्न करता है, तब तक वह उसे अध्यात्मज्ञान की ही पद्धति के अनुसार कर रहा है। उसके प्रयत्न का परिणाम बाह्य जगत् में तुरन्त ही दिखाई नहीं देगा, किंतु उसमें प्रति समय शक्ति संचित हो रही है, जो अन्त में सफलता में परिणत हो जायेगी।

जो कार्य आपको करने हैं, वे पहिले भी किये जा चुके हैं और अब भी किये जा सकते हैं, किंतु जब तक आप यह सोचते हैं कि आप उन्हें नहीं कर सकते तब तक आप कभी नहीं कर सकेंगे। किंतु यदि आप ऐसा विचार करें कि "यह कार्य तो करने ही हैं और मैं उन्हें अवश्य करूंगा," तो आप उन्हें अवश्य कर सकेंगे। ऐसा विचार कर लेने पर आपका वह विचार ही आपके लिये एक मार्ग-दर्शक देवता का कार्य करेगा और सदा आपके निकट रहता हुआ

आपको उस कार्य को करने की क्षमता देता रहेगा। अन्यथा, ईसाइयों के शब्दों में, आपके पास सदा एक शैतान का ही निवास होगा जिसका निर्माण आपने अपने ही विचारों द्वारा किया है। आपको ऐसे शैतानों की सृष्टि नहीं करनी चाहिये; इसके स्थान पर एक देवता की—एक श्रेष्ठ विचार—रूप की, कि इसे मैं कर सकता हूँ और अवश्य करूंगा—उत्पत्ति कीजिये।

लेडबीटर—यह सर्वथा सत्य है कि ऐसा कोई कार्य नहीं जिसे मनुष्य न कर सकता हो, किंतु ऐसा नहीं कहा गया है कि वह इसे तत्क्षण कर सकता है। यहीं पर लोग कभी कभी भूल करते हैं। मैं इस बात को भली भांति जानता हूं, क्योंकि मुझे किसी न किसी गंभीर कठिनाई में पड़े हुये लोगों के बीसियों पत्र मिलते रहते हैं, जिन्हें किसी मादक द्रव्य या मादक पदार्थ की टेव पड़ी होती है अथवा जो किसी प्रेतबाधा के प्रभाव में आये होते हैं; वे लोग बहुधा यही कहते हैं कि 'हमारी समस्त इच्छाशक्ति नष्ट होगई, कुछ भी शेष नहीं रही; हम अपनी कठिनाई पर विजय नहीं पा सकते, अब हम क्या करें ?" जिनको ऐसी किसी घटना को देखने का योग न मिला हो वे सोच ही नहीं सकते कि मनुष्य पर इन बातों का प्रभाव कितना भयानक होता है, कैसे उसकी इच्छाशक्ति जड़ से नष्ट हो जाती है, और कैसे वह अपने को सभी कार्यों के लिये असमर्थ समझने लगता है।

ऐसे ही लोग कभी कभी आत्महत्या का विचार किया करते हैं। यह विचार बहुत घातक है। यदि मनुष्य

जीवन भर के लिये भी अपंग हो जावे तो उस दिशा में भी उसे कमर कस कर जीवन से संघर्ष करते रहना चाहिये और प्रत्येक अवसर का लाभ उठाना चाहिये। आत्महत्या करके तो मनुष्य उसी स्थिति में लौट आता है जिससे कि उसने बचना चाहा था, और साथ ही एक बुरे कर्म का भी निर्माण कर लेता है। जो व्यक्ति कष्ट में है उसे यह समझ लेना चाहिये कि उसमें भी इच्छाशक्ति वर्तमान है, चाहे वह कितनी ही अप्रकट क्यों न हो। यदि उसे स्वयं उस इच्छाशक्ति का निर्माण करना होता, तब तो वह निराश ही होता, किंतु उसे यह याद रखना चाहिये कि वह इच्छा-शक्ति उसमें पहिले से ही वर्तमान है; यह ईश्वर की ही इच्छाशक्ति है जो मनुष्य में व्यक्त होती है। इसे अभी और भी व्यक्त और उन्नत करना है, किंतु यह कार्य शनैः शनैः ही किया जा सकता है। ऐसे स्थानों पर कभी-कभी किसी सम्बन्धी अथवा मित्र का धैर्य, प्रेम और अनुराग ईश्वर की देन ही प्रमाणित हुआ करता है।

उस मनुष्य के इस स्थिति को प्राप्त होने का क्या कारण है? संभवतः इस समूचे जीवन में अथवा कदाचित् एक या दो गत जन्मों में भी वह निश्चयपूर्वक काममूलभूत (Desire elementil) अर्थात् निकृष्ट प्रकृति के प्रलोभनों के आधीन होता रहा है और उसे अपने पर शासन करने दिया है। प्रारम्भ में तो वह इसके विरुद्ध संघर्ष कर सकता था, किंतु अब तक इस पर नियंत्रण नहीं करने के कारण उसने बुराई की इतनी अधिक शक्ति एकत्रित कर ली है कि अब उसे तुरन्त ही नहीं रोका जा सकता; किंतु वह मनुष्य इसे रोकने का प्रयत्न करना अवश्य चालू कर सकता है।

दृष्टान्त के लिये हम उस मनुष्य को ले सकते हैं जो रेलवे-स्टेशन पर किसी ठेले या गाड़ी को ढकेल रहा हो। किसी गाँव के स्टेशन पर, जहाँ कि समय की कमी नहीं होती, आप कभी-कभी एक कुली को खाली डब्बे को रेल के एक चीले से दूसरे चीले तक ले जाते देखेंगे। देखिये कि वह किस प्रकार अपना काम करता है। उसके सामने एक बहुत बड़ा और इतना भारी डब्बा है; वह धीरे धीरे उसे धक्का लगाना आरम्भ करता है, पहिले तो उस डब्बे के चलने के कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ते, किंतु थोड़ी ही देर में वह धीरे-धीरे हिलना आरम्भ करता है; वह कुली उसे धक्का लगाता रहता है, और धीरे-धीरे डब्बा गति पकड़ लेता है। उसके पश्चात् वह उसे ठहराने का काम करता है; किंतु अब वह उसे तुरंत ही नहीं ठहरा सकता; यदि वह उसके सामने खड़ा हो जाये और हटे नहीं, तो डब्बा उसके ऊपर से निकल जायेगा और उसे कुचल डालेगा। अतः अब वह उसके सामने जाकर धीरे-धीरे रोकने का प्रयत्न करता है, सरकता भी जाता है और उसे रोकता भी रहता है, जब तक कि क्रमशः वह उसे पूरी तरह खड़ा नहीं कर देता। उसने उसमें एक विशेष परिमाण में गति उत्पन्न कर दी थी, अब वह उसे तो नहीं लौटा सकता, किंतु उसके विरुद्ध उतनी ही शक्ति लगाकर उसका अवरोध कर सकता।

जिस मनुष्य ने अपने को काममूलभूत (Desire elemental) के आधीन कर दिया है, उसकी भी यही स्थिति है। उसने उसमें प्रबल शक्ति उत्पन्न कर दी है, और अब उसे उसका सामना करना ही चाहिए। मनुष्य कह सकता है कि "यह शक्ति तो बहुत प्रबल है।" ठीक है, किंतु

फिर भी वह शक्ति सीमित ही है। यदि वह इस विषय को भावुकता से नहीं, वरन् गणित के प्रश्न के समान तत्व की दृष्टि से देखे, तो यह नहीं कहेगा "मैं तो एक तुच्छ जीव हूँ, और यह शक्ति मेरे लिये बहुत ही प्रबल है," वरन् उसका सामना करेगा। वह इस बात पर पूरा विश्वास कर सकता है कि उसने उसमें एक सीमित परिमाण में ही शक्ति उत्पन्न की है, किंतु उनका सामना करने के लिये तो उसके भीतर असीम शक्ति है। क्योंकि हम उस दैवी तेज का ही एक अंश हैं और ईश्वर की समस्त शक्ति हमारी सहायता पर है; वह शक्ति यद्यपि समय-समय पर अल्प मात्रा में ही प्रकट होती है, किंतु यह निरन्तर प्रकट हो रही है।

इन सब बातों को जीवात्मा के दृष्टिकोण से ही देखना चाहिये; वह इन कार्यों को कर सकता है और अवश्य करेगा। आध्यात्मिक उन्नति के लिये जो कुछ मनुष्य कर सकता है, उसे तत्काल ही नहीं कर सकता। जैसे कि संगीत का केवल मनुष्य की आत्मा में ही होना पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके कानों और हाथों का भी शिक्षण होना आवश्यक है, ताकि वह संगीत को शक्ति का उपयुक्त स्रोत बन सके। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा को भी पहिले अपने शरीरों का धैर्यपूर्वक शिक्षण करना पड़ता है।

लोग कभी-कभी कहा करते हैं कि "यदि मैं अपनी इस बुरी टेव को इस जन्म में नहीं जीत सका, तो दूसरा शरीर प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करने दीजिये।" ऐसा व्यक्ति यह भूल जाता है कि यदि वह इस जन्म में अपने स्वभाव को बदलने की कोई चेष्टा नहीं करता, तो आगामी जीवन में भी उसे ठीक वैसे ही गुण-स्वभाव वाला शरीर प्राप्त होगा।

और उसे ऐसा ही आशाहीन स्थिति में रहना होगा। किंतु यदि इस जीवन में वह निश्चयपूर्वक उन्हें जीतने का प्रयत्न करता रहेगा, तो चाहे इस जीवन के अन्त तक भी वह जीती न जा सके, किंतु आगामी जीवन में उसे अधिक अनुकूल शरीर प्राप्त होगा। उच्चभूमिकाओं पर भी यही बात लागू होती है। एक मनुष्य अपने दुर्व्यसनों द्वारा अपने मन-शरीर (Mental Body) को इतनी हानि पहुँचा लेता है कि इस जीवन में वह कभी भी अपनी पूर्वस्थिति में नहीं आ सकता। तो भी, यदि वह अपने दोषों पर विजय पाने का प्रयत्न करता रहे, तो आगामी जीवन में उसे ऐसा शरीर प्राप्त नहीं होगा जो उसके दोषों की पुनरुत्पत्ति करे, वरन् अनुकूल शरीर प्राप्त होगा। इस बात में तथा अन्य बातों में भी केवल प्रारंभ में ही कठिन प्रयत्न करना पड़ता है, पीछे जाकर तो स्वयं ही विश्वास उत्पन्न हो जाता है जो कि शनैः शनैः दृढ़ होता रहता है।

जिस प्रकार बहुत से लोग श्री गुरुदेव के साथ अपने संबंध में अपनी भावुकताओं को स्थान देना चाहते हैं, उसी प्रकार कुछ लोग प्रकृति के नियमों से भी छुटकारा पाने की इच्छा करते हैं; वे चाहते हैं कि अपने समस्त पाप-तापों से तुरंत मुक्ति पा जायँ। एक भावुक प्रकृति का ईसाई कहेगा कि "क्राइस्ट के रक्त द्वारा तुम्हारी यहां इसी स्थान पर रक्षा हो जायेगी, तुम्हारे सब कष्ट इस प्रकार दूर हो जायेंगे मानों वे कभी थे ही नहीं।" यह बात आकर्षक तो अवश्य है, किंतु सत्य नहीं; सत्य तो यह है कि जब आप यथार्थता की ओर मुड़कर दैवी इच्छा के अनुकूल आचरण करने लगते हैं, तो अपने अन्तर में तो आप समस्त दुख-

पंचम खण्ड

प्रेम

चौबीसवाँ परिच्छेद

मुक्ति, निर्वाण और मोक्ष

"सभी गुणों में प्रेम का महत्व सबसे अधिक है, क्योंकि, यदि मनुष्य के हृदय में प्रेम काफी प्रबल है, तो वह बाध्य होकर अन्य सभी गुणों को प्राप्त कर लेता है और इसके बिना अन्य सभी गुण कभी भी पर्याप्त नहीं होते। बहुधा इस का अनुवाद "मुमुक्षुत्व अर्थात् आवागमन के चक्र से, मुक्ति पाने की एवं परमात्मा में लीन होने की तीव्र लालसा" किया जाता है। किंतु इसका इस प्रकार से निरूपण किया जाना कुछ स्वार्थपन सा झलकता है, और इसका अर्थ भी अधूरा ही मालूम होता है।"

लेडवीटर—हम पहिले कह चुके हैं कि इस पुस्तक में इन गुणों के लिए जो शब्द प्रयोग किये गये हैं वे इन गुणों के लिये जो शब्द साधारणतया प्रचलित हैं, उनसे बहुत भिन्न हैं। अन्य सब भिन्नताओं में से यहां 'मुमुक्षुत्व' को 'प्रेम' कह कर निरूपण करना अधिक साहसपूर्ण है। 'मुमुक्षुत्व' शब्द 'मुच्' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मुक्त करना' या 'छोड़ देना' है। इसके इच्छावाचक रूप, जैसे 'मुमुक्ष' अर्थात् मोक्ष की इच्छा करना, बनाने में मूलधातु की द्विरूक्ति की जाती है, अथवा अन्य परिवर्तन भी किये जाते हैं। 'मुमुक्ष' भाववाचक संज्ञा है, जिसका अर्थ है 'मोक्ष की इच्छा,' और 'मुमुक्षुत्व' का अर्थ है "मोक्ष

की तीव्र लालसा की स्थिति में होना।" संस्कृत के प्रत्यय का अर्थ अंग्रेजी के 'नेस' ('ness') प्रत्यय जैसे होता है, जैसे 'ईगरनेस' (eagerness) में 'नेस' इत्या भाववाचक संज्ञायें बनाने में लगाया जाता है। 'मोक्ष' अथ मुक्ति—स्वतंत्रता—शब्द की उत्पत्ति भी इसी धातु से हुई है

यह प्रश्न बहुधा ही पूछा जाता है कि मोक्ष और निर्वाण एक ही वस्तु हैं या नहीं। हम इन्हें एक ही अवस्था के दो विशेषण मान सकते हैं, अथवा यों कहिये कि यह वह अवस्था है जो हमारी कल्पना से परे है। 'निर्वाण' शब्द की उत्पत्ति 'वा' धातु के साथ 'निस्' उपसर्ग के मिलने से हुई है, जिसका अर्थ है "निःशेष करना," अतः इसका अनुवाद 'निःशेष कर देना' (The Blowing out) अर्थात् "बुझा देना' करके किया गया है। मोक्ष आवागमन के चक्र से मुक्ति पाने को कहते हैं, और निर्वाण मनुष्य में से उस अंश अर्थात् कर्म को शेष या समाप्त कर देने को कहते हैं, जो उसे आवागमन के चक्र से बांधता है, क्योंकि किसी वस्तु से संबंध स्थापित करने पर ही हम मनुष्यों को मनुष्य करके पहचानते हैं। कुछ हिन्दू लोग मोक्ष को एक शून्य सी अवस्था समझते हैं और वे लोग समस्त व्यक्तिगत इच्छाओं को तथा मानवीय अभिरूचियों को नष्ट करने का यत्न करते हैं, ताकि किसी भी वस्तु अथवा किसी भी व्यक्ति का आकर्षण उन्हें पुनर्जन्म लेने को बाध्य न करे; और इस प्रकार वे दीर्घ काल के लिये आवागमन के चक्र से मुक्ति पा जाते हैं। किंतु अधिकांश हिन्दुओं की मोक्षसंबंधी साधारण आनंद की उस अनिर्वचनीय स्थिति से होती है जो द्वैत के भ्रम से परे

है और जिसे कैवल्य अर्थात् स्वाधीनता-पूर्ण अद्वैत भाव— कहते हैं। बौद्धों में भी कुछ लोग तो निर्वाण का अर्थ मनुष्य के पूर्ण अवसान होने (Complete blotting out of man) से लेते हैं, किंतु अन्य उसे उस ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति समझते हैं, जिसके प्राप्त होने से मनुष्य को 'अहंभाव' और अपने अनुभव की समस्त पूर्व धारणायें मिथ्या प्रतीत होने लगती हैं, क्योंकि यह अवस्था वर्णनातीत है। अस्तु, हम देखते हैं कि एक ही धर्म के भिन्न २ लोग भी इस विषय में भिन्न-भिन्न मत रखते हैं।

कभी-कभी हम थिऑसोफ़िस्ट लोग आत्मिक अथवा आध्यात्मिक लोक में चेतना की जो स्थिति होती है, उसे निर्वाण कहते हैं, किंतु हम निर्वाण को उन मनुष्योत्तर व्यक्तियों (Super men) अथवा जीवन्मुक्त महात्माओं की स्थिति का सूचक भी मानते हैं, जिन्होंने पांचवीं दीक्षा ले ली है, और जो अपने सामने खुले हुये सात मार्गों में से एक को चुन लिया करते हैं, उनकी स्थिति बौद्धों के वास्तविक निर्वाण की अवस्था से—उनके दक्षिणी मठ में प्रचलित "निःशेष हो जाने" की अवस्था से नहीं, वरन् उनके उत्तरीय मठ में प्रचलित विश्राम और आनन्द की अवर्णनीय अवस्था से समानता रखती है।

जो मनुष्य चौथी दीक्षा को लेकर अर्हत् पद को प्राप्त कर लेते हैं वही अपनी चेतना को निर्वाण लोक (Nirvanic Plane) तक पहुँचा सकते हैं और वहाँ वह उस मूल चेतना के प्रवाह का अनुभव करते हैं जिसका वर्णन करने का प्रयत्न मैंने "आन्तर जीवन" (The Inner Life) और "जीवन्मुक्त और मुक्ति मार्ग" (The Masters & the Path)

नामक पुस्तकों में किया है। इस स्थूल लोक में हम जिस चेतना से परिचित हैं, उसकी अपेक्षा उस लोक की चेतना इतनी अधिक विस्तृत होती है कि मनुष्य उसे अपनी चेतना कहने में भी सकुचाता है। वहां वह एक अति विशाल चेतना के साथ एकरूप हो जाता है और उसका समस्त द्वैतभाव लुप्त हो जाता है। इस भाव को शब्दों द्वारा व्यक्त करने का सारा प्रयत्न असफल हो जाता है, क्योंकि यह भाव अनिर्वचनीय है।

संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद करने में यथार्थ भाव को व्यक्त करना बहुत ही कठिन है, किन्तु जिस मनुष्य ने निर्वाणिक चेतना को स्पर्श किया है, उसे भली प्रकार ज्ञात हो सकता है कि इन प्राचीन ग्रन्थकारों का, जिन्होंने स्वयं इसका अनुभव किया था, निर्वाण से क्या तात्पर्य था। केवल एक कोषकार से इस प्रकार के शब्द का यथार्थ अर्थ व्यक्त करने की आशा नहीं की जा सकती। मान लीजिये कि एक मनुष्य ने जिसे कि ईसाई धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं है 'ग्रेस' (Grace) अर्थात् 'अनुकम्पा' शब्द का तात्पर्य समझने की चेष्टा की। अब यदि वह इस शब्द को "कोष" में देखे तो वह 'ललित' (Graceful) और 'कृपालु' (Gracious) आदि शब्दों में अटक जायेगा और वहाँ उसे इसका दूसरा ही अर्थ मिलेगा। इसी प्रकार ईसाईयों की धार्मिक परिभाषा में 'डिस्पेन्सेशन' (Dispensation) अर्थात् 'आशीर्वाद' शब्द का अर्थ साधारण भाषा में लिये जाने वाले 'वितरण करने' के अर्थ से बिल्कुल निराला है। प्रत्येक धर्म की बहुत सी परिभाषायें होती हैं, जो कालक्रम से एक विशेष अर्थ के लिये प्रयुक्त हुआ करती हैं, और जब तक मनुष्य का पालन-

पोषण उसी धर्म के अन्तर्गत होकर उसकी उसके भीतर तक पहुँच न हुई हो, तब तक उस विचार का यथार्थ आशय समझना सरल बात नहीं है। थिऑसोफिकल सोसायटी के प्रारम्भिक काल में हममें से किसी को भी संस्कृत भाषा का ज्ञान न था। श्रीमती ब्लावैड्स्की को भारतवर्ष के कुछ धर्मों का ज्ञान अवश्य था, किंतु वे पाली और संस्कृत भाषाओं को न जानती थीं। उनकी प्रणाली यह थी कि वे अपने निज के अनुभव को यथाशक्ति व्यक्त करके वहाँ उपस्थित किसी भारतीय मित्र से कहतीं कि "इस बात को आप अपनी भाषा में किस प्रकार व्यक्त करेंगे? बहुधा वह उनके तात्पर्य को पूर्णतया नहीं समझता था, तो भी वह उन्हें उसकी निकटतम परिभाषा बता देता था। फिर कभी जब उन्हें कोई शब्द पूछना होता, तो वे किसी दूसरे मनुष्य से पूछतीं, किंतु उन्होंने कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि वह पहला व्यक्ति कदाचित् एक हिन्दू हो और दूसरा बौद्ध—अथवा कदाचित् वे हिन्दू ही भिन्न-भिन्न मतों के अनुयायी हों।

इसके साथ ही यह बात भी थी कि श्रीमती ब्लावेड्स्की की प्रणाली एक विज्ञान के शिक्षक की भाँति नहीं थी, जो किसी सिद्धांत की व्याख्या करने के लिये उसके अनुकूल प्रयोगों के दृष्टांत दे रहा हो और साथ ही प्रमाण भी उपस्थित करता जाता हो। उनकी कार्य-विधि ऐसी न थी जिससे कि वे प्रत्येक नई बात का अपने प्रस्तावित सिद्धांत की जो एक खाका बना ली हो, उससे मेल बैठा सकें। उनके कितनेही वक्तव्य ऐसे होते थे जो परस्पर विपरीत प्रतीत होते थे, यदि उन्हें उनका स्पष्टीकरण करने के लिये कहा जाता तो वे कहतीं कि "शब्दों की परस्पर विपरीतता पर ध्यान

मत दो, उन वक्तव्यों पर विचार करो।" उनके विचार आश्चर्यजनक रूप से स्पष्ट होते थे, और उनका ज्ञान निश्चयात्मक होता था।

उनकी विधि हमारी उस सामान्य विधि से सर्वथा विपरीत थी जिसमें पहिले शब्दों की व्याख्या करके उसके साथ एक विशेष अर्थ को जोड़ दिया जाता है। इसके फलस्वरूप बहुधा यह आशंका रहती है कि विज्ञान और दर्शन शास्त्र शतरंज के से खेल बन जाते हैं जिसमें कि प्रत्येक मोहरे की चाल नियत की हुई होती है। श्रीमती ब्लावैड्स्की के लिये शब्द अर्थात् स्थूल लोक के वे विचार-रूप मानो एक सजीव वस्तु थे, जिन्हें वे श्रोताओं के मनमें उस ज्ञान को, जो उन्हें स्वयं प्राप्त था, जागृत करने का साधन बनाया करती थीं।

यदि हम जीवात्मा और देहाभिमानी व्यक्तित्व के बीच के जटिल संबंध को समझना चाहते हैं, तो हमें सर्व प्रथम इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि यह दोनों क्या वस्तु हैं। ब्रह्मविद्या साहित्य में, थिऑसोफिकल सोसायटी के प्रारंभिक ग्रंथ और नवीन प्रकाशन दोनों में ही, इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। 'जीवन्मुक्त और मुक्तिमार्ग' (Masters And The Path) नामक पुस्तक में मैंने इस विषय का कुछ निरूपण किया है। संक्षेप अथवा कुछ अपूर्ण रूप से ऐसा समझ लीजिये कि मनुष्य का अस्तित्व तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें सेंट पाल ने चिरकाल पहिले 'बॉडी, सोल और स्प्रीट' (Body, Soul and Spirit) अर्थात् देह, जीवात्मा, और आत्मा कहा है। ब्रह्मविद्या अर्थात्

थिऑसोफी की परिभाषा में इनके समानार्थक शब्द देहाभिमानी व्यक्तित्व (Personality), जीवात्मा (Ego), और आत्मा (Monad) हैं। आत्मा अर्थात् मोनाड वस्तुतः दैवी है अर्थात् उस शाश्वत तेज की ही एक ज्योति और स्वयं ईश्वर का अंश है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह बात सचमुच ही सत्य है कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर का ही अंश है और उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है; यह बात जड़ के लिये भी उतनी ही सत्य है जितनी कि चेतन के लिये। तथापि, यह विचार कि मोनाड—आत्मा—ईश्वर का ही अंश है, जो व्यक्त होने के लिये नीचे उतरता है, एक विशेष भाव का सूचक है। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि उस अखंड ईश्वर के अंश होने की बात कहना अदार्शनिक, अवैज्ञानिक तथा अयुक्त है, किंतु उच्च लोकों की स्थिति शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती; अस्तु, हम चाहे जिस प्रकार भी कहें, वह वर्णन सर्वथा अपूर्ण ही रहेगा और इसी कारण भ्रमोत्पादक भी होगा। इस विषय का विवेचन करने वाले कुछ ग्रन्थकारों ने आत्मा (Monad) को परमात्मा (Logos) का, जीवात्मा (ego) को आत्मा (Monad) का, और देहाभिमानी व्यक्तित्व (Personality) को जीवात्मा (ego) का प्रतिबिंब (Reflection) बताया है। एक प्रकार से तो इस वर्णन में भी कुछ सार है, तथापि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्णन द्वारा उनके वास्तविक सम्बन्ध का उतना स्पष्टीकरण नहीं होता जितना कि इस वर्णन द्वारा होता है कि आत्मा परमात्मा का, जीवात्मा आत्मा का, और देहाभिमानी व्यक्तित्व जीवात्मा का अंश है।

अपनी अनन्त लीला के क्रम में हमारी सृष्टि के ईश्वर (Logos of our System) की यह इच्छा हुई कि अपने ही अंश को इन मोनाडों (आत्माओं) के विशाल समुदाय के रूप में प्रक्षिप्त करे। यदि हम सम्मानपूर्वक इस उपमा का प्रयोग कर सकते हैं, तो हम ऐसा कह सकते हैं कि यह मोनाड (आत्मायें) चिन्गारियों के रूप में ईश्वर से उत्पन्न हुये, ताकि इन विविध आधिभौतिक लोकों का अनुभव प्राप्त करके और सूर्य के समान महान् और तेजस्वी बन के पुनः ईश्वर के पास लौट जायें, और उनमें से प्रत्येक इस योग्य हो जाये कि एक विशाल सृष्टि को जीवन और प्रकाश प्रदान कर सके, जिसके द्वारा और जिसके आश्रय से लाखों ही दूसरी आत्मायें भी उन्नति करके विकास पा सकें।

जिस विशाल ऊँचाई से इस दैवी अंश का, जिसे हम 'मोनाड' (Monad-आत्मा) कहते हैं, उद्गम हुआ है, उसे मनुष्य से परिचित किसी भी लोक की परिभाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। किंतु जिस नीची से नीची भूमिका तक मोनाड की गति की सीमा है, उसे हम इसी के नाम से "मोनाडिक लोक" (Monadic Plane) कहते हैं। यह स्मरण होगा कि हमारी प्रेज़िडेंट डाक्टर बेसेंट की दी हुई नामावली में सात लोकों में से, जिनके विषय की शिक्षा हमें दी गई है, उच्चतम लोक को दिव्य लोक (Divine Plane) कहा है, इससे नीचे के दूसरे लोक को मोनाडिक (Monadic), तीसरे को आध्यात्मिक (Spiritual) और चौथे को बुद्धि लोक (Intuitional) कहा है। ईश्वर के उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'मोनाड' को इससे भी अधिक

स्थूल लोक की प्रकृति (Matter) में प्रवेश करना आवश्यक है। किंतु यह "मोनाड" अपने पूर्ण रूप द्वारा इससे नीचे के लोकों में उतरने में असमर्थ प्रतीत होता है। अतः यह अपना एक अंश नीचे उतारता है जो उच्च मनोलोक (Upper Part of the Mental Plane) तक उतरने में समर्थ है। इस प्रकार नीचे उतारा हुआ "मोनाड" का यह अंश आध्यात्मिक या निर्वाणिक लोक में त्रिमूर्त आत्मा के रूप में व्यक्त होता है। उस त्रिमूर्त आत्मा का प्रथम स्वरूप तो उसी लोक पर रह जाता है, और दूसरा स्वरूप बुद्धिक लोक पर उतर कर इस लोक के पदार्थ का आवरण धारण कर लेता है। तीसरा स्वरूप और भी एक लोक नीचे उतर कर उच्च मनोलोक में निवास करता है, जहां कि हम उसे उच्च मनस् के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार यह जीवात्मा जो मोनाड के नीचे के लोक में उतारे हुये अंश को कहते हैं, आत्मा, बुद्धि और मन के संयोग से बनता है, जिसकी हम अंग्रेजी में आध्यात्मिक-संकल्प (Spiritual Will), अंतःप्रेरित ज्ञान (Intuitional Wisdom), और कर्मशील बुद्धि (Active Intelligence) कह कर कुछ अपूर्ण सी व्याख्या किया करते हैं।

अब यह जीवात्मा (Ego) भी इसी प्रकार अपना एक अल्पांश नीचे उतारता है जोकि निम्न मनोलोक (Lower Mental), एवं भुवर्लोक (Astral Plane) में से होता हुआ क्रमशः स्थूलशरीर में व्यक्त होता है। इस प्रकार नीचे उतरने की यह क्रिया एक ऐसी परिमितता है जिसका हम ठीक ठीक वर्णन नहीं कर सकते; अतः जिस मनुष्य को हम स्थूललोक में देखते हैं वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य

भी ईश्वर के एक अंश का भी अंशांश होता है, और उस सच्चे मनुष्य—जीवात्मा-के परिचायक के रूप में तो वह इतना अपूर्ण है कि उसके द्वारा हम इसकी रंचमात्र भी कल्पना नहीं कर सकते कि पूर्ण विकास को प्राप्त होकर मनुष्य कैसा होगा।

जिन जीवात्माओं के साथ हमारा नित्यप्रति काम पड़ता है, वे इस दीर्घकालीन विकासक्रम की विभिन्न श्रेणियों पर हैं। इन सबका जीवात्मा तो आदि रूप से अपने निज के लोक पर ही रहता है जो जैसा हम कह चुके हैं, उच्च मनोलोक है। हो सकता है कि स्थूललोक में देह धारण करते हुये भी यह जीवात्मा अपने लोक में पहिले से ही सचेतन तथा अपने वातावरण से अभिज्ञ हो और वहां क्रियाशील जीवन व्यतीत करता हो, अथवा यह भी हो सकता है कि वह सुप्तावस्था में हो तथा अपने वातावरण से सर्वथा अनभिज्ञ हो और इस कारण केवल नीचे ही के लोकों पर अपने देहाभिमानी व्यक्तित्व द्वारा क्रियाशील जीवन का अनुभव करने में समर्थ हो। जैसे-जैसे मनुष्य अपनी चेतना को उच्च लोकों में उन्नत करता है, वैसे-वैसे उसे प्रत्येक उच्च लोक में उससे नीचे के लोक की अपेक्षा कहीं अधिक वेगयुक्त कंपन मिलते हैं। जब हम जीवात्मा के किसी विशेष लोक पर उन्नति कर लेने की बातें कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि वह जीवात्मा उस लोक के समस्त कंपनों का पूर्णरूप से प्रतिवादन करने में समर्थ है। यदि वह इतना सचेतन नहीं है, तो यह वेग-युक्त कंपन उस पर प्रभाव डाले बिना ही निकल जाते हैं, और इस चेतना को प्राप्त करने के लिये उसे नीचे के लोकों में उतर कर अपेक्षाकृत स्थूल पदार्थों का आवरण धारण

करना चाहिये, जिसके कंपनों का प्रतिवादन करने में वह समर्थ हो। उस नीचे के लोक में अभ्यास द्वारा वह क्रमशः वहां के उच्च कंपनों का प्रतिवादन कर सकने योग्य बनेगा, और तब बहुत धीरे-धीरे क्रमशः वह उस लोक को ऊपर के लोक के कंपनों का प्रतिवादन कर सकेगा। इस प्रकार एक के बाद एक सूक्ष्मलोकों पर चेतना की क्रमशः जागृति होती है।

अतः मनुष्य की जो चेतना उसके देहाभिमानी व्यक्तित्व में रहती है, वह उन्नति करती हुई निरन्तर जीवात्मा की ओर अग्रसर होती है; और इस प्रकार जब जीवात्मा की चेतना पूर्णरूप से विकसित हो जाती है तब वह अपनी चेतना को आत्मा की चेतना की ओर अग्रसर करना आरंभ करता है। स्थूल प्रकृति में प्रवेश करने के इस समूचे क्रम को भारतवर्ष में प्रवृत्तिमार्ग अर्थात् प्रवेशमार्ग कहते हैं। जिस निम्नतम भूमिका तक पहुँचना आवश्यक है, वहाँ तक पहुँचने के पश्चात् मनुष्य निवृत्तिमार्ग अर्थात् पुनः लौटने के मार्ग में प्रवेश करता है। जिस प्रकार अपनी बोई हुई खेती को काट कर मनुष्य उसकी उपज को लिये हुये घर लौटता है, उसी प्रकार अपने कठिन प्रयासों के फलस्वरूप इस जीवात्मा को पूर्ण जाग्रत चेतना का लाभ होता है, जिसके द्वारा वह प्रकृति में प्रवेश करने से पहिले उच्च लोकों में जितना उपयोगी हो सकता था, उससे कहीं अधिक उपयोगी बन जाता है। जीवात्मा के उस निम्न अंश अर्थात् देहाभिमानी व्यक्तित्व के लिये इस मार्ग पर सदा ही यह प्रलोभन रहता है कि वह अपने उच्च अंश अर्थात् जीवात्मा से तो अपना सम्बन्ध भूल जाये और उसके स्थूल प्रदर्शन

के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ ले, जो कि उसके लिये इतना प्रत्यक्ष होता है, और इस प्रकार जीवात्मा से अपना संबंध तोड़कर स्थूल लोक में अपने आप को उससे भिन्न समझने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं जीवात्मा के भी, जो कि आत्मा का ही एक अंश है, अपने उस अति उच्च लोक पर इसी प्रकार के प्रलोभन में ग्रस्त होने की संभावना रहती है; किन्तु हम इस समय जीवात्मा और देहाभिमानी व्यक्तित्व के सम्बन्ध का ही वर्णन कर रहे हैं, और इसके अतिरिक्त हम उसे देहाभिमानी व्यक्तित्व के उस दृष्टिकोण से देख रहे हैं, जहाँ वह जीवात्मा के साथ एक रूप होने का प्रयत्न कर रहा है।

जीवात्मा ने अपने को देहाभिमानी व्यक्तित्व के साथ संयुक्त कर लिया है, क्योंकि उसे क्षुधा, पिपासा इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभवों की तृष्णा रहा करती है। यह जीवात्मा अपने निज के लोक पर अ-उन्नत तथा उस प्रदेश के कंपनों का प्रतिपादन करने में असमर्थ होता है, नीचे के लोकों के मंदगति वाले कंपन उसके लिये अधिक आकर्षक होते हैं और इसलिये वह बारम्बार उन्हें ग्रहण करने के लिये नीचे उतरता रहता है। जैसे-जैसे उसकी उन्नति होती है, वैसे-वैसे उसकी यह तृष्णा बुझती जाती है, और प्रायः जब वह उन्नति को प्राप्त हो जाता है और अपने लोक के आनन्द और क्रियाओं के प्रति सचेतन बन जाता है, तब वह कभी-कभी इसकी प्रतिकूल पराकाष्ठा तक भी पहुँच जाया करता है, अर्थात् अपने उस देहाभिमानी व्यक्तित्व की उपेक्षा करने लगता है जो कर्म के चंगुल में फँसा है और दुख-कष्टों से ग्रस्त है, क्योंकि यह जीवात्मा समझने लगता है कि

वह इन स्थितियों को पार कर चुका है।

अपने देहाभिमानी व्यक्तित्व की उन्नति कर लेने पर उसकी नीचे के लोकों की तृष्णा क्षय हो जाती है। जब वह भुवर्लोक पर पूर्ण चेतनता को प्राप्त कर लेता है, तब उसकी तुलना में उसे भुवर्लोक का जीवन नीरस प्रतीत होने लगता है; निम्न मनोलोक में पहुँचने पर उसे भुवर्लोक अंधकारमय और उदासीन दिखाई पड़ता है; और जब वह कारण-लोक के और भी अधिक स्पष्ट और प्रकाशमान जीवन का आनंद उठाने के योग्य हो जाता है, तो नीचे के तीनों ही लोकों में उसके लिये कोई आकर्षण शेष नहीं रहता। अनेक मनुष्य विकास की उस श्रेणी तक पहुँच चुके हैं, जिसे प्राप्त करके वे अपनी निद्रावस्था में भुवर्लोक पर विचर सकते हैं और वहां उपयोगी कार्य कर सकते हैं। अध्यात्म ज्ञान के सभी साधकों का वासना शरीर (Astral body) उन्नत और उपयोग में लाने योग्य होता है, यद्यपि बहुत से लोग अभी तक उसका उपयोग करने में अभ्यस्त नहीं हुये हैं। मनशरीर का सबसे नीचे का भाग भी व्यवस्थित अवस्था में एवं कार्यशील बनने योग्य होता है; नियमपूर्वक ध्यान के अभ्यास से इसकी उन्नति होती है और यह नियंत्रण में आ जाता है। इस अवस्था में पहुंचने पर मनुष्य को अपने मनशरीर का उपयोग करना सिखाया जा सकता है, और तब वह अपनी निद्रावस्था में स्थूल शरीर के साथ वासना-शरीर को भी पीछे छोड़ सकता है। इसका अभ्यास हो जाने पर कारण लोक में भी इसी अभ्यास को दोहराया जाता है और तब यह जीवात्मा अपने निज के लोक पर जागृत और क्रियाशील हो जाता है।

निम्न लोकों के ये सब शरीर अस्थायी वस्त्रों के समान हैं जिन्हें हम उन लोकों की शक्तियों का उपयोग करना सीखने के लिये धारण करते हैं; और जब हम इसे पूर्णतया सीख लेते हैं, तथा जीवात्मा अपने कारण शरीर में पूर्ण चेष्टा प्राप्त कर लेता है, जो कि चौथी दीक्षा प्राप्त होने पर होता है, तब फिर पुनर्जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रह जाती। उन पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य किसी भी समय एक अस्थायी मनशरीर और वासनाशरीर धारण करके उन लोकों में व्यक्त होकर इच्छानुसार कार्य कर सकता है। जो मनुष्य इस श्रेणी तक पहुँच चुका है, उसे फिर आवागमन के इतने अप्रिय और कष्टदायी चक्र में आने की आवश्यकता नहीं रहती। कदाचित् हम इसे सदा इतना अप्रिय नहीं समझते क्योंकि हम जीवन से थोड़ा बहुत सुख भी प्राप्त करते हैं; ठीक है, किंतु यदि हम इसे जीवात्मा के दृष्टिकोण से देख सकें तो हमें ज्ञात हो जाना चाहिये कि उस अविनाशी आत्मा को जब नीचे के लोकों में किसी ऐसे शरीर में परिमित, बंधनयुक्त और संकुचित होकर रहना पड़ता है, जहां कि वह किसी भी कार्य को अपनी इच्छानुसार करने में असमर्थ हो, तब यह उसके लिये कितना अकथनीय त्रास होगा। जब तक हम उस शरीर को धारण करते हैं तब तक उसका सर्वोत्तम उपयोग करते हैं, किंतु वह केवल एक अस्थायी उपाधि है, जिसे हम शिक्षण के हेतु धारण करते हैं और उस शिक्षण को प्राप्त कर लेने के पश्चात् तो हमें इस समस्त क्रम से छुटकारा पाने में अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

जिस मनुष्य को कारणलोक की उच्च भूमिकाओं का कुछ भी अनुभव हुआ है, उसे कभी कभी इन तीनों निम्न

लोकों की परिमितता का बहुत गहरा भान होता है। यहां वह उच्चलोकों की समस्त गौरवशाली स्वतंत्रता, प्रेम और सत्य से वंचित रहता है। वह अपने इस अंधकारमय अवस्था में उतरने के कारण को समझ लेता है और तब इस प्रकार विचार कर सकता है कि "मैं अपने को इस तृष्णा से मुक्त करूँगा जो मेरे स्थूल लोक में जन्म लेने का मुख्य कारण है, और मैं अनासक्त भाव से कर्म करके अपने पूर्वकृत कर्मों का समीकरण कर लूँगा।" जो मनुष्य इस प्रकार कह सकता है वह अवश्य ही एक उन्नत मनुष्य है जिसने कि इन बातों के विषय में यथेष्ट विचार किया है; वह एक तत्वज्ञानी तथा दार्शनिक है। वह संकल्पपूर्वक कहता है "मैं इस तृष्णा को निर्मूल कर दूँगा, मैं अपने कर्मों का यथार्थ रीति से समीकरण करूँगा, और तब मुझे संसार में लाने का कोई कारण शेष न रह जायेगा।" ऐसा किया जा सकता है। जब वह इसमें सफल हो जाता है—और भारतवर्ष के समूचे इतिहास में इस सफलता को प्राप्त करने वाले अनेक मनुष्य हुये हैं—तब वह इस जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। वह निरंतर उच्च-मनोलोक में निवास करता है, अथवा कदाचित् कारणलोक तक भी पहुंच जाता है, किंतु बहुधा वह इससे ऊपर नहीं पहुंच सकता; यहाँ उसे उस वस्तु की प्राप्ति हो जाती है, जिसे सामान्यतः मोक्ष कहते हैं।

ऐसा करने में समर्थ मनुष्य वही होना चाहिये जिसने अपनी समस्त निकृष्ट वासनाओं और इच्छाओं पर विजय पा ली हो, अन्यथा ऐसा संभव नहीं हो सकता। किंतु इतना होने पर भी वह विकासक्रम के दूसरे पक्ष को भूल

रहा है। उसने कर्मविधान को तो पूरी तरह समझ लिया है और इसीलिये वह मुक्त होने में शक्य हुआ है, किंतु उसने विकासक्रम के नियम को पूरी तरह नहीं समझा और उससे स्वतंत्र नहीं हुआ। वह स्कूल के उस चतुर विद्यार्थी की भांति है जो कदाचित् अपने सहपाठियों से तो बहुत आगे बढ़ जाता है और एक ही साथ बहुत-सी परीक्षायें पास कर लेता है, किंतु जब तक उसके अन्य सहपाठी उसी की श्रेणी तक नहीं पहुँच जाते, तबतक वह तीन या चार वर्ष तक निष्चेष्ट बैठा रहता है। उस मोक्ष-प्राप्त मनुष्य की भी ठीक यही स्थिति होती है, उसने अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया है, क्योंकि जीवन्मुक्ति प्राप्त करना ही मनुष्य जाति के विकास का अंतिम लक्ष्य है।

एक जीवन्मुक्त महात्मा केवल आवागमन से मुक्त मनुष्य ही नहीं है, वरन् वह एक सजीव शक्ति भी है। वह आत्मा (Monad) के साथ, जोकि ईश्वर का ही अंश है, एक रूप हो चुका है। ईश्वर की विधि तो यह है कि वह इस प्रकार पूर्ण आत्मत्याग करके अपनी संपूर्ण योजना में अपने को व्यक्त करता है। अतः जो मनुष्य ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है, उसमें आत्मत्याग की यह भावना परिपूर्ण रहनी चाहिये। जीवनमुक्त महात्मा बड़े से बड़े जीवप्रेमी मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक सार्वलौकिक और श्रेष्ठ कार्यों को करता है और यह कार्य उच्चलोकों पर निरंतर किया जा रहा है; किंतु वह उन्हें मनुष्यजाति के ही नाम पर करता है, जिसका कि वह स्वयं एक अंग है। इसी लिये ऐसे महात्माओं के कर्मों का फल मनुष्यजाति को ही प्राप्त होता है, उन्हें नहीं। अस्तु ऐसी कोई भी वस्तु नहीं

है जो उन्हें पुनर्जन्म के बंधन में डाले; किंतु समस्त मनुष्य-जाति उनके पुण्यकर्मों द्वारा कुछ उत्थान पाती है। यह उत्थान कोई बड़े परिमाण में नहीं होता, क्योंकि उनके पुण्यकर्मों के फल की मात्रा समस्त जगत में विभक्त हो जाती है, अतः मनुष्य को व्यक्तिगत रूप को बहुत अधिक प्राप्त नहीं होता। अस्तु एक प्रकार से मनुष्य अपने पावने से कुछ न कुछ अधिक ही प्राप्त करता है। तौभी, इसमें अन्याय की कुछ भी बात नहीं है, क्योंकि जैसे वर्षा न्यायी, अन्यायी सभी पर समान रूप से बरसती है, उसी प्रकार उनके पुण्यकर्मों का फल भी सब समान रूप से ही प्राप्त करते हैं।

अस्तु, सहस्रों अथवा लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर उस मनुष्य को प्रतीत होता है कि विकास की लहर उसकी श्रेणी तक पहुंच चुकी है और यह फिर एक बार उसके चारों ओर हिलोरें ले रही है, और अब उसे पुर्नजन्म लेकर फिर से अपनी आगे की उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना है। मोक्ष को खोजने वाला मनुष्य प्रायः यह जानता है कि उसकी मुक्ति सदा के लिये नहीं है किंतु वह सोचता है कि उसे किसी सुदूर भविष्य में ही लौटना होगा और जब तक वह लौटेगा तब तक संसार बहुत कुछ सुधर जायेगा। वह कहता है कि "मैं पुनः लौटने की आशंका उठाने को तैयार हूं, क्योंकि मैं सहस्रों वर्षों तक मुक्त रहूंगा और स्वर्गलोक में सुखोपयोग करता रहूंगा।

जिस ऊँचे से ऊँचे लोक तक हमारी पहुँच हो सकती हो उसमें पूर्ण चेतना को प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य है। हम किसी भी भूमिका तक पहुंच कर संतोष मानने को नहीं

कहते। किंतु इसके विपरीत हम तो अपनी चेतना को खोकर समाधिस्थ होना भी अस्वीकार करते हैं—जैसा कि बहुत से लोग अपनी जागृत अवस्था से परे की श्रेणी तक पहुँचने के उद्देश्य से किया करते हैं। प्रायः ही लोग 'समाधिस्थ' होने की बात करते हैं, और कुछ लोग अपने संस्कृत के ज्ञान को जताने के लिये ध्यान करते समय ही 'समाधिस्थ' होने की बात करते हैं। जब तक हमने यह नहीं समझा था कि 'समाधि' शब्द का भी सापेक्षिक अर्थ होता है, तब तक हम इसके अर्थ के सम्बन्ध में बहुत भ्रम में थे। प्रत्येक के लिये, जिस भूमिका पर वह पूर्णरूप से सचेतन रह सकता है उससे ऊपर की भूमिका पर पहुँचना ही समाधि है। यदि कोई मनुष्य भुवर्लोक पर चैतन्य है और मनोलोक पर नहीं, तो उसके लिये मनोलोक पर पहुँचना ही समाधि होगी। जिस भूमिका पर मनुष्य सचेतन रह सकता है, उससे ठीक आगे की भूमिका पर स्थित होकर एक प्रकार की विस्मृति की अवस्था को प्राप्त करना ही समाधि है, जहां मनुष्य को समस्त प्रकार की प्रतिभाशाली व सुन्दर भावनाओं का अनुभव होता है, किंतु वहां प्रायः ही उसकी चेतना स्पष्ट नहीं होती। लोगों को ध्यान करते समय समाधि की अवस्था में नहीं जाना चाहिये: उन्हें अपनी चेतना को जागृत रखना चाहिये, ताकि जब वे पुनः लौटें तो जो कुछ उन्होंने देखा है उसे स्मरण रख सकें। मुझे ज्ञात है कि बहुत से मनुष्य समाधि की अवस्था में गये हैं और उन्होंने प्रसन्नता एवं दिव्य आनन्द की भावना का अनुभव किया है; तौभी, इसका अर्थ उन्नति नहीं है, क्योंकि उनका अपने पर नियंत्रण नहीं रहता है, और

जो कुछ वे वहां करते हैं उसका उन्हें स्पष्ट भान नहीं रहता। इसमें सदा एक आशंका यह भी रहती है कि मनुष्य यह नहीं जानता कि वह पुनः लौट सकने में समर्थ होगा या नहीं।

एक बार श्रीमती बेसेंट तथा मैं उच्च लोकों से आने वाले उस प्रचंड जीवन-प्रवाह का, उन महान् तरंगों का जो कि हमारे सूर्यमंडल के ईश्वर से स्फुरित होती हैं, निरीक्षण कर रहे थे। श्रीमती बेसेंट ने कहा "आओ हम अपने को इस प्रवाह में डाल दें, और देखें कि यह हमें कहां ले जाता है।" यदि उनके गुरुदेव ने उन्हें रोका न होता, तो हमने अपने को उस प्रवाह में डाल दिया होता। तत्पश्चात् श्रीमती बेसेंट ने श्री गुरुदेव से पूछा कि "यदि हम अपने को उस प्रवाह में डाल देते तो हम कहां पहुंच जाते?" उन्होंने उत्तर दिया कि "तुम लाखों वर्षों तक बहते बहते कहीं सिरियस नक्षत्र के किनारे लगते, अथवा किसी अन्य सूर्य मंडल में चले जाते।" यह स्पष्ट है कि हमारे लिये अपने को ऐसे किसी भी प्रवाह में डालना बुद्धिमानी नहीं है, जिसकी अवस्था का हमें ठीक ठीक ज्ञान न हो। अपनी चेतना को खोना कोई अच्छी योजना नहीं है, वरन् इससे तो यह कहीं अच्छा है कि हम अपने शरीरों पर नियंत्रण रखें और देखें कि हम कहां जा रहे हैं—अन्यथा हम अपने स्थूल शरीर को खो कर अपनी इस अस्थायी उपयोगिता को भी समाप्त कर देंगे। हमारी कार्य प्रणाली तो यह है कि जिस लोक तक भी हम पहुंच सकें, वहां पूर्ण रूप से सचेतन रहें और उस लोक में उपयोगी बनने का प्रयत्न करें। श्री गुरुदेव इस प्रकार की निष्क्रिय समाधि

की सराहना नहीं करते। निष्चेष्ट बैठ कर आनंदोपयोग करना ही हमारा लक्ष्य नहीं है, वरन् हमें तो श्री गुरुदेव के कार्य अर्थात् जगत् की सेवा के लिये प्रति समय उद्यत रहना है।

इस चैाथे साधन 'प्रेम' का जो विश्लेषण श्री गुरुदेव ने यहां दिया है, वह विशेष रूप से उनकी विशिष्टता को प्रकट करता है। वे इस शब्द के मूल में जो गुढ़ार्थ है, उसी को व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि "मुक्ति प्राप्त करने का तुम्हारा हेतु क्या है? तुम ईश्वर के साथ एक रूप बनने का प्रयत्न क्यों करते हो? इसी लिये कि तुम अधिक उत्तम रीति से सेवा करने के योग्य बन जाओ। वह ईश्वर क्या है? ईश्वर प्रेम स्वरूप है। यदि तुम्हें उसके साथ एकत्व स्थापित करना है, तो तुम्हें अपने में प्रेम की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये। अतः यह चैाथा साधन वास्तव में 'प्रेम' ही है।" 'मनुष्य; कहां से, कब और किधर' (Man; Whence, How, and Whither) नामक पुस्तक के पाठकों को यह वर्णन याद होगा कि अन्य ग्रहमालाओं (chains) से 'नावों' में भर भर कर लाये गये लोगों के विभिन्न समुदायों को 'सेवक' (Servers) कह कर संबोधित किया गया है। थिऑसोफ़िकल सोसायटी के सभासद लगभग इन्हीं समुदायों से संबंध रखते हैं, इसी कारण सेवा का भाव हमारी प्रकृति का मुख्य अंग है। हम जानते हैं कि जिन संस्कारों को हमने जन्म से ही प्राप्त किया है, उन्हें त्यागना कितना कठिन है। दृष्टांत के लिये, हमारी राष्ट्रीयत्ता की भावना के साथ ऐसी कितनी ही छोटी छोटी भावनायें संयुक्त रहती हैं जिन्हें त्यागना बहुत ही कठिन है। इस

प्रकार की राष्ट्रीयता देहाभिमानी व्यक्तित्व की है; किंतु हमारे सेवा भाव को हम जीवात्मा की, और कदाचित् आत्मा की भी, राष्ट्रीयता कह सकते हैं। वह इस भावना को लेकर ही उत्पन्न हुआ था और तब से इसकी निरंतर वृद्धि हो रही है।

हमारे लिये यह समझना कठिन है कि जिस प्रकार के मनुष्य का हम यहाँ विचार कर रहे हैं उसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के मनुष्य भी ऐसे ही श्रेष्ठ होते हैं या नहीं। हमारे सूर्यमंडल का ईश्वर अपने को तीन स्वरूपों में व्यक्त करता है: संकल्प, ज्ञान और प्रेम। इस पुस्तक में इन स्वरूपों का यही वर्णन दिया गया है। मनुष्य इन तीनों ही मार्गों द्वारा ईश्वर तक पहुँचते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये उसका अपना मार्ग उत्तम है, किंतु उसे यह याद रखना चाहिये कि उसी प्रकार अन्य मनुष्य के लिये भी उसका अपना ही मार्ग उत्तम है तथा कालांतर में यह सभी मार्ग एक में ही विलीन हो जायेंगे। हमें एक ही समय में इन तीनों स्वरूपों द्वारा देख सकने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिये एवं यह जानना चाहिये कि यह तीनों वस्तुतः एक ही हैं। अथांसिया (Athansia) के सिद्धांत में यह बताया गया है कि हमें यह जानना चाहिये कि त्रिमूर्ति की इस व्याख्या का आशय न तो व्यक्तियों के संयोग से ही है और न तत्व के विभाजन से। हमें यह समझ लेना चाहिये कि ईश्वर नित्यऔर एक है, यद्यपि वह अपने तीन स्वरूपों में व्यक्त होता है।

आरम्भ में यह कहा गया है कि यदि मनुष्य में प्रेम की भावना प्रबल रूप से विद्यमान हो तो अन्य सभी गुण उसे

स्वतः ही उपलब्ध हो जाते हैं। प्रेम से प्रेरित होकर ही मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुसार कर्म किया करते हैं। इसका सर्व सुंदर और सर्व श्रेष्ठ दृष्टांत मातृ-प्रेम है, उसे ही लीजिये और देखिये कि एक असभ्य जाति में यह प्रेम किस प्रकार कार्य करता है। एक जंगली जाति की माँ का ज्ञान तो बहुत अधिक नहीं होता, किंतु वह अपने बालक की रक्षा करने के लिये एवं आवश्यकता पड़ने पर उसके लिये अपने प्राणों का बलिदान कर देने के लिए भी प्रस्तुत रहती है। उस परिस्थिति में हमारे समाज की सभ्य माता भी यही करेगी। ऐसी माताओं के दृष्टांत बहुधा सुनने में आते हैं जिन्होंने जलते हुये मकान में से अपने बालक की रक्षा करने में अथवा संक्रामक रोग से ग्रस्त बालक की शुश्रूषा करने में अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। हमारे जीवन की साधारण घटनाओं में भी माँ का यही प्रबल प्रेम उसे आरोग्य शास्त्र सम्बन्धी, भोजन सम्बन्धी तथा इसी प्रकार की अन्य बातों को सीखने में प्रवृत्त करता है और उसका सन्तान प्रेम ही उसे विचार करने के लिये प्रेरित करता है। अस्तु, प्रेम हमें शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार को क्रियाओं में प्रवृत्त करता है।

यदि मनुष्य को श्री गुरुदेव तक पहुँचना है तो उसमें इस प्रेम का, अर्थात् सेवा की इस तीव्र लालसा का होना आवश्यक है। सेंट जॉन ने कहा था कि "हम जानते हैं कि हम निर्जीव से सजीव हो गये हैं, क्योंकि हम अपने बंधुओं से प्रेम करते हैं। जो मनुष्य अपने बन्धुओं से प्रेम नहीं करता वह निर्जीव के समान है," और "जिस मनुष्य में

प्रेम नहीं है, वह ईश्वर को नहीं जानता।" यह सारी बातें सर्वथा सत्य हैं। थिऑसोफी—ब्रह्मविद्या के पारिभाषिक शब्दों को जानना, इसकी दार्शनिकता एवं विज्ञान को समझना, तथा दो हजार चार सौ एक भातिक तत्वों (elemental essence) में भेद पहचान कर उनका उपयोग करने की योग्यता प्राप्त करना अवश्य अच्छा है, किंतु सच्चा थिऑसोफिस्ट अर्थात् ब्रह्मज्ञानी तो मनुष्य तभी बनता है जब वह प्रेम करना सीख लेता है।

मुझे बहुत दिन पहले की वह बात भली प्रकार याद है, जब बाबू मोहिनी मोहन चैटर्जी, जो कि श्री गुरुदेव के एक शिष्य थे, हमें शिक्षा देने के लिये लंडन आये और उन्हों ने प्रथम बार हमें इन साधनों के विषय मे बताया, जिनकी व्याख्या मिस्टर सिनेट की पुस्तकों में तथा "आइसिस अनवेल्ड" (Isis Unveiled) नामक पुस्तक में नहीं की गई थी, और हमें उस समय केवल वही पुस्तकें प्राप्त थीं। उन्हों ने हमें स्पष्ट करके समझाया कि चौथे साधन मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की एवं ईश्वर में लीन होने की तीव्र लालसा (उन्हों ने इसका वर्णन इसी प्रकार किया था) के बिना षट्सम्पत्ति अर्थात् सदाचार के छत्रों नियम मरुभूमि को सींचने के समान होंगे; वास्तव में जब तक हमें ईश्वर में लीन होने की और उसी के समान कार्य करने की तीव्र लालसा नहीं है तब तक सदाचार के नियम मरुभूमि के समान ही हैं, और वे हमारे लिये व्यर्थ सिद्ध होंगे। यह बात हमने उस समय नहीं समझी थी कि इसका अर्थ पूर्ण सेवामय जीवन व्यतीत करने से है, जैसे कि हम अब कर रहे हैं, यद्यपि हमारे इन महात्मागण ने तो प्रारंभ से ही "करोड़ों की संख्या में मानवजाति तथा अन्य तुच्छ और क्षुद्र प्राणियों के प्रति"

अपने प्रेम के महत्व पर ज़ोर दिया था। हम लोग उस समय केवल थिऑसोफ़ी के ही अध्ययन में लगे हुये थे, और वे सभी बातें हमारे लिये इतनी नूतन, इतनी रोचक, और इतनी उत्तेजक थीं कि हमारा अधिकतर समय उन्हीं में व्यतीत होता था, और यह कदाचित् आवश्यकता से अधिक था, किंतु मनुष्य को सच्चा सेवापरायण बनने से पहिले इन बातों का भी कुछ ज्ञान होना आवश्यक है।

"यह कामना नहीं है, वरन् 'इच्छाशक्ति,' (Will) 'निश्चय,' (resolve) एवं 'संकल्प' (determination) है।"

लेडबीटर—इच्छाशक्ति प्रथम शाखा (First Ray) का सर्वप्रथम गुण है, जिससे कि महात्मा मौर्य का संबंध है। महात्मा कुथुमि द्वितीय शाखा से संबंध रखते हैं, जो ज्ञान और प्रेम-प्रधान है। किंतु यहां उन्हों ने प्रथम शाखा के मनुष्य की सी बात कही है। मुझे एक अवसर का स्मरण है जब श्री कृष्णमूर्ति ने किसी गुण को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की थी, और तब श्री गुरुदेव ने उनसे कहा था कि "किसी वस्तु के लिये इच्छा या कामना मत करो, क्योंकि कामना एक दुर्बल वस्तु है; उस वस्तु की प्राप्ति के लिये संकल्प करो, क्योंकि तुम ईश्वर हो। यदि तुम किसी गुण को प्राप्त करना चाहते हो तो उसे प्राप्त करने का संकल्प कर लो और उसके लिये कटिबद्ध हो जाओ।" महान् ऋषिसंघ (Hierarchy) का मुख्यतः यही दृष्टिकोण है। श्री गुरुदेव की वृत्ति को तथा उनके इस दृष्टिकोण को, जिसने कि उन्हें इस वर्तमान पद तक

पहुँचाया है, समझना हमारे लिये वास्तव में ही बहुत आवश्यक है।

——— ———

"इसका परिणाम प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि तुम्हारे समस्त प्रकृति में यही संकल्प व्याप्त हो जाये, ताकि किसी भी अन्य भावना के लिए कोई तुम्हारे में स्थान ही शेष न रहे। वस्तुतः तो यह संकल्प ईश्वर के साथ एक होने का ही है, किंतु इसका हेतु संकट और दुख से निस्तार पाना नहीं है, वरन् ईश्वर के प्रति अपने अगाध प्रेम के कारण ही तुम उसके सहयोग में तथा उसी की भाँति कार्य करते हो। क्योंकि वह प्रेमस्वरूप है,° अतः यदि तुम उसके साथ एकरूप होना चाहते हो तो तुम्हारा हृदय पूर्ण निःस्वार्थता एवं प्रेम की भावना से अवश्य ही परिपूर्ण होना चाहिये।"

———

लेडबीटर—श्रीगुरुदेव के शिष्य की केवल एक ही इच्छा रहती है, और वह है सेवा करने की। इस इच्छा की पूर्ति के लिये वह अपने समस्त व्यक्तिगत सुखों और महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि देने के लिये प्रस्तुत है और वह उस महान् योजना का केवल एक लघु अंग बनकर ही रहता है। साधारण मनुष्य ने तो अभी तक उच्च वस्तुओं के विषय में गम्भीरतापूर्वक सोचना ही प्रारम्भ नहीं किया है, जिस रूप में जीवन उसके सामने आता है उसी रूप में वह उसे ग्रहण कर लेता है; उसकी इच्छा उस जीवन से निकल कर किसी उच्च और श्रेष्ट जीवन व्यतीत करने की नहीं होती, वरन् उसी को सफल बनाने की होती है। यदि आप उसे अपने समस्त निम्न व्यक्तित्व को त्याग देने की सम्मति दें, तो वह पूछेगा कि "इसे त्याग देनेके पश्चात् मेरे पास शेष क्या रह जायेगा?" यह ठीक है कि ऐसे मनुष्य के

पास जहां तक वह देख सकता है वहां तक कुछ भी शेष न रहेगा, किंतु सच तो यह है कि संपूर्ण वास्तविकता ही शेष रह जायेगी।

ऐसे मनुष्य को यह समझाना कठिन है कि 'ब्रह्म में लीन हो जाने' से हमारा तात्पर्य क्या है। मैं एक सज्जन और बुद्धिमान् मनुष्य को जानता हूं, जो उत्तरीय मठ के बौद्ध धर्म का यथेष्ट अध्ययन कर रहा था। एक दिन वह मेरे पास आया और बोला कि "मैं तो इसमें से कुछ भी नहीं समझ सका, और न मुझे इसमें से कुछ अनुकरणीय ही प्रतीत होता है। प्राचीन वस्तु-शास्त्र का अध्ययन करने के लिये तो यह बातें यथेष्ट रोचक हैं, किंतु इन सबका तो केवल एक यही प्रयोजन दृष्टि में आता है कि बुद्ध के साथ एकरूप हो जाओ। मैं नहीं समझ सकता कि इससे बुद्ध को कोई लाभ होगा, किंतु मेरा तो निश्चय ही अंत हो जायेगा।" एक साधारण मनुष्य का इन बातों के प्रति यही दृष्टिकोण रहता है। तथापि. इन सब बातों का एक वास्तविक, प्रधान, और प्रेरणादायक अर्थ भी है, और यदि मनुष्य उसे समझ ले तो उसकी समूची धारणा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाये। इस प्रकार अपनी चेतना का विस्तार करने से किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नष्ट नहीं होती, और न व्यक्तित्व का ही रंचमात्र भी विनाश होता है। इसमें 'मैं' विश्व में नहीं समा जाता, वरन्, विश्व ही 'मुझमें' समा जाता है। लोग कहते हैं कि "वह आत्मा मैं ही हूं;" यह बात जब देहाभिमानी व्यक्तित्व के लिये प्रयुक्त की जाती है, तभी यह एक भ्रम बन जाता है; किंतु जब मनुष्य को यह अनुभूति हो जाती है कि "मैं ही

ईश्वर हूं," तब इस भाव में तनिक भी भ्रम नहीं रहता कि सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर है, और यह धारणा कि "मैंने" जो विचार किया वह 'मैं' वास्तव में ईश्वर का ही प्रतिरूप हूँ, उसके लिये भ्रम न रह कर एक वास्तविकता बन जाती है, और इसके विपरीत यह विचार, भ्रम बन जाता है कि ईश्वर के अतिरिक्त भी किसी वस्तु का अस्तित्व रह सकता है अथवा उस एक आत्मा से कोई वस्तु भिन्न की जा सकती है।

हमारे नित्य प्रति के जीवन में कुछ बातें ऐसी हैं जिनसे कि छोटी वस्तु के बड़ी में लीन हो जाने का दृष्टान्त दिया जा सकता है। मान लीजिये कि आपके एक बड़ी व्यवसायिक कोठी है और उसमें एक नया मुनीम कार्य करने को आता है। पहिल-पहिले तो वह उस कोठी को एक काम लेनेवाला स्वामी ही समझता है, और उसे नियत समय पर उपस्थित रहकर काम बजाना कष्टदायक ही प्रतीत होता है; किंतु कुछ वर्ष वहां रहने के पश्चात् जब वह उन्नति करके किसी दायित्वपूर्ण पदपर नियुक्त हो जाता है, तब वह ऐसा कहने लगता है कि "हम यह काम करते हैं, हम वह काम करते हैं," और तब वह अपना और कोठी का लाभ एक ही समझने लगता है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह वहां का व्यवस्थापक और फिर भागीदार बन जाता है। फिर तो वह सदा कोठी के ही हित की बात करता है, और जब कभी भी किसी व्यवसाय की बात सोचता है तो स्वयं एक कोठीदार होने के नाते से ही सोचता है। वह अब भी सदा की भांति किसी भी प्रकार का विचार करने के लिये स्वतंत्र है, तथापि अब वह अपनी

इच्छाशक्ति का उपयोग उचित प्रकार से करता है। उसमें यह मनोवृत्ति उस कोठी ने बलात् उत्पन्न नहीं की है, वरन् इसकी वृद्धि उसने स्वयं ही की है। यह केवल एक छोटा सा दृष्टांत है, किंतु इससे उस विधि का कुछ बोध हो जाता है जिसके अनुसार मनुष्य के अपने को उस महान् शक्ति के साथ संयुक्त कर लेने पर भी उसकी इच्छाशक्ति सदैव की भांति उसकी अपनी ही रह सकती है।

एक समय ऐसा आयेगा जब हम स्वयं ही वह पथ बन जायेंगे और इन साधनों से सम्पन्न होने में कभी असफल नहीं होंगे, क्योंकि इनकी हममें वृद्धि होती ही जायेगी और तब यह हमारी प्रकृति का ही एक अंग बन जायेंगे। हम उस चित्-स्वरूप ईश्वर के सर्वदा समीप रहते हैं, क्योंकि वह हमारे भीतर, आसपास, और निरंतर हमारे साथ है। तथापि यह हमारा अपना काम है कि हम इस बात की अनुभूति करके उत्तरोत्तर अपनी चेतना का विस्तार करें, और जब तक इस भाव को यथार्थ रूप से न समझ लें, तब तक इसके लिये प्रत्येक प्राप्त साधन का उपयोग करते रहें। हमें ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्ति अर्थात् उसके आध्यात्मिक स्वरूप के साथ एक होना है, केवल उसके आधिभौतिक रूप के साथ नहीं। हमारे शरीरों का यह पदार्थ एव आसपास का पदार्थ अर्थात् प्रकृति ईश्वर के बाह्य वस्त्र हैं, किंतु हमें उसके इन वस्त्रों के साथ नहीं, वरन् स्वयं उसीके साथ एकरूप होने की आकांक्षा है। जब उसके साथ हमारी एकता हो जाती है तब वह हमें अंगीकार करके एक सजीव स्रोत के रूप में हमारा उपयोग करता है, जिसके द्वारा उसकी शक्ति प्रवाहित की जाती है। इन नीचे के लोकों

में हम दैवी-शक्ति के स्रोत हैं, किंतु हम प्रभावशाली स्रोत तभी बन सकेंगे जब कि हम उस स्थिति पर पहुँच जायेंगे जहां ईश्वर के प्रतिकूल चलनेवाला हमारा कोई भिन्न व्यक्तित्व शेष न रहे। ईश्वर सदा इन स्रोतों द्वारा ही कार्य करता है, और उसके कार्यवाहक अर्थात् महान् आध्यात्मिक ऋषिसंघ (The Great Occult Hierarchy) के सदस्य भी ऐसा ही करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि वे लोगों पर बिना किसी माध्यम के अपना सीधा प्रभाव डाल कर चमत्कारिक कार्य भी कर सकते हैं, किंतु इससे एक बड़े परिमाण में उनकी शक्ति अनावश्यक ही व्यय होगी, अतः वे उन स्रोतों द्वारा ही कार्य करते हैं जिनका उन्होंने संगठन किया है।

एक बड़ी संख्या के लोग ऐसे भी होते हैं जो कभी भी जीवन के सिद्धांतों को समझने का प्रयत्न नहीं करते। वे समझते हैं कि प्रकृति को उनके सम्मुख झुकना ही चाहिये। ये लोग कभी भी किसी बात को उसके निर्दिष्ट रूप में ग्रहण नहीं करेंगे। ये लोग अपने प्रयत्नों में प्रेतावाहन सभाओं के उन शोधकों के ही समान हैं जो यह निर्देशित कर देना चाहते हैं कि अमुक परिस्थितियां उत्पन्न कर देने से प्रेतात्माओं को प्रकट होना ही चाहिये। मन की यह वृत्ति बहुत ही असंगत है, क्योंकि किसी भी प्रकार के अन्वेषण-कार्य में आप प्राकृतिक विधानों के कार्य-क्रम निर्देशन नहीं कर सकते। आपने उन जंगली जातियों का वृत्तांत सुना होगा जिन्होंने विद्युत् के चमत्कार दिखलाये जाने पर कहा था कि "यह तो हस्तकौशल है।" वे कहेंगे कि "मैं स्पष्ट देख रहा हूं कि यह सब वस्तुयें

तारों से जुड़ी हुई हैं और तुम लोग उन तारों द्वारा ही सब कार्य करते हो, यह तार काट दो, तब हम तुम्हारा विश्वास करेंगे।" विद्युत्शक्ति का ज्ञाता मुस्करा कर उत्तर देगा कि "तुम विद्युत् के नियमों को समझते नहीं। इन तारों द्वारा ही विद्युत् का प्रवाह आता है, इनके बिना यह शक्ति प्रकट हो ही नहीं सकती।" तब यह अज्ञानी मनुष्य कहेगा कि "मैंने तुम्हारी चाल पकड़ ली।" प्रेतावाहन सभाओं में भी लोग ऐसा ही करते हैं; वे प्रकृति द्वारा निर्धारित विधि को तो स्वीकार करना नहीं चहते, किंतु दूसरी विधियों से काम लेना चाहते हैं। ईश्वर को मनुष्य की अपनी प्रणाली के अनुसार कार्य करने पर विवश करने के विचार में भी व्यक्तित्व का कुछ अंश रहता है, जो मेरी समझ में कुछ विशेप प्रकार के लोगों को रुचिकर है; किंतु मुझे तो यह बात उतनी ही असंगत प्रतीत होती है, जितनी कि प्रार्थना करते समय ईश्वर को अमुक कार्य कर देने का आदेश देना। मुझे तो इस बात पर अगाध विश्वास है कि ईश्वर को मेरी अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक ज्ञान है, और यदि कोई सर्वथा अकल्पित संयोग ऐसा हो जाये कि मेरी प्रार्थना के कारण वह अपने विचार को बदल दे, तो मैं जानता हूं कि उस नवीन योजना के आधीन होने पर मेरी स्थिति ईश्वरीय योजना के आधीन होने को अपेक्षा कहीं अधिक बुरी हो जायेगी।

हो सकता है कि ईश्वर के साथ एक रूप होने का विचार हम में से बहुतों को न सूझा हो, किंतु भारतवर्ष के लोगों में यह विचार बहुत प्रचलित है। इस पुस्तक में ईश्वर का वर्णन करते समय श्री गुरुदेव कई बार इन्हीं

वाक्यों का प्रयोग करते हैं। अपने पूर्व जन्म में हमारे ये गुरुदेव नागार्जुन नामक एक प्रमुख बौद्ध आचार्य हुये थे। उस जन्म में उन्होंने अनेकों ही सुंदर भाषण दिये थे और बहुत सी सुंदर पुस्तकें लिखी थीं। उनकी पुस्तकों में, जो सुरक्षित रखी हुई हैं, उन्होंने ईश्वर में किसी भी प्रकार के व्यक्तिभाव का प्रबल विरोध किया है। वहां तो उन्होंने इस शब्द अथवा ईश्वर के नाम तक पर आपत्ति की है, और इस विषय के आध्यात्मिक प्रश्नों की गंभीर मीमांसा की है। भारत के लोगों ने, जो नागार्जुन के इस तत्वज्ञान से परिचित हैं, बहुधा कहा है कि "हमारे जिन गुरुदेव ने ईश्वर में व्यक्तित्व के भाव का इतना प्रबल विरोध किया था, वही इस छोटी सी पुस्तक में उसी 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग करें, यह कितनी विचित्र बात है; स्वयं भगवान् बुद्ध ने भी ईश्वर में व्यक्तित्व के भाव का प्रबल विरोध किया था।" इस आपत्ति का उत्तर यह है कि इस पुस्तक में श्री गुरुदेव ने उस 'पूर्ण ब्रह्म' के प्रश्न की मीमांसा नहीं की है, वे यहां उस तत्सत्, नित्य, परब्रह्म का निरूपण नहीं कर रहे हैं; यहां तो वे मुख्यतः एक भारतीय बालक के प्रति ईश्वर—अर्थात् हमारे इस सूर्यमंडल के अधिपति का वर्णन कर रहे हैं, और निःसंदेह श्री गुरुदेव ने यहां ईश्वर शब्द का उपयोग इसी भाव में किया है। नागार्जुन के रूप में तो उन्होंने उन साधकों के प्रति तत्व का निरूपण किया था जो भारतीय तत्व ज्ञान की पद्धति को जानते थे, अतः उन्होंने परब्रह्म को किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत रूप दे कर ब्रह्म की धारणा को नीचा बनाने के प्रयास का—जैसा कि हमारे बहुत से ईसाई भाई करते

हैं—प्रबल विरोध किया था।

तब वे कहते हैं कि आप को ईश्वर ही के समान बनना चाहिये। इससे प्रश्न उठता है कि हम ईश्वर के विषय में क्या जानते हैं? हम जानते हैं कि वह अपने को तीन स्वरूपों में व्यक्त करता है, कोई इसके पास उसके एक स्वरूप द्वारा पहुँचता है और कोई दूसरे के द्वारा। किन्तु हमारा मार्ग तो क्रियात्मक प्रेम का ही है, क्योंकि हमारे गुरुदेव का यही मार्ग है। दिव्य जीवन (Divine Life) की सात शाखायें हैं, अतः मनुष्य भी सात प्रकार की प्रकृतियों के होते हैं। एक मार्ग भक्ति का है, दूसरा इच्छा शक्ति का, और तीसरा ज्ञान का। मनुष्य विभिन्न मार्गों द्वारा ईश्वर को खोजते हैं, किन्तु क्यों कि हमारे यह गुरुदेव प्रेम-मार्ग के अनुयायी हैं, अतः जो उनका अनुकरण करना चाहते हैं, उन्हें अपनी प्रकृति की विशेष शक्तियों को ईश्वर की तथा मनुष्य जाति की क्रियात्मक सेवा करने में ही लगाना चाहिये। इसके लिये भक्ति-मार्गियों का दृष्टांत लीजिये जो तीन प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो अपने इष्टदेव को आत्म-समर्पण करके उसके साथ एकरूप होने की आकांक्षा रखते हैं। मेरे विचार में अपनी पश्चिमीय जातियों में इस श्रेणी के लोग कुछ साधुओं और सन्यासिनियों (Monks and Nuns) में ही पाये जाते हैं, जिनकी केवलमात्र इच्छा ईश्वर की निरन्तर आराधना में जीवन व्यतीत करने की ही रहती है। यह एक उत्तम बात है, किन्तु ऐसा करते समय वह मनुष्य दूसरों का कुछ भी विचार नहीं करता वरन् केवल ईश्वर के साथ अपनी एकता की बात ही सोचता है। यदि उससे दूसरों के

विषय में पूछें तो वह यही कहेगा कि "जो मैं कर रहा हूँ, वही वे भी करें।" भारतवर्ष में मैं एक ऐसे मनुष्य को जानता था, जिसका ठीक यही भाव था कि ईश्वर की मूर्ति के सम्मुख बैठ कर उसकी आराधना करते हुये उसके साथ एकरूप हो जाने का प्रयत्न करना। उसने अपने सामने यही लक्ष्य स्थिर किया था, और उसका भविष्य भी यही होगा। अपनी आराधना के वरदान-स्वरूप वह कदाचित् सहस्रों वर्षों के दीर्घकाल तक स्वर्ग जीवन का उपभोग करेगा। ऐसी शुद्ध भक्ति द्वारा मनुष्य के विभिन्न शरीरों की उन्नति होती है और कुछ अंशों में स्वयं उसकी भी प्रगति होती है।

एक दूसरे प्रकार की भी भक्ति होती है, जो कदाचित् ही भक्ति कहलाने योग्य हो; वह निम्न श्रेणी की भक्ति होती है जो ईश्वर से प्रतिदान चाहती है। ऐसा मनुष्य कहता है "यदि तुम मुझे धन, पद और अन्य सामान्य सहायताओं के रूप में इतना प्रतिफल दो, तो मैं तुम्हारी इतनी भक्ति करूँगा।" किसी कामना को लेकर किये जाने वाले जप, तप, अनुष्ठान आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

एक तीसरे प्रकार का भक्त कहेगा कि "मैं अमुक महा-पुरुष अथवा अमुक गुरुदेव को इतना प्रेम करता हूँ कि उसी प्रेम के कारण मैं दूसरों को भी मेरे ही समान उन्हें जानने और समझने में सहायता कर रहा हूं। मुझे उन्हीं के नाम पर उत्तम कार्यों को करना चाहिये।" ऐसी भक्ति बहुत ही श्रेष्ठ और व्यवाहारिक है। हम में से जो लोग भक्ति की शाखा (Ray) से सम्बन्ध रखते हैं वे केवलमात्र भक्तिपरायण ही नहीं होंगे, किंतु उनमें विविध प्रकार की

यह कार्यशीलता अवश्य होगी जिससे कि अपनी उस भक्ति के कारण ही उन्हें कुछ न कुछ करते रहने की इच्छा उत्पन्न होगी। इसी प्रकार यदि हममें से कोई व्यक्ति ज्ञान मार्गी है, तब भी उसकी प्रकृति में यही विशेषता रहेगी। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो केवल जानने और समझने के लिये ही बुद्धिमान् बनना चाहते हैं। मनुष्य में इस गुण का होना भी एक अद्भुत बात है, और इस प्रकार से यथेष्ठ उन्नति करने वाले मनुष्य भी बहुत हैं। किन्तु उनमें से जो लोग मनुष्य जाति के सेवक हैं, उनके ज्ञान का परिणाम मिश्रित होगा। वे कहेंगे कि "मैं ज्ञान तो प्राप्त करना चाहता हूं, किन्तु इसे प्राप्त करने का मेरा हेतु यही है कि मैं मनुष्य जाति के लिये सच्चे रूप में उपयोगी बन सकूँ।" ऐसा मनुष्य उन लोगों की भूल को स्पष्ट देख लेगा जो सेवा करने की हार्दिक इच्छा रखते हुये भी अपनी मूर्खता के कारण भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक करते है। वह मनुष्य कहेगा कि "पहिले मुझे पूर्णज्ञान को प्राप्त कर लेने दो, तब मैं वास्तव में भली प्रकार सेवा कार्य कर सकूँगा।"

हम ईश्वर के साथ एक रूप होना चाहते हैं, किन्तु हमारी यह इच्छा केवल ईश्वर की महत्ता और उसके आनन्द का उपभोग करने के हेतु से ही नहीं है, वरन् इसलिये है कि हम भी उसके ही समान कार्य कर सकें; और क्योंकि ईश्वर ने व्यक्त होने के लिये पूर्ण आत्मबलिदान करके अपने को प्रकृति में सीमाबद्ध किया जिसके कारण हमारा अस्तित्व बन सका, अतः जिस मनुष्य को ईश्वर

के साथ एक रूप होना है उसे उस प्रेमस्वरूप ईश्वर के लिये किये जाने वाले कामों में पूर्ण आत्म-विस्मृति का ही भाव प्रकट करना चाहिये। वास्तव में इस एक ही वाक्य में आध्यात्ममार्ग का सारा सार आ जाता है कि "यदि तुम्हें ईश्वर के साथ एक रूप होना है, तो तुम्हारा हृदय पूर्ण निःस्वार्थता एवं प्रेम की भावना से अवश्य ही परिपूर्ण होना चाहिये।' संकल्प, ज्ञान और प्रेम इनमें से किसी भी एक को पूर्ण साधना करके यदि उसे सेवा करने में लगाया जाये, तो शेष दोनों स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं; अस्तु, यह वास्तव में ही सत्य है कि "प्रेम ही ईश्वरीय विधान का परिपूरक है।"

पच्चीसवाँ परिच्छेद

प्रेममय जीवन

"नित्य जीवन में प्रेम का तात्पर्य दो बातों से है; एक तो इस बात का ध्यान रक्खो कि तुम्हारे द्वारा किसी भी सजीव प्राणी को कष्ट न पहुचे; दूसरे सर्वदा सेवा करने के अवसर की प्रतीक्षा में रहो।"

लेडबीटर—यह दोनों बातें एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं, आप किसी को कष्ट न देंगे, यह इसका निष्क्रिय (Passive) पक्ष है, और सदा भलाई करते रहेंगे, यह इसका सक्रिय (active) पक्ष है। कुछ लोग कहा करते हैं कि पूर्वीय देशों के धर्म निष्क्रिय हैं, और जिस सेवा भाव को हम उन धर्मों का तत्व बताते हैं, वह वास्तव में ईसाई धर्म का है।

किंतु बात ऐसी नहीं है। यह ठीक है कि प्राचीन ईसाई धर्म में इस सेवा भाव का वर्णन आया है और वहाँ इसे बहुत महत्व दिया गया है—यद्यपि आधुनिक ईसाई ने इस भाव को गौण स्थान दे दिया है—किंतु ठीक यही भाव पूर्व के प्राचीन धर्मों में भी दर्शाया गया है कि "सेवा परायण मनुष्य ही सबसे महान् है।"

बौद्ध धर्म में, जिसे कि सबसे अधिक निष्क्रिय धर्म बताया जाता है, आपको सचमुच ही कुछ अनुचित बातों को त्यागने के आदेश मिलेंगे। किंतु इस धर्म के पंचतंत्र (पाँच-उपदेश) यहूदी धर्म की दस आज्ञाओं से अधिक निशेधात्मक नहीं है। बौद्ध धर्म यद्यपि लोगों से कुछ बातों को त्यागने की प्रतिज्ञा करने को कहता है, तथापि "तुम ऐसा मत करो" कह कर वह कोई आदेश नहीं देता। उस प्रतिज्ञा के शब्द ये हैं "मैं किसी की हिंसा न करने, पराई वस्तु न लेने, असत्य भाषण न करने, मादक द्रव्यों तथा बेसुध कर देने वाले पदार्थों का सेवन न करने, एवं स्त्री-पुरुष के अनुचित सम्बन्ध का त्याग करने के सिद्धांत को मानता हूँ।" इसका रूप आज्ञा नहीं, वरन् प्रतिज्ञा है।

स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा कथित इस एक ही सूत्र में, जो कि इस धर्म का सार है, हम इसके सक्रिय रूप को देखते हैं।

"बुराई से बचो,
भलाई करना सीखो,
हृदय को निर्मल करो,
यही बुद्ध का धर्म है।"

बुद्ध के श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ विचार, यथार्थ लक्ष्य, यथार्थ वचन, यथार्थ व्यवहार, जीविका का यथार्थ साधन, यथार्थ परिश्रम, यथार्थ सावधानी, और यथार्थ निष्ठा आदि आठ सिद्धांतों में भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है; इनमें से अधिकांश सिद्धांत वस्तुतः सक्रिय ही हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में, जो कि करोड़ों हिन्दुओं के लिये भगवद्वाणी है, आपको सबसे अधिक उपदेश सक्रिय कर्म का ही मिलेगा। उसमें ईश्वर को सबसे महान् कर्त्ता कहा गया है और बताया गया है कि जो मनुष्य ईश्वर के आदर्श का अनुकरण करके जगत् के कल्याणार्थ कार्य नहीं करता, उसका जीवन अकारथ है। गीता कहती है कि कर्त्तव्यकर्म की उपेक्षा करके अकर्मण्य रहना भी एक घोर पाप हो सकता है। यह लोगों को चेतावनी देती है—जैसे कि श्रीमती ब्लावैड्स्की बहुधा दिया करती थीं—कि अनुचित कार्यों में प्रवृत होने के पाप के समान ही उत्तम कार्यों की उपेक्षा करने के पाप से भी बचना चाहिये। सांसारिक जीवन का परित्याग करने वाले एक सन्यासी के विषय में भी गीता कहती है कि उसे भी निरन्तर परोपकार, स्वार्थ-त्याग, और तप के कर्म को करते रहना चाहिये। हिंदुओं के बड़े बड़े धार्मिक ग्रंथों में ऐसे कितने ही मनुष्यों का वर्णन आता है जिन्होंने अपना जीवन लोक-कल्याण के कार्यों में अर्पित कर दिया था, और कितने ही ऐसे आचार्यों का वर्णन आता है जिन्हें अवतार करके माना गया है और जिन्होंने मानव जाति की सेवा करने का ही उपदेश दिया था।

लोकसेवा को जितना महत्व इन प्राचीन धर्मों ने दिया है, उतना कहीं भी नहीं दिया गया, तथापि ध्यान-समाधि इत्यादि भी सदा इसके एक अंग रहे हैं; जैसे कि मध्यकाल के ईसाई धर्म के भी रहे हैं। यह तो पांचवीं उपजाति (Fifth Sub Race) के प्रधान गुण कार्यशीलता का ही कारण है कि इस नवीन युग में भीतर ही भीतर हमारी मनोवृत्ति का झुकाव साधु-सन्यासियों का तिरस्कार करने की ओर एवं क्रियाशील मनुष्यों अर्थात् युद्धकाल के बड़े-बड़े सेनानायकों एवं शांतिकाल के बड़े-बड़े शासकों व राजनीतिज्ञों की प्रशंसा करने की ओर हो गया है; तो भी, ध्यानादि के क्रम का संपूर्ण विचार अति सुन्दर है। यह योजना इस प्रकार थी कि एक साधु या सन्यासी के जीवन का क्रियात्मक पक्ष तो धर्म प्रचार और परोपकार के कार्य करना होगा, और उसका यौगिक पक्ष एकांत में रह कर पूर्णतया ध्यान, आराधना इत्यादि में लीन रहना होगा। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह होगा कि श्रेष्ठ व उच्च विचारों को व्यवस्थित करना, और उन शुद्ध विचारों को लोक-कल्याणार्थ प्रवाहित करना। उनका काम यह था कि वे प्रार्थना एवं ध्यानादि में प्रवीणता प्राप्त करके अपने उन भाइयों के कल्याणार्थ उनका उपयोग करें, जो कि अनेक कारणों से स्वयं उनका भली प्रकार व पूर्ण रूप से उपयोग करने में असमर्थ हों। इनके विषय में प्रत्येक धर्म के सिद्धांतों की व्यवस्था यही थी कि वे मनुष्यजाति के ही अंग थे और मनुष्यजाति की ही आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे; वे कर्म का परित्याग करके केवल निष्क्रिय जीवन बिताने वाले सन्यासी मात्र ही नहीं थे। वे सूक्ष्म लोकों में बहुत

कठिन कार्यों को करते थे, जिन्हें अन्य लोग नहीं कर सकते थे; इन कार्यों को वे प्रायः आत्म-संयम एवं सन्यास की अवस्थाओं में ही किया करते थे, जो सर्वसाधारण के निकट अधिक आदरणीय है।

तथापि यह बात भी सत्य है कि जब सन्यास जीवन पूर्णतया वैराग्ययुक्त नहीं था, तब इसकी ओर बहुत से ऐसे लोगों का ध्यान भी आकर्षित हुआ है, जो सुख चैन और अकर्मण्यता का जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखते थे। ऐसे लोगों ने शारीरिक परिश्रम का तो परित्याग कर दिया, पर उसके स्थान पर उच्च लोकों में कार्य करना नहीं सीखा। बौद्धसाधुओं में इस प्रकार के कुछ साधु हैं जिन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है और जिन्हें 'पेट के साधु' कहा जाता है, अर्थात् वे लोग जो केवल नियमित और निश्चित भोजन पाने के उद्देश्य से ही साधु बन जाते हैं; उनको कोई बहुत बढ़ियाँ व्यञ्जन तो प्राप्त नहीं होते, तथापि जब तक देश में किसी के भी पास कुछ भी खाद्य-वस्तु वर्तमान है, तब तक उन्हे वह अवश्य प्राप्त हो जाती है। मध्यकाल में योरूप के मठाधीशों के लिये, कदाचित् कुछ अधिक बड़े परिमाण में यही बात सत्य थी। ऐसे लोग भी थे जिन्हों ने सत्ता और प्रभाव के लिये ही साधु जीवन ग्रहण किया और अपनी संपति त्यागने में कोई संकोच नहीं किया। यद्यपि किसी साधु के पास कोई व्यक्तिगत संपति नहीं होती, किंतु; उन मठों के पास तो बहुत सी संपति का संग्रह था, जो कि एक बड़ी सीमा तक उन मठाधीशों के ही अधिकार में रहती थी।

"प्रथम, किसी को कष्ट न दो। तीन बातें ऐसी हैं जिनसे संसार का सबसे अधिक अपकार होता है: परनिंदा, क्रूरता और अंधविश्वास, क्योंकि ये तीनों प्रेम के विरुद्ध पाप हैं।"

लेडबीटर—जब मनुष्य सबसे अधिक अनिष्टकारी पापों की बात सोचता है, तो उसे सबसे प्रथम हत्या, डकैती आदि गंभीर पापों का ही विचार आता है, किंतु यहां परनिंदा, क्रूरता और अंधविश्वास जैसी बातों को जो तुलनात्मक रूप से साधारण प्रतीत होते हैं, ऐसे पापों की सूची में प्रथम स्थान दिये जाते देख कर कदाचित् उसे आश्चर्य होगा। श्री गुरुदेव ने इन पाप कर्मों की संख्या और इनके दीर्घ कालीन प्रभाव का ही विचार किया है। हत्या और डकैती को तो सारा संसार गंभीर अपराध मानता है, फलतः प्रतिष्ठित व्यक्ति उन्हें नहीं करते, जब तक कि युद्ध के नाम पर उन्हें न्याययुक्त न ठहरा दिया जाये; किंतु यह परनिंदा एक सार्वजनिक पाप है। यदि मनुष्य किसो व्यक्ति को इसके द्वारा होने वाली हानि का विचार करे—उस अत्यन्त मानसिक कष्ट का जो इसके द्वारा उसे पहुँच सकता है, और दूसरे के आदर्शों को हीन बनाने का जो कि बहुधा ही इसके द्वारा हुआ करता है—और फिर दिन रात परनिंदा करने वाले करोड़ों ही व्यक्तियों की गणना करके उस हानि के परिणाम को सोचे, तो उसे शीघ्र प्रतीत हो जायेगा कि इसके द्वारा अन्य सभी पापों की अपेक्षा अधिक हानि होती है। किसी व्यक्ति के आदर्श को नष्ट करना अथवा उसे हीन बनाना और उसमें यह भावना उत्पन्न कर देना कि उसका आदर्श उतना उच्च, श्रेष्ठ या उत्तम नहीं है जितना कि वह सोचता

है, एक बड़ा दुष्कर्म है। कहीं कहीं दूसरे की आराध्य-मूर्तियों को नष्ट करने की बात अच्छी समझी जाती है; किंतु दूसरे की आराध्य-मूर्ति को नष्ट करना उसकी सबसे बड़ी हानि करना है। यदि वह किसी ऐसी वस्तु को अपना आदर्श बनाता है जो हमारी दृष्टि में तुच्छ और हीन है, तो हम उसके स्थान पर उसे किसी उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकते हैं; किंतु उसे किसी अधिक उत्तम और उच्च आदर्श को बताये विना ही उसके आदर्श को नष्ट करना एक बड़ी बुराई और दुष्टता का काम है। पराई न्यूनताओं को दर्शाना और उसे तुच्छ प्रकट करने का प्रयत्न करना किसी भी दशा में धर्म नहीं है।

हममें से अधिकांश व्यक्ति संभवतः व्यक्तिगत अनुभव द्वारा ही इस बात को जानते हैं कि श्रीमती बेसेंट ने जगत् की कितनी अधिक भलाई की है। उनके भाषणों और लेखों द्वारा सहस्रों ही लोगों ने प्रकाश पाया है, किंतु तोभी उनकी जो निंदा की गई है, उसने अन्य सहस्रों ही लोगों को उनके भाषण सुनने और उनकी पुस्तकें पढ़ने से रोका है। वे कहते हैं "मैंने श्रीमती बेसेंट के विषय में ऐसी ऐसी बातें सुनी हैं, तब ऐसी व्यक्ति द्वारा लिखित पुस्तकें मैं क्यों पढ़ूँ।" इस प्रकार बहुत से व्यक्ति उस ज्ञान वंचित हो गये जिसके द्वारा कदाचित् वे इसी जन्म में मुक्ति पा जाते। हजारों ही लोग अपनी सब प्रकार की कठिनाइयों के विषय में पत्र द्वारा श्रीमती बेसेंट की सम्मति पूछते रहते हैं। किंतु उनके विषय में फैलाये हुये सर्वथा असत्य समाचारों के कारण अनेक मनुष्य उनकी सम्मति पूछने से भी वंचित रह जाते हैं।

मेरे विचार में मैं किसी भी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जिस पर हमारी महान् प्रेज़िडेंट के समान लगातार पूरी तरह आक्षेप किये गये हों। थिऑसोफ़िस्ट बनने से बहुत पहिले वे जनता में स्वतंत्र विचारों की उपदेशक के रूप में प्रसिद्ध थीं। उन पर सबसे पहिला प्रहार नोअल्टन नामक पुस्तिका को पुनः प्रकाशित करने के कारण हुआ और निंदा की गई। इस पुस्तिका में दाम्पत्य जीवन संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था, जिनका अध्ययन और सामना करना ही चाहिये, मिथ्या लज्जा के कारण जिन्हें छिपाना उचित नहीं। वह पुस्तिका उनके जन्म से बहुत पहिले लिखी गई थी, किंतु राज्य-दंड की धमकी के कारण उसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया था। हमारी प्रेज़िडेंट के इस विषय को हाथ में लेने का एक कारण तो उनका यह विश्वास था कि इस समस्या का समाधान होना ही चाहिये, और इस पुस्तक द्वारा प्राप्त वृत्तान्त से ग़रीब जनता को अभिज्ञ करना ही चाहिये, किंतु मेरे विचार में इसका बड़ा कारण यह था कि इसके प्रकाशन द्वारा वे यथार्थता को दबाने का विरोध एवं स्वतंत्र विचारों तथा स्वतंत्र प्रकाशन का, जिनका संबंध जनता के स्वास्थ्य एवं भलाई से होता है, समर्थन करने के लिये ही किया था। जिस कानून को वे बुरा समझती थीं, उसका विरोध करना ही इसके दुवारा प्रकाशन का प्रयोजन था। उन्होंने पुलिस को पहिले से ही बेचने के अपने विचार की सूचना देदी थी और उन्हें एक निर्दिष्ट समय पर आकर अधिकारी वर्ग की ओर से इसकी एक प्रति ख़रीदने को आमंत्रित किया था। इस आमंत्रण को स्वीकार करके वे आये और नियमानुसार उस आक्षेप-

उनके लेख की प्रति खरीदी और फिर उन पर अभियोग चलाया गया; किंतु अंत में अधिकारियों ने उस अभियोग को लौटा लिया। तब उन्होंने शब्दों की अधिक सावधानी वर्तते हुये उस विषय पर एक दूसरा लेख लिखा। इसका फल उन्हें इस लोक में यह मिला कि उनके व्यक्तिगत चरित्र पर अति निंदनीय रीति से आक्षेप किये गये। पीछे जाकर तो उन्होंने उस पुस्तिका का प्रकाशन ही बन्द कर दिया था, क्योंकि वे इस परिणाम पर पहुंची थीं कि उस पुस्तिका द्वारा उस सामाजिक कठिनाई का सर्वोत्तम समाधान नहीं होता था। किंतु मुझे विश्वास है कि जिस बात को उन्होंने उस समय उचित समझा था, उसका सामना करने के लिये उन्हें कभी पश्चाताप नहीं हुआ। संसार में ऐसी निःस्वार्थता एवं निर्भीकता विरले ही मिलती है।

श्रीमती ब्लावैड्स्की के संबंध में भी ईर्षालु लोगों ने बहुत निंदा फैलाई थी, उन पर बहुत से अशिष्ट और प्रमाद-पूर्ण आक्षेप किये गये थे। हम सबको तो, जो कि उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचित थे, वे सब बातें उसी समय हास्य-प्रद प्रतीत हुईं, तथापि अनेक लोग उन निंदाओं के कारण थिऑसोफ़ी के सत्यों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से अटक गये। सन् १८९१ ई० में उनका देहान्त हुआ, तथापि आज तक यह बात प्रायः ही अनुभव में आती है कि यदि आप किसी के सन्मुख थिऑसोफ़िकल सोसायटी की बात करें, तो उस पर यही टिप्पणी मिलेगी कि "यह सोसायटी तो उन्हीं श्रीमती ब्लावैडस्की की स्थापित की हुई है जिनके कपटी रूप की पोल खुल गई थी, ऐसी छली स्त्री के उपदेशों का विचार करने में हम अपना समय

और शक्ति नष्ट करना नहीं चाहते।" इस प्रकार अनेकों ही मनुष्य थिऑसोफ़ी के ज्ञान से वंचित रहे, जिसने कि उनके जीवन में परिवर्तन ला दिया होता।

केवल इन दृष्टान्तों द्वारा ही हम यह जान जाते हैं कि विद्वेष व मूर्खतापूर्ण निन्दा द्वारा कितनी असीम हानि हो सकती है। इस प्रकार की स्वार्थपरता द्वारा उस व्यक्ति की, जो उस निन्दा का लक्ष्य होता है, भावना को भी बहुत आघात पहुँचता है। यह बात कहना कि इसके द्वारा किसी की भावना को आघात पहुँचना उसके चरित्र की दुर्बलता का सूचक है, परनिन्दा करने को नेतव्य नहीं ठहराता, और वाही इसके द्वारा निर्मित बुरे कर्म से ही छुटकारा मिलता है। हमारी प्रेजिडेंट पर उनकी अपनी निन्दा का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि यदि किसी एक ही बात के लिये सदा की अपेक्षा अधिक समय तक उनकी निंदा की जाती है, तो कभी-कभी वे कह दिया करती हैं कि "यह बात तो अब बहुत ही उकताने वाली होती जा रही है, यदि लोग अब इसके स्थान पर कोई दूसरा विषय ढूँढ लें तो अच्छा हो।" मेरी निन्दा भी बहुत ही की गई है, किंतु इससे मेरी कभी एक रात की भी नींद नष्ट नहीं हुई। इस प्रकार तो हमारे किसी बुरे कर्म का क्षय ही होता है; किन्तु ऐसी निंदा द्वारा जो हानि दूसरों को होती है, उसका कुफल उसे चालू करने वालों तथा उसे फैलाने वालों को ही प्राप्त होता है। यह बात अधिक कठिन है कि हम किसी अन्य के विषय में कही गई बात पर ध्यान न दें। दृष्टान्त के लिये मैं

स्वीकार करता हूँ कि अभी तक भी यदि कोई मनुष्य हमारी प्रेसीडेंट के लिये बुरा भला कहता है, अथवा हमारे महात्मागण के विषय में अयोग्य विचारों को प्रकट करता है जो हमारी दृष्टि में ईश्वर निन्दा से कम नहीं तो वह मेरे लिये असह्य हो जाता है।

परनिंदा वास्तव में आलोचना नहीं है। दुर्भाग्य से आलोचना शब्द का अर्थ पराये छिद्र ढूँढने से ही लिया जाने लगा है। अंग्रेजी का "क्रिटिसिज्म" (Criticism) शब्द ग्रीकभाषा के "क्रिनेन" (Krinein) शब्द से जिसका अर्थ जाँचना है, लिया गया है; अतः इसका अर्थ 'निष्पक्ष आलोचना' होना चाहिये था। किन्तु आजकल ऐसा नहीं समझा जाता। न्याय ईश्वर की ही एक अभिव्यक्ति है, अतः किसी व्यक्ति के शब्दों अथवा कार्यों के पूरे प्रसंग को जाने विना ही उनके विषय में कोई निर्णय कर लेना अनुचित है और इससे बुराई उत्पन्न होती है। मैं समझता हूं कि संसार में कोई भी धर्मशास्त्र—चाहे वह कितना ही पवित्र और सुन्दर क्यों न हो, ऐसा नहीं है जिसके किसी प्रसंग में से कुछ शब्दों को निकाल कर उनको अपनी ही रीति से वर्णन करके उन्हें हास्यास्पद न बनाया जा सके। दूसरों के विचारों के विषय में हम सदा यही किया करते हैं। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति चिड़चिड़ा है; वह कठोरता और कदाचित् अशिष्टता से बात करता है, और उसे देखकर हम तत्काल ही यह अनुमान कर लेते हैं कि यही बात उसके चरित्र की द्योतक है। किंतु हम उसके चिड़चिड़ेपन का कारण नहीं जानते। संभव है वह सारी रात किसी रोगी बालक के पास बैठा रहा हो, अथवा किसी दूसरे ने उससे कलह की

हो, या उसे किसी प्रकार से वहुत अधिक क्षुब्ध किया हो,
और जो कुछ हमने देखा वह उसी का प्रतिबिंब हो, किंतु
वास्तव में वह हमसे क्षुब्ध न हो। यदि वह एक महान्
जीवन्मुक्त होता तो इस प्रकार क्षुब्ध न होता, किंतु हम
सभी अब तक महान् जीवन्मुक्त नहीं बने हैं, अतः ऐसी
वातें घटती ही रहती हैं।

जब मैं वालक था तो मैंने यह वात एक बूढ़े कोचवान
से सीखी थी। एक वार जब एक मनुष्य उसके पास
आया और उससे वहुत ही अशिष्टता पूर्वक वोला, तब मैं
उसके पास ही खड़ा था ; कोचवान ने उस मनुष्य की
अशिष्ट वाणी की ओर तनिक भी ध्यान न देते हुये ही
उसकी बात का उत्तर दिया। जब वह मनुष्य चला गया,
तो मैंने कहा कि "जॉन, तुमने ऐसा क्या किया था जिससे
कि वह मनुष्य तुम पर इतना क्रोधित हुआ!" बुड्ढा नौकर
बोला "कुछ नहीं श्रीमान्, वह मुझसे क्रोधित नहीं है, मैंने
उसे क्षुब्ध नहीं किया, कदाचित् उसकी पत्नी अथवा किसी
और ने किया होगा।" और तव उसने मुझे बताया कि जब
किसी मनुष्य का चित्त पूर्णतया विक्षिप्त होता है, तो जो भी
उसके सामने पड़ जाये उसी पर उसको वरस पड़ना
संभावित रहता है।

जब मनुष्य के मन में किसी के प्रति अनुचित धारणा
जम जाती है, तो उसके विष का प्रभाव इतना दुर्निवार व
प्रचंड होता है कि यदि हमें इसके लगातार प्रमाण न मिले
होते, तो यह वात अविश्वसनीय ही प्रतीत होती। कोई
मनुष्य एक अनुचित धारणा कर लेता है, और उसका

संपूर्ण दृष्टिकोण उसी के रंग में रंग जाता है। यह बात हमने इस पुस्तक के लिये भी देखी है। इसके प्रकाशन से बहुत पहिले जब मैंने परनिंदा के विषय में श्रीकृष्णमूर्ति को दी गई इस शिक्षा को सुना, तो मैं इसके महत्व से बहुत प्रभावित हुआ, अतः मैंने बहुत बार लोगों के सामने इसे दोहराया। जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई, तो कुछ लोगों ने तुरन्त ही इस बात को पकड़ कर कहा कि इन बातों का वर्णन तो इस पुस्तक के प्रकाशन से महीनों पहिले ही किया गया था, अतः अवश्य ही इसका कुछ भाग मेरी अपनी रचना है।

मैं बता चुका हूं कि श्री कृष्णमूर्ति की अपने भुवर्लोक के अनुभवों की स्मृति की दो अवस्थायें थीं: एक तो वह जब कि वे उन शिक्षाओं को स्मरण नहीं रख सके थे, किंतु क्योंकि उन्हें शिक्षा दिये जाते समय मैं वहां उपस्थित था, अतः मैं उनके सामने इस शिक्षा को दोहरा दिया करता था, जो श्रीगुरुदेव उन्हें दूसरे दिन आचार में लाने के लिये दिया करते थे; किंतु दूसरी अवस्था में उन शिक्षाओं को वे स्वयं अपनी स्मृति द्वारा ही स्मरण रख सकते थे। मुझे ज्ञात हुआ कि बंबई में यह किंवदंती फैलाई गई थी कि इस समूची पुस्तक की शिक्षा इस प्रकार मैंने ही उन्हें कही है। किंतु सत्य तो यह है कि पुस्तक उन्होंने उस दूसरी अवस्था में लिखी थी, जब कि वे श्री गुरुदेव के वचनों को स्मरण रख सकने में समर्थ थे, और उन्होंने स्वयं ही इसे लिखा भी था। जब लोगों को ऐसा थोड़ा सा भी कोई सूत्र मिल जाता है, तो वे प्रत्येक बात को विकृत बना देते हैं। लोगों के द्वारा वास्तविक बातों को विकृत कर देने

तथा उनकी मिथ्या धारणाओं के परिणामस्वरूप मैंने स्वयं भी वहुत से अन्याय सहन किये हैं। इसकी तो मुझे तनिक भी चिंता नहीं, किंतु, इससे यह वात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि किसी अनुचित धारणा को लेकर लोगों में मिथ्याबोध का होना कितना सरल है। मैंने ऐसी कितनी ही सर्वथा असंगत भूलें होती हुई देखा है, जिनमें प्रत्येक घटित घटना के साथ किसी न किसी ऐसे विचार को सम्बद्ध कर दिया गया, जिसका कि वास्तव में कोई भी आधार न था, और जो आदि से लेकर अन्त तक केवल कल्पनामात्र ही थी।

हमारे आध्यात्म-शिक्षण के क्रम में हमें अपनी चेतना को पशुओं की चेतना से संयुक्त करने का भी एक प्रयोग करना होता है। यह केवल अभ्यास की वात है; एक साधक को इसे केवल इसलिये सीखना होता है ताकि आगे चलकर वह अपनी चेतना को दूसरी तथा उच्च श्रेणी की चेतना के साथ संयुक्त करना सीखने के योग्य हो जाये। हम अपने को प्रत्येक पशु से विशिष्ट समझते हैं, और यह ठीक भी है, क्योंकि हम उनसे अधिक उच्च योनि में हैं; अतः हमारे लिये तो उस पशु के भाव को समझना सरल ही होना चाहिये। तथापि जो अनुभव मुझे प्राप्त हुये हैं उनसे मैं अनुमान करता हूं कि पशुओं को ध्यानपूर्वक समझने की चेष्टा करने वाला मनुष्य उनके विचारों और भावनाओं को ठीक प्रकार से नहीं जतला सकता। जब आपको सचमुच ही यह विदित हो जाता है कि इस समय यह पशु क्या सोच रहा है, तो आप जान जायेंगे कि उसके उस विचार का भी कोई कारण है जो कभी आपके ध्यान

में नहीं आया। अब, जब कि हम उन पशुओं को भी समझने में असमर्थ हैं जिनके विचार विषय बहुत ही थोड़े और सरल होते हैं, तो हमारे लिये अपने साथी मनुष्यों को समझने की संभावना तो और भी कम है। अवश्य ही हम मनुष्य के अधिक निकट हैं, किंतु मुझे संदेह है कि कभी भी कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को पूर्णतः समझ पाता है। यह बात विचित्र प्रतीत हो सकती है कि हम सभी परस्पर विभिन्न प्रकृति के हैं और किसी की भी किसी से कोई समानता नहीं है। एक दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार यह बात सत्य है कि हम सब एक ही विशाल भ्रातृमंडल हैं, तथापि जहाँ तक हमारे मनस् का संबंध है, वहां तक प्रत्येक अपनी खिचड़ी अलग ही पकाता है। उसके मन की परिधि दूसरे के मन की परिधि के केवल एक कोण मात्र को, और वह भी एक संदिग्ध और अनिश्चित रूप से ही स्पर्श कर सकती है।

"जिस मनुष्य को अपना हृदय ईश्वर के प्रेम से परिपूर्ण करना है, उसे इन तीनों से निरन्तर सतर्क रहना चाहिये।"

लेडबीटर—मनुष्य सोचेगा कि जिन बुराइयों का वर्णन यहां किया गया है, उनसे बचना तो बहुत ही सरल है। किंतु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि ये बुराइयां इतनी अधिक प्रचलित हैं और लोग इनके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि इनके अस्तित्व को जानने वाले लोग भी बहुत थोड़े होंगे। हमारे विकासक्रम की इस श्रेणी की ये विशेष कठिनाइयां हैं। हम उस निम्न मनस् की उन्नति कर रहे हैं जो सबसे

पहिले पृथक्करण की बात ही सोचता है, और उसके ही कारण लोगों का ध्यान पहिले उन बातों की ओर ही जाता है जिनका उन्हें अपने सामने आने वाली बातों में होना रुचिकर नहीं होता; फलतः बिना चूके टीका टिप्पणी और आलोचना प्रारंभ हो जाती है। जो मनुष्य पराये छिद्रों को और भिन्नताओं को देखने में ही अपनी शक्ति व्यय करता है, वह समय से पीछे चलता है, अर्थात् वह एक निराशा-जनक काल-भ्रम है। हमें तो अब संकलन करके एकीकरण करना सीखना चाहिये, और प्रत्येक वस्तु में भलाई तथा उसके दैवी अंश को ही खोजने का यत्न करना चाहिये, क्योंकि हमें अब बुद्धि की उन्नति करनी होगी। हम भूत-काल के लिये नहीं वरन् भविष्य के लिये जीवन धारण कर रहे हैं; अतः हमें इन अज्ञानताजन्य सुधार-विरोधी लहरों में नहीं वह जाना चाहिये, वरन् लगातार इस बात को स्मरण करते रहना चाहिये कि कहीं ये बातें हम पर अधिकार न कर लें, अन्यथा यह लहर हमें इस प्रकार घेर लेगी और हम पर इतना दबाव डालेगी, कि हम उसी में वह जायेंगे।

छब्बीसवां परिच्छेद

पर-निंदा

"देखो, पर-निन्दा का क्या परिणाम होता है, इसका प्रारम्भ बुरे विचार से होता है, जो कि स्वयं ही एक अपराध है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तु में अच्छाई और बुराई दोनों होती हैं। हम अपने विचारों द्वारा इन दोनों में से किसी को भी पुष्ट कर सकते हैं, और इस प्रकार हम विकासक्रम में सहायता भी दे सकते हैं और विघ्न

भी डाल सकते हैं; हम ईश्वर की इच्छा को कार्यान्वित भी कर सकते हैं और उसका अवरोध भी कर सकते हैं। यदि तुम किसी में बुराई का विचार करते हो, तो तुम एक ही समय में तीन दुष्ट कर्म करते हो।"

लेडबीटर—श्री गुरुदेव बुरे विचार को एक गम्भीर पाप बतलाते हैं। जब हम यह सोचते हैं कि श्री गुरुदेव की भाषा सदा कितनी अधिक सतर्क और संयत रहती है, तब हमें यह प्रतीति हो जाती है कि वे जिस बात का इतनी दृढ़तापूर्वक विरोध करते हैं, वह अवश्य ही बुराई होनी चाहिये।

किसी अन्य मनुष्य के उद्देश्यों को जानने और उसकी विचारप्रणाली को समझने का प्रयत्न बहुत करके अ-यथार्थ ही हुआ करता है; अतः संदेह का लाभ देकर उसे क्षमा कर देना ही हमारे लिये उचित है। अधिकांश लोग प्रायः ही सम्माननीय और भले अभिप्राय वाले होते हैं, अतः हमें उन्हें उनके भले अभिप्राय का श्रेय देना ही चाहिये। यदि हमारा अनुमान ठीक न भी हो, तब भी उस व्यक्ति के विषय में हमारी कुछ अधिक उच्च धारणा उस पर अपना प्रभाव डालेगी और सचमुच में ही उसका उपकार करेगी। जब आप किसी अन्य मनुष्य के विषय में कोई निंदात्मक बात सुनें, तो अपने हृदय पर हाथ रखकर विचार कीजिये कि यदि वह निंदा आपके अपने पुत्र या भाई के विषय में होती, तो क्या आप उसे मुँह से निकालते और उसे अतिरंजित करते? निःसंदेह आप कभी ऐसा न करते। सर्व प्रथम तो आप उसे मिथ्या सिद्ध करने का ही प्रयत्न करते, और फैलाते तो उसे किसी भी दशा में नहीं। तो फिर किसी

अन्य के पुत्र या भाई के विषय में आपका बर्ताव भिन्न प्रकार का क्यों ?

---

(१) तुम अपने आस पडौस का वातावरण उत्तम विचारों के स्थान पर बुरे विचारों से युक्त करते हो, और इस प्रकार संसार के दुखों में वृद्धि कर रहे हो ।

लेडबीटर—संसार को हम जैसा बनाते हैं और जैसा समझते हैं, हम पर उसका वैसा ही प्रत्याघात होता है । यदि एक मनुष्य निराशावादी है और सदा बुराइयों व आपत्तियों को ही देखता है एवं क्रुद्ध व व्यथित होने का अवसर ढूंढता रहता है, तो उसे वैसा ही संयोग प्राप्त हो सकता है । संसार में बुराई विद्यमान है और इन नीचे के लोकों में दुख भी बहुत है, जैसा कि भगवान् बुद्ध ने कहा है । हम इन सब बातों को अतिशयोक्ति करके इन्हें जटिल कठिनाइयां भी बना सकते हैं, अथवा प्रत्येक वस्तु का सर्वोत्तम उपयोग करने के निश्चय का हर्षपूर्ण उत्साह लेकर संसार को आशान्वित दृष्टि से भी देख सकते हैं । यह दूसरा दृष्टिकोण रखने पर हमें विदित होगा कि संसार में सुखद वस्तुयें भी बहुत हैं, और तब हम अपने बाह्य जीवन और बाह्य विचारशक्ति द्वारा संसार को दूसरों के लिये भी अधिक आनन्दमय बनायेंगे ।

बहुत से लोग कई वर्षों से ध्यान का नियमित अभ्यास कर रहे हैं । उन्हों ने ध्यानाभ्यास न करने वालों की अपेक्षा अधिक निश्चित रूप से विचार करना निश्चय ही सीखा है, अतः उनके विचार अधिक शक्तिशाली होते हैं । ऐसे लोग

यदि दूसरों की बुराई की बात सोचें तो उनका विचार एक साधारण मनुष्य के विचार की अपेक्षा अधिक हानिकर होगा। एक तो इसलिये कि उनका ज्ञान अधिक है और चर्च की भाषा के अनुसार वे ज्ञान के विरुद्ध पाप करते हैं, दूसरे उनके विचाररूप निश्चित और सापेक्षिक रूप से अधिक स्थायी होते हैं, जिनका कि भुवर्लोक और मनोलोक के वातावरण पर बहुधा यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। अस्तु, अपनी शक्ति का उपयोग संसार को अधिक सुखी व प्रसन्न बनाने के लिये ही कीजिये। समस्त खेदयुक्त विचारों को त्याग कर एवं अपने हृदय को प्रेममय बनाकर आप अपने आस पास के वातावरण को कितना अधिक प्रकाशमान बना सकते हैं, इनका आपको अनुमान ही नहीं है।

---

(२) "यदि मनुष्य में वह बुराई है जिसे तुम सोंचते हो, तो तुम उस बुराई को सबल और पुष्ट बना रहे हो, और इस प्रकार अपने बन्धु की उन्नति करने के स्थान पर उसकी और भी अवनति करते हो। किन्तु अधिकतर तो वह दोष उसमें होता ही नहीं है, और तुमने केवल उसकी कल्पना ही कर ली है, और तब तुम्हारा दुष्टविचार तुम्हारे उस बन्धु को वह बुराई करने के लिये प्रेरित करता है; क्योंकि यदि वह मनुष्य अभी तक एक पूर्ण पुरुष नहीं है तो तुम्हारा उसे अपने विचारों के अनुरूप बना देना संभव है।"

लेडबीटर—एक दिव्यदर्शी मनुष्य किसी व्यक्ति के विचारों को दूसरे व्यक्ति तक जाते हुये तथा उसके चारों ओर मच्छरों के दल की भांति मंडराते हुये देख सकता है। वे विचार उस व्यक्ति में तब तक प्रवेश नहीं पा सकते जब

तक कि वह किसी अन्य विषय को लेकर व्यस्त है, किन्तु जिस समय भी उसके विचारों में शिथिलता आती है अथवा वह ध्यानमग्न या श्रान्त होता है अथवा एक क्षण के लिये भी दुचित्ता होता है, तब वे विचार अवसर पाकर उसमें प्रवेश कर जाते हैं। वह विचार रूप उसके तेजस् पर एक खुरदरे किनारे के समान जकड़ जाता है, और तेजस् के जिस भाग से वह टकराता है उसे क्रमशः अपने ही अनुरूप बना लेता है और वहीं से अपना प्रभाव फैलाता है। इस प्रकार यह-विचार रूप अच्छे अथवा बुरे विचार को प्रेरित करता है, और यदि मनुष्य में कोई भी ऐसा भाव वर्तमान हो जो कि उसके अनुकूल हो, जैसा कि बहुधा होता है, तो यह विचार-रूप उस भाव को उत्तेजित कर देता है।

कभी-कभी तो किसी दूसरे को दिया हुआ थोड़ा सा प्रवर्तन बहुत अधिक महत्व नहीं रखता, किन्तु किसी-किसी स्थान पर यह मनुष्य के जीवन की दिशा को ही परिवर्तित कर देता है। स्कूल के लड़के बहुधा ही दौड़ते भागते हुए एक दूसरे को धक्का दे देते हैं, पर ऐसी घटनायें भी सुनी गई हैं कि एक लड़के ने अनजाने ही दूसरे को किसी चट्टान पर से ढकेल दिया। आप यह कभी नहीं जानते कि कब एक मनुष्य का विचार किसी अनुचित कार्य को करने की तैयारी पर हो, और उसके विषय में सोचा हुआ एक ही बुरा विचार उसे कुमार्ग पर ढकेल दे। दूसरी ओर जिस समय मनुष्य के हृदय में भलाई और बुराई का समन्वय हो, उस समय एक प्रबल और सहायतापूर्ण विचार उसे निश्चितरूप से सुमार्ग पर प्रवर्तित करके ऐसे आचरण पर आरूढ़ कर दे सकता है जो उसके लिये शीघ्र उन्नति का कारण बन जाये।

मैंने ऐसी घटनायें देखी हैं जिनमें किसी मनुष्य के विषय में किये गये एक ही बुरे विचार ने उसे ऐसे कुमार्ग पर ढकेल दिया जिसका कुफल उसे अनेक जन्मों तक भोगना होगा। वह विचार उसके मनस्तल पर विद्यमान तो था, किन्तु उसने अभी तक निर्णयात्मक रूप धारण नहीं किया था, इतने में ही किसी व्यक्ति का भेजा हुआ बुरा विचार आया और उसने प्रवर्तन देके उसके विचार को कार्यरूप में परिणित कर दिया और उससे वह पाप करवा लिया। इस बात को जब तक आप दृष्टिद्वारा न देख सकें तब तक इसे कदाचित् ही समझ सकेंगे, किंतु एक बार देख लेने पर तो इतना भय होगा कि आप सदा के लिये सावधान हो जायेंगे। दिव्यदृष्टि आप में एक नवीन उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न करती है अथवा कभी-कभी आपको स्तब्ध कर देती है। याद कीजिये कि कवि सचिलर (Schiller) ने दिव्यदृष्टि के विषय में क्या लिखा था और कैसे उसने फिर से अपनी इस दिव्यदृष्टि की अन्धता की इच्छा की थी, उसने कहा था, "अपना यह निर्दय उपहार लौटा लो, यह भयंकर उपहार लौटा लो!"

"तुम अपने मन को भी उत्तम विचारों के स्थान पर बुरे विचारों से भरते हो और इस प्रकार स्वयं अपनी उन्नति में भी विघ्न डालते हो, तथा अपने आपको उन लोगों की दृष्टि में जिनको देख सकने की शक्ति है, एक सुन्दर और प्रिय दृश्य बनाने के स्थान पर एक भद्दा और अप्रिय दृश्य बना लेते हो।"

लेडबीटर—बहुत लोग अपने शारीरिक वेश-विन्यास और अपने शिष्टाचार की शोभा व भद्रता के लिये बहुत

परिश्रम करते हैं, केवल इसलिये ही नहीं कि वे अपने को सर्वसुन्दर और सज्ञान प्रकट करने को आतुर होते हैं, वरन् सामान्यतः इसे समाज के प्रति एक कर्त्तव्य भी माना गया है। प्राचीन समय में अपने को प्रत्येक प्रकार से यथा-शक्ति पूर्ण और सुन्दर बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य समझा जाता था; वेषभूषा, रूपरंग, बोल-चाल और कार्य-क्रम सभी बातों में उसे यथार्थ, शोभायुक्त एवं उत्तम प्रणाली सीखनी होती थी। मनुष्य की केवल आकृति ही नहीं, वरन् उसके चारों ओर का वातावरण भी न केवल उपयोगी वरन् सुन्दर भी हुआ करता था। यदि कोई मनुष्य एक घर बनवाता था तो अपने पड़ोसियों के प्रति उसका यह कर्त्तव्य था कि वह उसे शोभामय और सुन्दर बनाये, यद्यपि उसे मूल्यवान् बनाना अनिवार्य न था; उनके बर्तन, उनकी प्रतिमायें और मूर्तियाँ भी सुन्दर हुआ करती थीं। आजकल तो लोग जहाँ तक संभव हो सस्ते से सस्ता काम ही करना चाहते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न भद्दे प्रभाव के विषय में तनिक भी ध्यान नहीं देते। एक मनुष्य एक बहुत ही भद्दा घर या कारख़ाना बनवाता है और इसे देखनेवाला प्रत्येक भावप्रधान मनुष्य ठिठुक कर मुँह फिरा लेता है; जो लोग इसे देखते हैं वे इसे देखकर क्षुब्ध ही होते हैं। जो मनुष्य ऐसे मकानों को बनवाने का उत्तरदायी है वह अपने लिये सचमुच ही एक बुरे कर्म का निर्माण कर लेता है। लोग सोचते हैं कि ऐसी बातों का कोई महत्व नहीं, किन्तु इनका महत्व अवश्य है; हमारे आस-पास का वातावरण बहुत ही अधिक महत्व रखता है। यह सत्य है कि एक बलवान्-आत्मा मनुष्य इन सब पर विजय पा सकता है, किन्तु हम अपने पास विघ्नकारक

वस्तुओं के स्थान पर ऐसी वस्तुयें क्यों न रखें जो हमारे लिये सहायक सिद्ध हों ? एक सुन्दर घर का निर्माता प्रत्येक मनुष्य अपने सहनागरिकों के धन्यवाद का पात्र है, क्योंकि उसने एक ऐसी वस्तु बनवाई है जिसका दृश्य प्रत्येक दर्शक के लिये आनन्ददायक है। एक सुन्दर वस्तु को देख कर आपके हृदय में आनन्द का जो स्पर्श होता है, वह कोई साधारण बात नहीं। मुझे सदा ऐसा भान होता है कि सुंदर रंग के वस्त्र धारण करने वाला प्रत्येक मनुष्य उस रंग के द्वारा हमारी इस भयानक भूरे रंग की सभ्यता में एक सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करने के कारण हमारा कृतज्ञता का पात्र है।

सौंदर्य के विषय में जो बात स्थूललोक में सत्य है वह उच्च लोकों में उससे भी अधिक सत्य है। जो मनुष्य अपने लिये एक प्रकाशमान और सुन्दर वासना शरीर का निर्माण करता है, जो उस प्रेम और भक्ति से परिपूर्ण है, जो वह अपने चहुँओर प्रवाहित करता है, वह अपने बंधुओं की कृतज्ञता का पात्र है। भुवर्लोक के जनता की संख्या स्थूललोक की अपेक्षा कहीं अधिक है। यदि भुवर्लोक पर हमारी भद्दी आकृति प्रकट होती है, तो हमारी उस आकृति द्वारा स्थूल लोक की अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में लोग त्रस्त और क्षुब्ध होते हैं। हमारे वासनाशरीर का सौंदर्य केवल भुवर्लोक के निवासी ही नहीं देखते, वरन् जो मनुष्य देखने में असमर्थ हैं उन सब को भी इसका भान होता है। यह कंपन उनपर अपना प्रभाव डालते हैं और उनसे लोगों को सहायता प्राप्त होती है। जो मनुष्य भद्दे, स्वार्थपूर्ण, और बुरे विचारों के आधीन रहता है वह स्वयं तो भयंकर

रूप से एक अरुचिकर और अप्रिय दृश्य बनता ही है, किंतु साथ ही अपने आसपास के वातावरण में भी अप्रसन्नता फैलाता है। स्थूललोक में लोग अपने घृणित रोगों को छिपा लेते हैं, किन्तु वासनाशरीर के यह घृणित रोग छिपाये नहीं छिपते।

"इस प्रकार की परनिंदा द्वारा मनुष्य अपना और अपनी निन्दा के लक्ष्य उस व्यक्ति का अहित करके ही संतोष नहीं मानता, वरन् दूसरे लोगों को भी अपनी पूरी शक्ति के साथ अपने इस पाप का भागीदार बनाने का यत्न करता है। वह लोगों के सन्मुख बड़े चाव से अपनी दुष्टकथा का वर्णन करता है और यह आशा रखता है कि लोग उसकी बात पर विश्वास करें; और तब अन्य लोग भी उसके साथ मिलकर उस बेचारे हतभाग्य व्यक्ति की ओर बुरे विचारों को प्रवाहित करने लगते हैं। और फिर दिन प्रति दिन वही बात न केवल एक मनुष्य द्वारा, वरन् सैकडों मनुष्यों द्वारा अतिरंजित होती रहती है। क्या अब तुमने जाना कि यह पाप कितना अधम और कितना भयंकर है? तुम्हे इससे सर्वथा दूर रहना चाहिये। कभी किसी की निंदा मत करो; यदि कोई दूसरा मनुष्य किसी की निंदा करे तो उसे सुनना अस्वीकार कर दो और नम्रतापूर्वक उससे कहो कि 'कदाचित् आपकी यह बात सत्य नहीं है, और यदि है भी तो इसकी चर्चा न करना ही हमारे लिये अधिक उत्तम है।"

लेडबीटर—यह बात कहने के लिये कुछ परिमाण में साहस की आवश्यकता है, किन्तु हमें उस चर्चा तथा चर्चा के लक्ष्य उस व्यक्ति के प्रति दया भाव रखते हुए ऐसा कहना ही चाहिये। मनुष्य उत्तमपुरुष बहुवचन का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कह सकता है कि "कदाचित् हम-

लोगों के लिये इस चर्चा को न करना ही अधिक उत्तम है।' तब आप अपनी विशिष्टता प्रकट करते नहीं प्रतीत होंगे, जोकि आध्यात्मिकता से विपरीत है और जो लोगों को चिढ़ा देती है; इस प्रकार कहने से संभवतः वह दूसरा व्यक्ति आपसे सहमत होकर उस चर्चा को बन्द कर देगा।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

क्रूरता

"अब क्रूरता के विषय में सुनो। यह दो प्रकार की होती है' जान बूझ कर की गई और अनजाने की गई। किसी सजीव प्राणी को हेतुपूर्वक दुख देना यह जान बूझ कर की गई क्रूरता है, और यह मानुषी नहीं, वरन् राक्षसी कृत्य है। तुम कदाचित् कहोगे कि ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं कर सकता; किंतु मनुष्यों ने ऐसे काम बहुधा ही किये हैं और अब भी नित्य प्रति कर रहे हैं। धार्मिक-न्याया-धीशों (Inquisitors) ने तथा अनेकों ही धर्माधिकारियों ने धर्म के नाम पर ऐसी क्रूरताएँ की हैं।"

लेडवीटर—क्रूरता एक राक्षसी कृत्य है, मानुषी नहीं; एक जीवन्मुक्त महात्मा की दृष्टि में यह ऐसी ही प्रतीत होती है। अपने नित्यजीवन में मनुष्य बहुधा ही किसी दूसरे को व्यथित करने के उद्देश्य से कुछ कहता अथवा करता रहता है। वह मनुष्य इसी पाप का दोषी है। वह एक ऐसा कार्य करता है जो एक राक्षस को ही शोभा देता है, मनुष्य को नहीं। यह बात अविश्वस्यनीय प्रतीत होती है, किंतु ऐसा करने वाले लोग संसार में वर्तमान हैं।

धर्म के नाम पर भयंकर कृत्य किये गये हैं। वेदों के प्राचीनतम साहित्य को पढ़िये और देखिये कि वहां भी हमें क्रूरतापूर्ण कार्यों के प्रबलता से किये जाने के प्रमाण मिलते हैं। हमें ज्ञात होता है कि आर्य लोगों ने जब भारतवर्ष में प्रवेश किया तो यहां के मूल निवासियों को तलवार के घाट उतारते हुये ही आगे बढ़े थे; उन लोगों के साथ किया जाने वाला कोई भी व्यवहार उन्हें भयंकर नहीं जान पड़ा। पृथ्वीतल से उनका चिह्न मिटा ही देना चाहिये! क्यों? केवल एक ही कारण सकल पर्याप्त है कि उनके समस्त धार्मिक आचार भिन्न थे। मुसल्मानों ने भी तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करते हुये संसार का एक बड़ा भाग रौंद डाला। ईसाई भी इनसे कुछ कम नहीं रहे; धार्मिक-न्यायाधीशों (Inquisitors) के अत्याचार, दक्षिणी अमेरिका में वहां के मूल निवासियों के प्रति किया गया नृशंस व्यवहार तथा इस प्रकार अनेकों कृत्य इसी भावना को लेकर ही किये गये हैं। हम सोचते हैं कि अब तो हम अधिक सभ्य होते जा रहे हैं, तथापि कुछ स्थानों में धार्मिक भावना आज भी बहुधा ही कट्टर और कटु है। यह कहने की एक प्रथा सी चल पड़ी है कि अब तो यदि पहिले की भांति कानून भी हमें ऐसे अत्याचारों को करने की आज्ञा दे दे, तो भी हमारी उच्च सभ्यता हमें उस प्रकार के भयंकर कृत्यों को करने से रोकेगी। मुझे इस बात का इतना विश्वास नहीं। इङ्गलैंड में मैं ऐसे स्थानों को जानता हूं जहां एक स्वतंत्र धार्मिक विचारों वाला व्यक्ति सामाजिक उत्सवों से बहिष्कृत समझा जाता है और जिसमें सभी प्रकार की बुराइयों के होने की शंका की जाती है। यह ठीक है कि हम अपने

पूर्वजों के समान लोगों को शिकंजे पर नहीं कसते और न उनके दांत ही उखाड़ते हैं; किंतु प्रत्येक समय की रीतियां भिन्न-भिन्न रहती हैं। मैं नहीं समझता कि मुझे किसी भी कट्टरपंथी संप्रदाय के हाथ में सत्ता का दिया जाना मनोनीत होगा।

"जीवित पशुओं की चीर फाड़ करने वाले (Vivisectors) बड़ी क्रूरता करते हैं।"

लेडबीटर—पशुओं के प्रति जानबूझ कर क्रूरता करने के पक्ष में कोई युक्ति नहीं है। वे हमारे छोटे भाई हैं और यद्यपि वे अभी तक मनुष्यवर्ग में नहीं आये हैं, तथापि थोड़े या बहुत जन्मों के पश्चात् वे मनुष्य ही बनेंगे। पशुओं पर किये गये क्रूरतापूर्ण प्रयोग का अभ्यास एक कुत्सित कर्म है, जिससे कभी भी मनुष्य जाति का वास्तविक हित नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म के नियम में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता और मनुष्य जैसा बोता है वैसा ही काटता है। मैंने श्रीमती बेसेंट को यह कहते सुना है कि इस प्रकार के उपायों द्वारा तो किसी की जीवन रक्षा भी नहीं की जानी चाहिये। हम जानते हैं कि आत्मरक्षा की सहज भावना प्रत्येक मनुष्य व प्रत्येक पशु में प्रबलता से जमी हुई है, ताकि जो शरीर इतने परिश्रम और कष्ट से प्राप्त हुआ है वह यथासंभव अधिक से अधिक समय तक प्राणों की सेवा कर सके, और इसलिये मनुष्य-जीवन की रक्षा यदि उचित उपायों द्वारा की जा सकती हो, तो अवश्य ही करनी चाहिये। किंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति

के लिये भी प्रत्येक प्राप्त साधन को उचित नहीं ठहराया जा सकता। हम उस मनुष्य की उचित प्रशंसा करते हैं जो कलंकित जीवन की अपेक्षा मृत्यु का ही आलिंगन करता है; निश्चय ही इस प्रकार के गर्हित उपाय द्वारा अपनी जीवन रक्षा करना किसी भी मनुष्य के लिये एक बड़े कलंक की बात है। हमारी प्रेजिडेंट ने कहा था कि इस प्रकार से जीवन रक्षा करने से तो उन्हें मरना ही अधिक मनोनीत होगा।

थिऑसोफ़िकल सोसायटी के सभासदों के इस विषय पर भिन्न-भिन्न मत हैं, और प्रत्येक अपना विचार रखने के लिये स्वतंत्र है; किंतु श्री गुरुदेव का उपरोक्त मत निश्चित है। तो भी, जीवित पशुओं की चीरफाड़ की क्रूरता के लिये हमारे मन में चाहे जितनी घृणा क्यों न हो, हमें इस सचाई को ध्यान में रखना चाहिये कि इसका प्रयोग और समर्थन करने वाले बहुतसे डाक्टर तथा अन्य लोग इसे अपने आनंद के लिये नहीं करते वरन् वे उसे ग्लानिपूर्वक ही करते हैं। यद्यपि हमारे मध्य ऐसी बातें वर्तमान रहने से मनुष्यरूपधारी कुछ पिशाचों को क्रूरता का आनंद उठाने का अवसर मिल जाता है। वे समझते हैं कि मनुष्य को कष्ट और मृत्यु से बचाने का यही एक मात्र उपाय है। और उनका यह निष्कपट विश्वास होता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह उपाय उचित है। अतः हमारा उनके साथ चाहे कितना भी मतभेद क्यों न हो, हमें पाप का ही तिरस्कार करना चाहिये, पापी का नहीं। इस बात का कोई प्रतिवाद नहीं है कि जीवित पशु की चीर फाड़ करने वालों को अपने इस कर्म के फलस्वरूप अवश्य

ही पीड़ा भोगनी होगी; इस सत्य को जान लेने पर इन लोगों से घृणा करने वालों की भावना दया में परिणित हो जायेगी।

जीवित चीरफाड़ करने के सभी उपाय एक समान ही क्रूर नहीं होते। उदाहरणार्थ मैं अपनी सोसायटी के ही एक सभासद को जानता हूं जो एक प्रमुख शस्त्र-चिकित्सक (surgeon) गिना जाता है और जिसने जीवित चीर फाड़ का प्रयोग एक विशेष प्रकार से किया था। मनुष्य शरीर में कुछ ऐसी पतली नलियां ह ती हैं जो कभी कभी टूट जाया करती हैं। वे इतनी पतली होती हैं कि जब मनुष्य उनके टूटे हुये किनारों को फिर से जोड़ने का प्रयत्न करता है तो उसमें हो जाने वाले घाव का अनिवार्य चिह्न उन नलियों को ही बंद कर देता है। पहिले इस दशा में मनुष्य की जीवनरक्षा करना असंभव था, जब कि उपरोक्त डाक्टर को यह बात सूझी कि यदि मनुष्य उस नली में एक लंबा चीरा दे तो कदचित् यह संभव हो सकता है कि वह घाव भी भर जाये और नली भी खुली रह जाये। उसने यह कार्य इस प्रकार किया कि टूटी हुई नली के एक टुकड़े के अग्रभाग में और दूसरे के पार्श्व भाग में एक लम्बा चीरा दिया और फिर उन्हें एक दूसरे के ऊपर रखकर घाव को भरने दिया। यह प्रयोग सफल होगा या नहीं यह देखने के लिये उसने पहिले बहुत से कुत्तों पर इसका प्रयोग किया। उसने मुझे बताया कि आधी दर्जन अन्पालतू कुत्तों पर इसका प्रयोग किया गया। ऑपरेशन से पहिले उन कुत्तों को बहुत अच्छी तरह खिला पिला कर स्वस्थ किया गया और फिर उन्हें अचेत करके ऑपरेशन किया गया। तत्पश्चात् उनके पुनः

स्वस्थ होने तक सावधानीपूर्वक उनकी शुश्रूषा की गई। और यह ज्ञात हुआ कि ऑपरेशन सफल हुआ है। परिमाण यह हुआ कि वह बात जो पहिले असंभव समझी जाती थी, अब एक प्रमाणित संभावना बन गई। यह ऑपरेशन अब संसार में प्रचलित हो गया है और इसका आविष्कार करने वाले डाक्टर के नाम से ही यह प्रसिद्ध है। सिद्धांत तो अनुचित था, किंतु इस घटना विशेष में उन पशुओं के प्रति क्रूरता नहीं बरती गई और कुछ समय के लिये तो उनकी दशा बुरी होने के स्थान पर और भी सुधर गई। इस प्रकार से यह प्रयोग अन्य सामान्य प्रयोगों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न था। और मैं समझता हूं कि जीवित चीरफाड़ के विरोधी लोगों के लिये इन प्रयोगों के करने वालों की निंदा करना सर्वथा अनुचित होगा।

कुछ प्रयोग जिनके विषय में मनुष्य पढ़ा करता है, गर्हितरूप से क्रूर होते हैं, जैसे यह देखने के लिये कि शरीर के भीतर की अमुक क्रिया बन्द होने से पहिले एक पशु अधिक से अधिक कितना तापमान झेल सकता है, उसे तापमान देने का प्रयोग किया गया है। और भी दर्जनों ही ऐसे पैशाचिक कृत्य किये जाते हैं जो स्पष्टतः निरुपयोगी होते हैं। ऐसे सहस्रों ही अनावश्यक प्रयोग केवल विद्यार्थियों के सामान्य ज्ञान के लिये और सब प्रकार के प्रभावों की जांच करने के लिये किये जाते हैं जिनमें से बहुत से सर्वथा निरुपयोगी होते हैं, क्योंकि मनुष्य की शरीररचना बहुत सी बातों में पशुओं की शरीररचना से भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, एक बकरी कई प्रकार के मिश्रित खाद्यपदार्थों के साथ-साथ हेनबेन (henbane)

नामक घास को भी खाजायेगी, जिससे कि उसे कोई भी प्रत्यक्ष हानि नहीं पहुंचती ; किन्तु यदि मनुष्य उस घास को खाता है तो उसे परलोक की यात्रा करनी पड़ती है। और भी; जब एक पशु किसी भयानक कष्ट या भय की स्थिति में होता है तो उसके शरीर के तरल पदार्थ परिवर्तित हो जाते हैं और उस समय उन पर किया गया कोई भी प्रयोग निरर्थक सिद्ध होता है।

इन सब क्रूरताओं की सर्वोचित स्थानपूरक दिव्यदृष्टि ही है। एक डाक्टर के लिये यह बात कहीं अधिक उत्तम हो यदि वह मनुष्य-शरीर के विषय में कुछ अन्वेषण करने के लिये एक जीवित पशु का शरीर, जो कि मनुष्य-शरीर से भिन्न प्रकार का होता है, काटने के स्थान पर जीवित मनुष्य के शरीर के समूचे रहते हुये ही उसकी भीतरी रचना को देख सके। जो लोग समझते हैं कि उन्हें जीवित पशुओं की चीड़फाड़ अवश्य ही करनी चाहिये, उनके लिये यह उचित होगा कि अपना एक ऐसा मंडल बना ले जिसमें वे परस्पर एक दूसरे पर ही प्रयोग करने के लिये सहमत हों; इस प्रकार उन्हें अपना प्रयोग करने के लिये मनुष्य-शरीर ही मिल जायेंगे, जिनपर किये गये प्रयोगों के उपयोगी होने की संभावन रहेगी, जब कि पशुओं के शरीर पर किये गये प्रयोग उपयोगी नहीं होते और साथ ही वे लोग उन अरक्षित प्राणियों के प्रति भयंकर क्रूरता करने के पाप से भी बच जायेंगे, जिसे करने का ईश्वर के राज्य में उन्हें कोई अधिकार नहीं। तथापि, यह बात अनावश्यक है, क्योंकि इन प्रयोगों के लिये जितना कष्ट, जितना अध्ययन और जितनी खोज की जाती है, उसका केवल दसवां भाग ही

विश्वसनीय दिव्यदर्शियों की एक सेना प्रस्तुत कर सकता है। वास्तव में एक साधारण विद्यार्थी अपने दीर्घकालीन शिक्षण पर जितना ध्यान देता है उतना ध्यान उसकी दिव्यदृष्टि के विकास के लिये लगभग पर्याप्त होगा।

कटूटर चिकित्सक समाज में, कुछ विशेषाधिकारों को प्राप्त कर लेने के कारण, एक और प्रकार की क्रूरता उत्पन्न होने की गहरी आशंका है। हम इन चिकित्सकों के दास बनना नहीं चाहते, जैसे कि हमारे पूर्वज धर्माधिकारियों के दास बने रहते थे। इन चिकित्सकों ने यद्यपि बहुत से अच्छे कार्य किये हैं, तथापि इससे इन्हें धर्म के नाम पर क्रूरता करने के समान ही अब वैज्ञानिक प्रयोगों के नाम पर क्रूरता करने की सत्ता नहीं मिल जाती। यह सच है कि उनके सिद्धांत को अस्वीकार करने वाले को देश के विधान के अनुसार ही दंडित किया जा सकेगा, किंतु ईसाईयों की सत्ता भी तो इसी प्रकार की हुआ करती थी, जो लोग उन पर विश्वास नहीं करते थे और उनकी अधीनता अस्वीकार करते थे, उन्हें इस पाखंडपूर्ण निवेदन के साथ दीवानी न्यायालय को सौंप दिया जाता था कि उनका रक्त नहीं बहाया जाना चाहिये! इससे वे अधिकारी वर्ग उनका सिर काटने से तो रुक जाते थे, किंतु इसके स्थान पर उनके अभियुक्तों को जीते जला दिया जाता था! बलपूर्वक चेचक का टीका लगाने के कारण भी आंदोलन होता रहा है, और कुछ देशों में तो इसका लगवाना अभी तक अनिवार्य है। यद्यपि यह एक विवादपूर्ण विषय है कि यह चिकित्सा उस रोग की अपेक्षा जिसे कि इसके द्वारा रोकने का विश्वास दिलाया जाता है, अधिक निकृष्ट

है या नहीं। चिकित्सकों के विचारों में बहुधा परिवर्तन होता रहता है, तथापि प्रत्येक धुन का जब तक कि वह चालू रहती है, प्रमादपूर्वक समर्थन किया जाता है। इतिहास बताता है कि जिस समाज के हाथ में सत्ता रही, उसके स्वार्थों ने बहुधा ही भयंकर अत्याचारों और विस्तृत दुखों का सृजन किया है। अस्तु, हमें अब इस दोष से बचे रहना चाहिये।

कुछ लोग पशुओं के प्रति की गई प्रत्येक क्रूरता को यहूदियों के इस पुराने सिद्धांत के अनुसार उचित ठहराते हैं कि पशुओं का अस्तित्व मनुष्य के लिये ही बनाया गया है। हम इससे अधिक अच्छी बात को जानते हैं; उनका अस्तित्व ईश्वर के लिये है; वे विकासक्रम की श्रेणियाँ हैं जिनमें ईश्वर का ही जीवन परिव्याप्त है। तो भी, हमारे लिये तब तक पशुओं का उपयोग करना न्यायसंगत है जब तक कि हम उनके विकास को प्रगति देते हैं। मनुष्य के संसर्ग में आकर वे लाभ उठाते हैं। यह सच है कि एक जंगली घोड़े को पकड़ कर हम उसके जीवन में दखल देते हैं, किंतु इससे उस घोड़े को और कई बातों के साथ साथ अपनी मानसिक उन्नति का लाभ प्राप्त होता है।

कुछ लोग यहूदियों के इस विचार को बालकों के प्रति भी लागू करते हैं। ऐसे माता पिता भी हैं जो समझते हैं कि उनके बालकों का अस्तित्व उनके उपयोग के लिये, उनसे नौकरों के समान काम लेने के लिये, उनके गर्व का एक विषय बनने के लिये और उनकी वृद्धावस्था में उनका सब प्रबन्ध इत्यादि करने के लिये ही है। और इसी से उनमें यह अमानुषी भावना उत्पन्न हो जाती है कि बालक

को हमारे विचारों के अनुरूप बनने के लिये विवश करना चाहिये; और इस प्रकार उसकी उन अभिरुचियों और योग्यताओं का कुछ भी विचार नहीं किया जाता जो कि उसके पूर्व जन्मों के कारण उसे प्राप्त हैं। यह भावना मनुष्य को अति सूक्ष्म क्रूरता की ओर ले जाती है।

"बहुत से अध्यापकों का क्रूरता करने का स्वभाव ही पड़ जाता है। यह लोग अपनी बर्बरता का समर्थन यह कह कर करते हैं कि यह तो एक प्रथा है; किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक पाप को बहुत लोग करते हैं इसलिये वह पाप नहीं रहा।"

लेडबीटर—बालकों को पीटने की प्रथा बहुत ही अधिक प्रचलित है, किंतु इससे इसका उचित होना सिद्ध नहीं होता। तो भी, यह प्रथा सार्वदेशीय नहीं है। मुझे यह कहते प्रसन्नता होती है कि कुछ देश ऐसे भी हैं जो इस विषय में सभ्यता को प्राप्त हुये हैं। मेरा विश्वास है कि जापान उनमें से एक है। और मैं अपने निजी अनुभव से जानता हूं कि इटली भी उन्हीं में से है। मैं इटली के एक नगर में यथेष्ट समय तक रहा हूँ। जिस घर में मैं रहता था वहाँ से एक बड़े स्कूल का मैदान दिखाई पड़ता था और मैं बहुत ही रुचिपूर्वक अध्यापकों और बालकों का पारस्पिक संबंध देखा करता था। अधिक आवेशपूर्ण और स्वतन्त्र प्रकृति के होने के कारण वे हमारे समान अनुशासन में नहीं रहते थे। सब लड़के एक पंक्ति में खड़े कर दिये जाते थे और अचानक उनमें से एक लड़का कभी भी अपने स्थान को छोड़कर अध्यापक के पास दौड़ आता

था और उसकी बांह पकड़ के नितांत उत्तेजना पूर्वक कुछ कहता था। अध्यापक मुस्कुराता और उसका सिर थपथपा देता; स्पष्टतः ही वह उसकी प्रार्थना स्वीकार कर लेता अथवा उसके विषय में कुछ कह दिया करता था। उनका आपस का व्यवहार बहुत ही मित्रतापूर्ण होता था। मैंने यह भी लक्ष्य किया कि जब कभी भी वे लड़के सड़क पर भी अपने शिक्षक से मिलते तो तुरन्त उसके पास दौड़ जाते और उससे लिपट जाते. और स्कूल के समय के अतिरिक्त भी वे लोग परस्पर एक दूसरे के सबसे बड़े मित्र रहते थे। यह एक बहुत शुभ चिह्न था, क्योंकि जिस मनुष्य को बालक प्रेम करते हैं वह सदा ही शुद्ध हृदय का होता है, कारण कि बालकों का सहज ज्ञान सदा अचूक होता है। इटली में क्रूरता जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं सकती, जैसी कि अधिकांश अंग्रेजी स्कूलों में बरती जाती है, क्योंकि वहाँ की प्रथायें भिन्न प्रकार की हैं। उस देश में किसी मनुष्य को हाथ लगाना एक अक्षम्य अपराध है; इस अपराध में छुरी चाकू और द्वन्द्व युद्ध आदि बातें भी सम्मिलित हैं। अतः वहाँ पर बालक सर्वथा सुरक्षित हैं।

दंड देने की प्रथा बहुत काल तक प्रचलित रही है, किंतु इससे इसका क्रूर और निःसार न होना सिद्ध नहीं होता। सर्व प्रथम तो दंडव्यवस्था के संचालन का कार्य हमारा है ही नहीं। कर्म विधान स्वयं ही सब कुछ संभाल लेगा और वह कभी भी कोई भूल नहीं कर सकता, जैसे कि हम बहुधा किया करते हैं। मनुष्यों द्वारा विधान-सम्बन्धी भयानक अन्याय बारम्बार किये गये हैं; सर्वथा निर्दोष व्यक्तियों को कठोर से कठोर दंड दिये गये हैं। एक अप-

राधी दूसरों को अपेक्षा अपना ही अहित अधिक करता है और उसका प्रतिरोध प्रकृति के विधान पर छोड़ा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त दंड देने से उस अपराधी में—और विस्तृतभाव से कहें तो किसी संभावित अपराधी में भी भय की भावना का संचार होता है। बालकों को पीटने का विचार और कानून द्वारा अपराधियों को दंडित करने का विचार एक ही जैसा है। इन बातों के अन्तर्गत प्रतिशोध की भावना निहित रहती है। वे ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि "तुम अमुक-असुक कार्य करते हो; अतः मैं तुम्हारे लिये यह विपत्ति खड़ी कर दूँगा।" बहुत बार एक अध्यापक क्रोधित हो जाता है और उसकी वह क्रुद्ध भावना ही बालक को दंड देने का कारण होती है, बालक की भलाई की कोई युक्तिसंगत भावना नहीं। मैं जानता हूँ कि यह कहा जाता है कि लोगों को अपराध करने से रोकना ही कानून द्वारा दंडित करने का उद्देश्य है। किंतु इससे ऐसा होता नहीं। एक सौ वर्ष पूर्व अंग्रेज़ी कानून के दंड बहुत ही कठोर हुआ करते थे। उदाहरणार्थ, एक रुपया चुराने के अपराध में मनुष्य को फांसी पर लटका दिया जाता था। मुझे याद है कि न्यूगेट नामक कारागार के प्रवेशद्वार पर मैंने यह प्रमाणलेख लिखा हुआ देखा था कि अमुक व्यक्ति को दो या तीन आने के मूल्य का दस्ताना चुराने के अपराध में फाँसी दी गई; दूसरे स्थानों पर भी ऐसी घटनाओं के प्रमाण मिलते हैं। जब इतने कठोर दंड दिये जाते थे, तब भी अपराधों की संख्या आजकल से कहीं अधिक हुआ करती थी। अपराधों को

संख्या का उनके लिये दिये जाने वाले दंडों से कोई संबंध नहीं होता, यह तो मुख्यतः सामान्य शिक्षा और सभ्यता का ही विषय है।

कानून द्वारा अथवा स्कूल द्वारा दिये जानेवाले दंड का उस किये गये अपराध के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं रहता। एक मनुष्य कोई वस्तु चुराता है और तब उसे कारागार में बंद कर दिया जाता है इन दोनों बातों में परस्पर क्या सामंजस्य है? युक्तिसंगत बात तो यह है कि उस मनुष्य से कुछ काम करवाया जाये और उस चुराई वस्तु का मूल्य उस वस्तु के स्वामी को लौटा दिया जाय। अपराध के साथ दंड की कोई न कोई अनुकूलता अवश्य होनी चाहिये। किसी वस्तु को चुराने के कारण एक मनुष्य को केवल कहीं पर वन्द कर देना एक प्रकार का दुःस्वप्न ही है। इसी प्रकार जब एक बालक पाठ याद नहीं करता तो उसे पीट दिया जाता है। अब इन दोनों बातों में क्या समानता है? इसके स्थान पर यह कहना अधिक उचित होगा कि "देखो भाई, तुमने अपना पाठ याद नहीं किया, अब तुम अपनी श्रेणी से पीछे रह जाओगे, अतः तुम्हें अब छुट्टी के पश्चात् यहाँ ठहर कर अपना पाठ याद करना होगा, जब कि अन्यथा तुम खेलते होते।" मारपीट जैसी बात में कुछ भी सार नहीं और यह न्यायतः अनुचित है। जानबूझ कर दुःख देने का विचार सदा ही अनुचित होता है, और ऐसी कोई प्रथा होने पर भी वह उचित नहीं कहला सकता। ऐसी कितने ही प्रकार की बातों की प्रथा रही है जो कि स्पष्टतः अवांछनीय और मूर्खतापूर्ण थीं। उदाहरणार्थ, चीन में

पाँव बाँधने की प्रथा और हम अंग्रेज़ों की समय-समय पर प्रचलित बहुत सी विचित्र वेषभूषायें भी इसी प्रकार की थीं। हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि किसी बात की प्रथा होने के कारण ही, चाहे वह प्रथा सैकड़ों वर्षों से ही क्यों न चली आई हो, वह बात अच्छी और आवश्यक होनी चाहिये, क्योंकि बहुधा ही वह बात अच्छी नहीं होती।

कोई जाति किसी अभ्यस्त अपराधी को न्यायतः ऐसा कह सकती है—जैसे कि प्राचीन पीरू देश के लोग कहा करते थे—कि "हम एक सभ्य जाति के मनुष्य हैं। हमने अपने राज्य में बहुत ही परिश्रमपूर्वक अमुक योजना की व्यवस्था की है, और यह देश उन्हीं के लिये है जो इसके विधान का पालन करेंगे। यदि तुम इन विधानों का पालन नहीं करना चाहते, तो जाओ और कहीं और जाकर रहो।" वहाँ पर देशनिकाला ही एक मात्र दंड था और उस अपराधी को बर्बर जातियों के साथ रहने को भेज देना उसका सबसे बड़ा अपमान और सबसे बड़ी असुविधा थी। एक आशंकाजनक अपराधी पर प्रतिबंध रखने का समाज को अधिकार है। यदि कोई प्रमादी व्यक्ति प्रमाद-ग्रस्त हुआ समाज को हानि पहुँचाता है, तो आपको उसे अवश्य रोकना चाहिये चाहे इस प्रयत्न में उसके प्राण ही क्यों न लेने पड़ें। किंतु आपत्तिकाल के अतिरिक्त जब कि ऐसा करना अनिवार्य हो जाता है, हमें किसी की हिंसा करने का कोई अधिकार नहीं है और न कभी किसी ने किसी पर अत्याचार करने का अधिकार पाया ही है, यह एक सर्वथा निश्चित बात है। प्राणदंड, यदि

यह प्रतिहिंसा की भावना से दिया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि हम भी उस अपराधी के ही समान वर्बर बन जाते हैं, जिसने कि हमें रोष दिलाया है, और जिसे हम सुन्दर शब्दों में अपना न्याययुक्त रोष कहा करते हैं। यदि यह प्राणदंड उस व्यक्ति द्वारा दिये जाने वाले और कष्ट से बचने के उद्देश्य से दिया जाता है, तो यह सैद्धांतिक रूप से अनुचित है, क्योंकि राज्य का कर्त्तव्य केवल भद्र नागरिकों के प्रति ही नहीं होता वरन् प्रत्येक नागरिक के प्रति होता है; इसके साथ ही उन्हें सच्चे मनुष्य अर्थात् जीवात्मा का भी विचार करना चाहिये, केवल इसके शरीर का ही नहीं। इस प्रकार उस व्यक्ति का वध करके अपनी कठिनाइयों का सबसे सरल समाधान ढूँढना निःसंदेह क्रूरता है और इससे कोई भलाई नहीं होती, क्योंकि इससे उसकी बहुत सी बुरी वासनायें उद्दीप्त हो जाती हैं और वह मनुष्य भविष्य जन्म में हमारे साथ अप्रिय सम्बन्ध को लेकर उत्पन्न होता है, वास्तविक अपराधी यद्यपि विरला ही होता है, क्योंकि कष्टपूर्ण वातावरण ही अधिकांश अपराधियों को उत्पन्न करता है, तथापि यदि कोई हो भी तो उसकी स्थिति वास्तव में दयाजनक होती है। उसे अत्याचार और वर्बरता की आवश्यकता नहीं है, इससे तो उसकी समाजविरोधी भावना और भी भड़क जायेगी, वरन् उसे उचित उपचार और शिक्षण की आवश्यकता है, जिससे कि वह अपने कार्यों और भावनाओं द्वारा सामान्य नागरिकता की श्रेणी में आ जायेगा। राज्य की ओर से उन लोगों का ध्यान रखा जाता है जो शारीरिक या मानसिक विकारों से ग्रस्त होते हैं; एक अपराधी के

यह प्रतिहिंसा की भावना से दिया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि हम भी उस अपराधी के ही समान वर्बर बन जाते हैं, जिसने कि हमें रोष दिलाया है, और जिसे हम सुन्दर शब्दों में अपना न्याययुक्त रोष कहा करते हैं। यदि यह प्राणदंड उस व्यक्ति द्वारा दिये जाने वाले और कष्ट से बचने के उद्देश्य से दिया जाता है, तो यह सैद्धांतिक रूप से अनुचित है, क्योंकि राज्य का कर्त्तव्य केवल भद्र नागरिकों के प्रति ही नहीं होता वरन् प्रत्येक नागरिक के प्रति होता है; इसके साथ ही उन्हें सच्चे मनुष्य अर्थात् जीवात्मा का भी विचार करना चाहिये, केवल इसके शरीर का ही नहीं। इस प्रकार उस व्यक्ति का वध करके अपनी कठिनाइयों का सबसे सरल समाधान ढूँढना निःसंदेह क्रूरता है. और इससे कोई भलाई नहीं होती, क्योंकि इससे उसकी बहुत सी बुरी वासनायें उद्दीप्त हो जाती हैं और वह मनुष्य भविष्य जन्म में हमारे साथ अप्रिय सम्बन्ध को लेकर उत्पन्न होता है, वास्तविक अपराधी यद्यपि विरला ही होता है, क्योंकि कष्टपूर्ण वातावरण ही अधिकांश अपराधियों को उत्पन्न करता है, तथापि यदि कोई हो भी तो उसकी स्थिति वास्तव में दयाजनक होती है। उसे अत्याचार और वर्बरता की आवश्यकता नहीं है, इससे तो उसकी समाजविरोधी भावना और भी भड़क जायेगी, वरन् उसे उचित उपचार और शिक्षण की आवश्यकता है, जिससे कि वह अपने कार्यों और भावनाओं द्वारा सामान्य नागरिकता की श्रेणी में आ जायेगा। राज्य की ओर से उन लोगों का ध्यान रखा जाता है जो शारीरिक या मानसिक विकारों से ग्रस्त होते हैं; एक अपराधी के

साथ भी वैसा ही वर्ताव किया जाना चाहिये जो या तो मानसिक विकार से ग्रस्त होता है या भाविक विकार से। यह मनोवृत्ति प्रेम की होगी, जोकि श्री गुरुदेव का दृष्टिकोण है।

यह सब आदर्श वास्तविक, पूर्णतया स्पष्ट और व्यावहारिक हैं। एक अपराधी और बालक दोनों की ही सहायता शिक्षाद्वारा की जानी चाहिये, भय दिखा कर नहीं। बालकों को भयभीत करने की पद्धति का परिणाम बहुत ही बुरा होता है। इसके द्वारा उनके जीवन में भय, संताप और कपट का प्रवेश होता है, और यह प्रायः ही उनके चरित्र और सद्नागरिकता के लिये विनाशकारी होता है। यह धर्म के उस नरकसम्बन्धी विचार का ही एक दूसरा रूप है। किंतु नरक भी तो उनके लिये यही बनाते हैं जिससे कि यदि यथेष्ट चातुर्य हो तो बचाया जा सकता है। लोगों ने सोचा था कि दूसरों को भय दिखाकर वे उन्हें भला बना सकते हैं। आश्चर्य है कि यह विचार अभी तक प्रचलित है। कुछ समय पहिले हमारे एक वर्तमानकालीन प्रमुख उपन्यास लेखक ने मुझे लिखा था कि एक बार समुद्र किनारे वह एक युवक से मिला और उसे थिऑसोफ़ी विषयक कुछ बातें बताईं, उसी क्रम में उसने उसे यह भी बताया कि नरक का सिद्धांत सर्वथा असंगत है। कुछ समय के पश्चात् उस युवक की माता क्रोध से भरी हुई उस लेखक के पास गई और बोली कि "केवल इसी एक उपाय द्वारा अर्थात् प्रतिदिन और प्रति-समय नरक की धमकी दे देकर ही तो मैं इस लड़के को अनुशासन में रख सकती थी। अब जब कि तुमने उसे

बालक का मस्तिष्क कुसुम के समान विकसित हो सके। केवल एक उपाय द्वारा आप बालक को सच्चे और उपयोगी रूप से किसी भी विषय की शिक्षा दे सकते हैं, वह यह कि प्रारंभ से ही उसके हृदय में अपने लिये प्रेम उत्पन्न कर लीजिये। उसके पश्चात् आप उससे कुछ सीमा तक नैतिक आग्रह करते हैं, क्योंकि यदि वह कोई भूल करता है तो आप व्यथित और दुखी दिखाई पड़ते हैं। यह नितांत युक्त है, क्योंकि आपको सचमुच ही दुख होता है। यदि आप अपने शिष्य को प्रेम से वश में करना प्रारंभ करते हैं, तो आप उसके प्रेम को जाग्रत करके उससे कुछ न कुछ करवा ही लेते हैं। बालकों को शिक्षा देने के लिए मनुष्य में कुशल बुद्धि, प्रेमपूर्ण हृदय और सागर जैसे विशाल धैर्य का होना आवश्यक है। उसे बालकों द्वारा होने वाली भूलों को अवश्य समझना चाहिये, और फिर उन्हें उनकी अपनी ही रीति से सुधारना सिखाने की योग्यता भी अवश्य होनी चाहिये। यदि आप बल और बर्बरता से काम करना आरंभ करते हैं, तो आप उनमें विरोध भावना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं उभार पाते और तब आप उनसे कोई भी उत्तम कार्य नहीं करवा सकते।

साधारण जीवन में भी ऐसा ही हुआ करता है। यदि कोई एक व्यापारी किसी दूसरे व्यापारी के साथ मिल कर लाभ उठाना चाहता है तो वह उससे मधुरतापूर्वक बात करता है और उसे यह विश्वास दिलाने की चेष्टा करता है कि जिस व्यवसाय का वह प्रस्ताव कर रहा है, वह दोनों के ही लिये लाभदायक होगा। उसे उस दूसरे व्यापारी को खदेड़ने की चेष्टा करके व्यापार आरम्भ

करने की बात कभी नहीं सूझेगी। इससे तो केवल विरोध ही उत्पन्न होगा और परस्पर मित्रता होनी असंभव हो जायेगी। बालक-बालिकायें भी मानव हृदय रखते हैं, और यदि आप उन्हें प्रारंभ में ही विरोधी न बना कर अपने पक्ष में कर लेंगे, तो उनसे कहीं अधिक काम करवा सकेंगे। यह उन लोगों के अनुभव के विषय हैं जो शिक्षा देने का प्रयत्न करते हैं। कोई भी शिक्षक चाहे कितना भी चतुर और विद्वान् क्यों न हो, यदि वह बालकों को आकर्षित करके उनका प्रेम प्राप्त न कर सके, तो वह इस सम्माननीय उपाधि के योग्य नहीं; यह बात तो सबसे पहिले वांछनीय है। हमारे ये महर्षिगण इसी पद्धति के अनुसार शिक्षा देते हैं; वे कभी बलप्रयोग नहीं करते, और न कभी आज्ञाही देते हैं, वरन् वे हमें उचित मार्ग को दिखला कर अपना अनुकरण करने के लिए उत्साहित करते हैं।

"कर्मविधान के निकट प्रथा का कोई महत्व नहीं है; और क्रूरता का कर्मफल सबसे भयंकर होता है। कम से कम भारतवर्ष में तो ऐसी प्रथाओं के पक्ष में कोई युक्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि अहिंसा का सिद्धांत यहां एक सर्वविदित बात है।"

लेडबीटर—एक अध्यापक अन्य धन्धों के समान ही शिक्षण कार्य को भी जीविकोपार्जन का ही एक साधन समझता है। तौ भी, कर्म के विधाता देवगण इस विषय को इस दृष्टि से नहीं देखते। वे तो मनुष्य को ऐसी विशेष स्थिति में पहुंचा कर उसे सेवा का अवसर प्रदान करते

हैं। यदि वह इस पद को ग्रहण करता है, और ध्यानपूर्वक, कौशलपूर्वक और प्रेमपूर्वक अपने कार्य का संपादन करता है, तो उसका यह कर्म भविष्य जन्म में उसे संभवतः एक धर्मशिक्षक के पद पर पहुँचा देगा। वहां से उसके लिये एक महान् सन्त अर्थात् मनुष्य जाति के एक महान् हितकारी बनने का मार्ग खुल जायेगा। कर्म के विधाताओं के दृष्टिकोण से तो शिक्षक का पद जीवन के कुछ उच्च वरदानों को प्राप्त करने का ही साधन है।

एक अध्यापक को यह समझना चाहिये कि प्रत्येक बालक एक जीवात्मा है, और उसके चरित्रविकास के लिये उसे प्रत्येक संभव सहायता देनी चाहिये। उसे स्वभावतः ही एक बड़ा अवसर प्राप्त होता है, क्योंकि उसी के संरक्षण में बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं और वह उनके चरित्र को अपनी इच्छानुसार गढ़ सकता है। इस प्रभाव की शक्ति के विषय में एक बार एक विख्यात ईसाई भक्त ने कहा था कि "ग्यारह वर्ष की आयु तक एक बालक को मेरे पास रहने दो और तत्पश्चात् वह चाहे जहां जा सकता है।" शिक्षक के व्यक्तित्व और आचरण का प्रभाव भी बालकों पर उतना ही पड़ता है जितना कि उन्हें दी गई किसी भी मौखिक शिक्षा का। एक आदर्श व्यक्ति अपने प्रेम द्वारा एक प्रबल और शक्तिशाली प्रभाव डाल सकता है। उसकी भी स्थिति महान् उत्तरदायित्व की होती है, क्योंकि यदि वह अपने संरक्षण में रहने वालों के हृदय में प्रेम और सद्गुणों को जाग्रत करने के स्थान पर उनमें भय और कपट उत्पन्न करता है, तो वह उन जीवात्माओं की उन्नति को रोकता है, और

करता है।
इस प्रकार एक बहुत बड़ी क्रियात्मक बुराई
ऐसे अवसरों का दुरुपयोग करने से मनुष्य का
भयानक पतन होता है। ऐसे स्थानों पर की गई क्रूरता
का परिणाम बहुत ही भयंकर होता है। कभी-कभी तो
हमने मनुष्य को अपने इस कर्म के कुफल को इसी रूप
में भोगते देखा है, किंतु बहुधा ऐसी क्रूरता के फलस्वरूप
उसे पागलपन और उसके अल्पांश में हिस्टीरिया या
नाड़ीरोगों जैसे अनेक कष्टदायक रोग प्राप्त हुआ करते हैं।
बहुत से लोगों की तो इसके फलस्वरूप सामाजिक श्रेणी
में विलक्षण और प्रलयंकर रूप से अधोगति हुई है। जिस
मनुष्य ने यथोचित उत्तम स्थिति को पाकर भी क्रूरता
के कार्य किये हैं, उसके फलस्वरूप वह अपने को नीचजाति
में उत्पन्न हुआ पाता है। उदाहरणार्थ, मैंने ऐसी घटनायें
देखी हैं जिनमें बालकों के प्रति क्रूरता करने के फलस्वरूप
ब्राह्मणों को चांडाल जैसी नीच जाति में जन्म लेना पड़ा
है। अस्तु, यह बात प्रत्यक्ष है कि कर्म के अधिष्ठाता देव
जगत् के महान् कर्मविधान का संचालन करते समय
इन बातों को उसी दृष्टिकोण से देखते हैं, जो श्री गुरुदेव
का है।

एक स्कूल-शिक्षक के समान ही उस मनुष्य को भी
सेवा का ही अवसर दिया जाता है जो किसी कारखाने
का संचालक है अथवा किसी बड़े व्यापार का अध्यक्ष
है। मनुष्य को ऐसे पद की आकांक्षा इस लिए होती है
कि इसके द्वारा उसे अच्छा वेतन पाने का अथवा बहुत
सा धन कमाने का अथवा कुछ सीमा तक सत्ता भी प्राप्त
करने का अवसर प्राप्त होता है। किंतु कर्म के विधाता

तो यहाँ भी उसे उसकी आधीनता में काम करने वालों की सहायता करने का ही एक अवसर प्रदान करते हैं। एक स्वामी बहुधा अपने अधिकृत कर्मचारियों के प्रति प्रकट रूप से विरोधी भाव रखता है। वह सोचता है कि वे लोग उससे अधिक से अधिक प्राप्त कर लेना चाहते हैं, और उसके द्वारा विभिन्न प्रकार से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। दूसरी ओर उसके कर्मचारी समझते हैं कि यह मनुष्य हमें कुचल डालना चाहता है और कम से कम वेतन में हमसे अधिक से अधिक काम लेना चाहता है। दुर्भाग्य से यह बात सत्य है कि कभी कभी दोनों ही पक्षों का विचार ठीक होता है। ऐसी वृत्ति रखने वाले स्वामी भी वर्तमान हैं, और ऐसे कर्मचारी भी अनेकों ही हैं जो अपने स्वामी के साथ ऐसा ही वर्ताव करते हैं। किंतु एक बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को इस दृष्टि से नहीं देखेगा। वह समझेगा कि कर्म के विधाता देव इस विषय को केवल इसी एक रूप में देखते हैं कि यह स्थिति मनुष्य को अनेक लोगों के जीवन में सहायक बनने का अवसर प्रदान करती है। कर्म के विधाताओं का दृष्टिकोण प्रायः हमारे दृष्टिकोण के समान नहीं होता। उदाहरणार्थ, मनुष्यमात्र प्रायः ही मृत्यु को एक भयानक कष्ट और कठोर दंड मानता है, परन्तु बहुधा उन्हें यह पारितोषिक के रूप में ही दी जाती है, जिसके द्वारा मनुष्य अधिक उत्तम और आशाजनक स्थितियों में जाने के लिये मुक्त हो जाता है।

"क्रूरता के कर्म का फल उन लोगों को भी निश्चय ही मिलता है,

जो जान बूझ कर ईश्वर के रचित प्राणियों की हत्या करने जाते हैं और उसे 'शिकार' कह कर पुकारते हैं।'

लेडवीटर—इंगलैंड के ग्रामों की स्थिति के संबंध में पुंच (Punch) नामक लेखक ने अपने नाटक में जो यह परिहास किया है कि "आज बहुत सुहावना दिन है, चलो हम बाहर चलें और किसी की हत्या करें!" वह कोई बहुत अनुचित नहीं है। इंगलैंड के देहाती चर्च के पादरी होने के नाते में उन विशेष प्रकार के लोगों के निकट संपर्क में रहा हूं जो गोली चलाते, शिकार खेलते और मछलियां पकड़ते हैं। वे लोग अपने नियमित नित्य के धंधों के समान ही इन कार्यों को भी करते थे और उनके वार्तालाप का मुख्य विषय भी यही रहता था। तथापि, चाहे इस बात पर विश्वास करना किसी को कितना ही कठिन क्यों न लगे, अपने साथी मनुष्यों के प्रति वे लोग पूर्णतया सज्जन और दयालु थे; वे एक भले पिता, भले पति, उदार न्यायाधीश और भले मित्र थे; किंतु इस कार्य विशेष में उन्हें कोई बुराई प्रतीत नहीं होती थी। उन्हीं में से एक मनुष्य जो हरिनों और अधिक से अधिक तीतर पक्षियों को तो विना किसी संकोच के मार देता, किंतु एक बीमार कुत्ते के पास बैठ कर सारी रात बिता देता था, जिससे प्रकट होता था कि उसके हृदय में भी दया थी और पशुओं के प्रति भी उसमें कुछ न कुछ भ्रातृभावना वर्तमान थी। समस्त क्रूरता एक प्रकार की मानसिक अन्धता के कारण ही हुआ करती है। उनमें बुद्धि का उतना अभाव नहीं है, किंतु उन्होंने इस विषय पर कभी विचार

ही नहीं किया, बल्कि इस बात को सत्य मान लिया है कि यह सब प्राणी उनके उपयोग के लिये और उस प्रसन्नता के लिये जो कि चतुराई से उनको मारने में उन्हें प्राप्त होता है, उत्पन्न किये गये हैं। ऐसी ही विचारहीनता के कारण लोग मांस खाते हैं। जब मैं युवा था तो मैंने भी खाया था—और जब तक मुझे इस विषय पर एक पुस्तक न मिली—जो कि थिओसोफ़िकल सोसायटी की स्थापना से भी बहुत पहिले की बात है—तब तक मुझे इसमें कोई दोष दिखाई न दिया था।

जब हमने एक बार यह जान लिया कि ऐसा 'खेल' एक भयानक वस्तु है और इन बातों का अनुकरण करके हम ईश्वर के प्राणियों की हत्या में भाग ले रहे हैं, तो हमें आश्चर्य होता है कि यह बात पहिले हमारे ध्यान में क्यों न आई। सहस्रों ही मनुष्यों ने इसकी बुराई को अभी तक भी नहीं समझा है। उन पर तो प्रथा का जादू छाया हुआ है और उन्होंने कभी इसके द्वारा होने वाली भयंकर हानि का विचार नहीं किया। शृंगार के कुछ उपकरणों के विषय में भी यही बात है। उदाहरणार्थ, कुछ प्रकार के पर (Feathers) ऐसे होते हैं जो पशुओं के जीवन के भयानक मूल्य पर—न केवल उस एक जीव की मृत्यु और कष्ट पर, वरन् उस पर अवलंबित रहने वाले अन्य छोटे छोटे जीवों के मूल्य पर ही प्राप्त किये जा सकते हैं। ऐसी वस्तुओं को धारण करने वाले मनुष्य निश्चय ही क्रूरतापूर्ण असावधानी करते हैं। ऐसे लोग जानबूझ कर निर्दयता नहीं करते, वे तो केवल प्रथा का अनुकरण करते हैं। तौभी, कर्मविधान तो अपना काम करेगा ही। हो सकता है

कि एक मनुष्य अनमना हुआ पर्वत के कगारे के ऊपर से निकल जाये; किंतु यह सचाई कि वह यह जानता न था कि वह कहां जा रहा है, उसके उस कार्य के परिणाम में परिवर्तन नहीं कर सकती।

"मैं जानता हूं कि ऐसे कार्य तुम नहीं करोगे; और जब अवसर प्राप्त होगा तो ईश्वर के प्रेम के लिये ही उन सबका स्पष्ट विरोध करोगे।"

लेडबीटर—यहां हमें "जब अवसर प्राप्त हो" इन शब्दों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। हम अपने विचारों को दूसरों पर बलात् लादना नहीं चाहते, अतः ऐसे विषयों पर मनुष्य तभी बोलता है जब उसका मत पूछा जाता है, अथवा जब यह विषय स्वाभाविक रूप से ही उसके सामने आजाता है। अपने निजी विचारों को, चाहे वे कितने ही उत्तम क्यों न हों बिना पूछे व्यक्त करने से प्रायः लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। ऐसा करने वाले झगड़ालू लोग रोष ही उत्पन्न किया करते हैं। यदि कोई राहचलता मनुष्य आपके पास आकर आपको पूछे कि आपने कृष्ण के दर्शन किये हैं या नहीं अथवा आपने आत्मोन्नति की है या नहीं, तो उसका आप पर कोई अनकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा, और बहुधा आपकी भावना यही होगी कि जब कि यह मनुष्य इतना कौशलविहीन है, तो उसे धर्म के विषय में सच्ची जिज्ञासा नहीं हो सकती। यदि कोई अनकूल अवसर प्राप्त हो तो मनुष्य किसी को इस विषय की कोई पुस्तक या लेख पढने के लिये दे सकता

है अथवा नम्रता व शांतिपूर्वक इस पर वार्तालाप कर सकता है। किंतु यदि आपको कहीं बहुत से शिकारी मिल जायें तो मेरी सम्मति में आपको तुरंत ही ऐसा कहने नहीं लग जाना चाहिये कि "यह तो एक बहुत बड़ा पापकर्म है"। यद्यपि यह पापकर्म अवश्य है। यदि मेरा विचार पूछा जाये तो मैं शांतिपूर्वक ऐसे कहूंगा कि "सभी प्राणियों में ईश्वर का अंश है, और यह पशुपक्षी सचमुच ही हमारे छोटे भाई हैं; और जिस प्रकार आपको अपने आनंद के लिये मनुष्य को मारने का अधिका नहीं, उसी प्रकार इन्हें भी मारने का कोई अधिकार नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि वे इससे विस्मित होंगे, और कदाचित् छिपे रूपसे आपसे मेरा उपहास भी करें, किंतु इससे वे इस विचार का उतना प्रबल विरोध न करेंगे जितना कि हमारे कठोर शब्द कहे जाने पर करते!

हम लोगों को, जोकि शाकाहारी हैं, यदि मांसाहारियों के साथ बैठ कर खाना पड़े तो बहुधा अरुचि उत्पन्न हुआ करती है, तथापि यात्रा करते समय प्रायः यह बात टल नहीं सकती। तोभी, उस समय हमारी भावना को इस प्रकार प्रगट करना उचित नहीं होता। दूसरों के विचारों में परिवर्तन करने का उपाय निश्चय ही यह नहीं होता। किंतु यदि वे हमारे विचार पूछें, तो हम संयत भाषा में, दृढ़तापूर्वक किंतु शांतिपूर्वक, अपना मत प्रगट कर सकते हैं। यदि हम ऐसा करते हैं, तब यदि वह मनुष्य हमारी बात पर विचार करना आरंभ कर दे तो उसका हमारे विचारों से सहमत हो जाना संभव है।

———

"किंतु वाणी में भी उतनी ही क्रूरता होती है जितनी कि कार्यों

में, और जो मनुष्य दूसरे को व्यथित करने के उद्देश्य से कोई बात कहता है वह इसी दोष का भागी है। यह बात भी तुम नहीं करोगे; किंतु कभी कभी बिना विचारे कहा गया शब्द भी द्वेषपूर्वक कही गई बात के समान ही हानि कर दिया करता है। अतः तुम्हे इस प्रकार की अनजानी क्रूरता से भी सर्वदा सतर्क रहना चाहिये।"

लैडबीटर—कुछ लोगों को इस का गर्व होता है कि जो कुछ उनके मन में होता है उसे वे स्पष्ट कह देते हैं, चाहे इससे दूसरे को व्यथा ही क्यो न पहुंचे; और वे लोग इस बात को एक गुण मानते प्रतीत होते हैं। श्री गुरुदेव, जोकि कभी एक शब्द भी विना विचारे नहीं बोलते, कहते है कि यदि शब्दों में क्रूरता हो तो यह भी एक पाप है। वादविवाद या तर्क करते समय हमें अपने विषय का समर्थन करने से रुकने की आवश्यकता नहीं, किंतु उसी बात को हम विचारपूर्वक और विनयपूर्वक कह सकते है। क्राइस्ट ने कहा था कि "प्रत्येक मनुष्य को अपने विश्वास की पूर्ण प्रतीति होनी चाहिये; "इसका अर्थ यह नहीं कि हम दूसरों को भी उन्हें मानने पर विवश करे, किंतु उसे स्वयं अपने विश्वास के आधार का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। जब ऐसा होगा तो आवश्यकता पड़ने पर वह अपने विचारों को नम्रता और संयमपूर्वक व्यक्त कर सकेगा।

यह एक विचित्र सचाई है कि अधिकांश लोग थोड़ा बहुत क्रोधित हुये बिना दूसरों से अपना मतभेद प्रगट कर ही नहीं सकते, यद्यपि वे जानते हैं कि संसार में सहस्रों ही प्रश्न ऐसे हैं जिन पर अनेक पक्षों से बहुत कुछ कहा

जा सकता है, और प्रत्येक विचार दूसरे विचार के समान ही समर्थनीय है। एक कैथोलिक ईसाई तथा आरेंज नामक संस्था के ईसाइयों का परस्पर वादविवाद बहुधा मारपीट में ही समाप्त हुआ करता है और उसमें दूसरे की प्रतीति कराने योग्य कोई युक्ति उपस्थित नहीं की जाती। यदि एक मनुष्य का दूसरे से मतभेद है, तो वह उसे एक प्रकार का अपमान समझता प्रतीत होता है। ऐसे मनुष्य को इस बात का पूर्ण निश्चय रहता है कि उसका निजी विचार तो उचित है और उससे असहमत होने वाला व्यक्ति पूर्वनिश्चित द्वेष के कारण ही जानबूझ कर उन्हें मानना अस्वीकार करता है। अतः हमें अपने विचारों को दूसरों के सम्मुख प्रकट करने की रीति के विषय में सावधान रहना चाहिये।

थिऑसोफ़ी के विषय में एक विशेष प्रलोभन रहा करता है, क्योंकि हमारे विश्वास का आधार निश्चय ही युक्तियुक्त होता है और हम लोगों को केवल यही समझाने का यत्न करते हैं; तथापि दूसरा व्यक्ति इसे ऐसा नहीं समझ सकता। युक्ति चाहे कैसी ही पूर्ण और तर्कसंगत क्यों न हो, उसके द्वारा एक सामान्य मनुष्य का प्रभावित होना अनिवार्य नहीं। उसके विश्वास का आधार युक्ति नहीं, वरन् उसकी भावना होती है; और यदि किसी के कथन से उसकी भावनायें उद्दीप्त हो जायें, तो फिर बड़ी से बड़ी युक्ति से भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती, और हम जितना ही अधिक कहेंगे उतना ही वह अधिक क्रोधित होगा।

"सामान्यतः इस क्रूरता का कारण "अविचार" हुआ करता है। एक मनुष्य लोभ और लिप्सा में इतना ग्रस्त हो जाता है कि उसे कभी यह विचार ही नहीं आता कि दूसरों को बहुत थोड़ा मूल्य देकर अथवा उनके स्त्री-संतान को अर्ध-क्षुधित रख कर वह उनके कितने अधिक दुख कष्ट का कारण बन रहा है। दूसरा एक मनुष्य केवल अपनी ही वासना का विचार करता है और उसकी तृप्ति के लिये वह कितनी आत्माओं और कितने शरीरों का नाश करता है, इस पर तनिक भी ध्यान नहीं देता। एक और मनुष्य केवल अपना थोड़ा सा श्रम बचाने के लिये अपने मजदूर कारीगरों को समय पर वेतन न देकर उन्हें कितनी कठिनाइयों में डाल देता है, इसका कुछ भी विचार नहीं करता। इतना अधिक दुख केवल विचार के अभाव से, अर्थात् हमारे कार्यों का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है इस बात को भूल जाने से उत्पन्न होता है। किंतु कर्मविधान इसे कभी नहीं भूलता और इस सचाई को कुछ भी विशेषता नहीं देता कि मनुष्य भूल ही जाया करते हैं। यदि तुम्हें इस पथ पर आरूढ़ होने की आकांक्षा है तो तुम्हें अपने कार्यों के परिणाम का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, ऐसा न हो कि तुम अविचारजन्य क्रूरता के दोषभागी बन जाओ।

———

लैडबीटर—किसी वस्तु के उचित मूल्य की अपेक्षा कुछ कम मूल्य देने से हम उस वस्तु के कारीगर तथा उसके स्त्री-संतान के बहुत अधिक दुख का कारण बन सकते हैं। किसी के दैनिक वेतन में से कुछ आने काट लेने का अर्थ यह हो सकता है कि उस कुटुम्ब को अपर्याप्त भोजन मिला। 'व्यापार तो व्यापार ही है' यह मैं जानता हूँ, किंतु आवश्यकता पड़ने पर निर्धनों को पीसने का पाप भागी बनने

की अपेक्षा कुछ कम कमा लेना ही अच्छा होता है। यह बात अब स्वामीवर्ग की समझ में आ रही है कि अच्छा वेतन देना अन्त में लाभदायक होता है, जैसा कि हेनरी फ़ोर्ड को जो कि संसार का सबसे बड़ा धनवान् व्यक्ति गिना जाता है, अनुभव हुआ है। एक पादरी होने के नाते मैं निर्धन वर्ग के लोगों में आया जाया करता था और सब बातों को उनके दृष्टिकोण से देखा करता था, और मैंने देखा है कि लोग बहुधा ही उनके असहायपन का अनुचित लाभ उठाते हैं। भारतवर्ष में भी यही बात थी, जहाँ कभी-कभी अछूतों के स्कूलों में बालक सचमुच ही भूख से अचेत रहा करते थे, जब तक कि हम उन्हें भोजन पहुँचाने का प्रबन्ध न कर देते।

अट्ठाईसवां परिच्छेद

अन्धविश्वास

"अन्धविश्वास एक दूसरी अत्यन्त प्रबल बुराई है, जो बहुत भयानक क्रूरताओं का कारण रही है। जो मनुष्य अन्धविश्वास का दास है, वह अपनी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् मनुष्यों की अवहेलना करता है, और जो काम वह स्वयं करता है, वही उन्हे भी करने के लिये बाध्य करने की चेष्टा करता है।

लेडवीटर—अन्धविश्वास कभी लोगों की प्रकृति की भिन्नताओं का विचार नहीं करता। अन्धविश्वासी लोगों का किसी न किसी प्रकार का विश्वास रहा ही करता है जिसे वे सभी के मन में समान रूप से जमाना चाहते हैं; वे इस बात को नहीं समझते कि कदाचित् कुछ नीरस वैज्ञानिक सचाइयों के अतिरिक्त आप किसी भी बात के प्रति सब को समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकते, क्योंकि संसार में जितने व्यक्ति हैं उतने ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण भी होते हैं। यहाँ तक कि यदि आपका बहुत से लोगों से परिचय हो तब भी आपको कदाचित् ही कोई दो व्यक्ति ऐसे मिलें जिन पर परिस्थितियों का समान प्रभाव पड़ा हो। लोगों की एक बड़ी संख्या पर सामान्य रूप से पड़ने वाले किसी प्रभाव का भविष्य कथन तो आप अवश्य कर सकते हैं, किंतु जब तक आप उन्हें भली प्रकार जान न लें तब तक इसका ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक बातों का उन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अस्तु, अन्य बातों के साथ साथ अंधविश्वासी लोगों में सहानुभूति का भी बहुत बड़ा अभाव हुआ करता है। अंधविश्वास से ग्रसित व्यक्ति यह नहीं समझता कि संसार में उसके दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य दृष्टिकोण भी वर्तमान हैं।

अंधविश्वास केवल मनुष्य के अपने लिये ही हानिकर नहीं है, वरन् इसकी प्रधानता होने पर मनुष्य सदा अन्य लोगों को भी बाध्य करने की चेष्टा करता है। संपूर्ण इतिहास बताता है कि धार्मिक अंधविश्वास द्वारा भयानक कष्टों की उत्पत्ति हुई है। इसी के कारण मुहम्मद के अनुयायियों ने भिन्न भिन्न कालों में एशिया, योरूप और अफ्रिका

के विस्तृत प्रदेशों में तलवार के बल पर इस्लाम का प्रचार करते हुए रक्तपात और हत्याकांड किये हैं। जिस अंध-विश्वास ने ईसाईयों में धार्मिक परीक्षा और दंड की प्रथा उत्पन्न की थी उसका वर्णन पहिले ही किया जा चुका है। संट बारथोलोमियो (St. Bartholomew) और सिसीलियन वेस्पर्स (Sicilian Vespers) के हत्याकांड भी जब कि प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक ईसाईयों ने एक दूसरे का संहार किया था, इस अंधविश्वास के ही परिणाम थे। इस अन्तिम घटना का कारण अंशतः राजनीति भी थी, किंतु पहिली घटना का कारण तो सर्वथा धार्मिक अंधविश्वास ही था। उस हत्याकांड के लिये ईसाईयों के भिन्न-भिन्न संप्रदायों की परस्पर दुर्भावना ही बहुत अंशों में उत्तरदायी थी, यद्यपि निःसंदेह उसमें कुछ भाग राजनीति का भी था। जैसे कि कौंस्टनटाइन बादशाह जब ईसाई बना, तो उसने इसे बीजैन्टाइन साम्राज्य की तत्कालीन राजनीति में भाग लेने का ही एक उपकरण समझा था।

ईसाईयों के धार्मिक युद्ध भी एक दूसरे प्रबल अन्ध-विश्वास के कारण ही हुये थे। महात्मा जीसस के जीवन और मृत्यु संबंधी एक कथा के कारण, जिसका कि वास्तव में कोई आधार नहीं, उनके जीवन की घटनाओं के क्षेत्र पैलेस्टाइन पर ईसाईयों का आधिपत्य प्राप्त करने के लिये दो करोड़ मनुष्यों ने अपने प्राण दे दिये। यदि उन्हें यह बात समझा दी जासकती कि प्रत्येक महान् आत्मा का यही जीवनवृत्तांत रहा है और वह सभी देशों में किसी न किसी काल में इसी प्रकार घटित होता रहा है, तो कदाचित् उतने

प्राणों की हानि न होती। तथापि, वह हानि कदाचित पूर्ण रूप से हानि ही न थी क्योंकि अपने से अधिक सुसंस्कृत अरब लोगों के साथ युद्ध करने जाकर ईसाई लोग कुछ उपयोगी सूचनायें योरुप में लाये, और इसके साथ वे लोग एक ऐसे आदर्श के लिये प्राणत्याग करने को उद्यत थे, जिसे कि उन्हें धर्मतः उचित बताया गया था। निःसंदेह इस विचार में कुछ तो शूरवीरता और सुंदरता अवश्य थी कि प्रत्येक धर्मस्थान उस धर्म के ही अनुयायियों के अधिकार में रहना चाहिये। तो भी, समय ने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस घटना विशेष में ईसाईयों की असफलता एक सौभाग्य ही था। उस पवित्र स्थान में मुसल्मान सैनिकों को ईसाईयों के लैटिन और ग्रीक दो प्रतिद्वंदी संप्रदायों के बीच शांति रखनी पड़ी थी, क्योंकि यह लोग सदा ही पवित्र अग्नि के लिये और क्राइस्ट के समाधिस्थल पर पहिले जाने के लिये लड़ते रहते हैं।

वर्तमान में भारतवर्ष में भी हमारे सम्मुख यही समस्या है, किंतु कोई भी मनुष्य धार्मिक युद्ध करके इसका समाधान करने की बात नहीं सोचता। बौद्धों के सभी धर्मस्थान-जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया, जहाँ उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया और जहां उन्होंने देहत्याग किया—हिन्दू धर्म के अनुयायियों के अधिकार में हैं। बौद्धों को अपने धर्मस्थानों पर अधिकार करने की तीव्र उत्कंठा है, किंतु बौद्ध-राष्ट्रों को इन्हें युद्ध द्वारा विजित करने का विचार कभी नहीं आया। हम इसके लिये उनके कृतज्ञ हो सकते हैं, क्योंकि बुद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या पचास करोड़ के लगभग है। उनका धर्म ही उन्हें ऐसे किसी भी अनुचित कार्य के लिये

निषेध करता है। कुछ बौद्धों ने उस स्थान को खरीदने का प्रयत्न किया था और वे इसमें लगभग सफल भी हो गये थे। थिऑसोफ़िकल सोसायटी ने इन्हें इस कार्य में सहायता दी थी, किंतु दुर्भाग्य से उस धन का एक बड़ा भाग एक मुकदमे में व्यय हो गया और वह योजना सफल न हो सकी।

बौद्ध धर्म के अतिरिक्त और कोई ऐसा महान् धर्म नहीं है जिसने कभी किसी पर अत्याचार न किया हो। अपने मूल सिद्धांतों के कारण यह ऐसा कर भी नहीं सकता था। स्वयं इस धर्म के संस्थापक के शब्दों ने ही इसे सहिष्णुता की मर्यादा से बांध रखा है। बौद्ध कौन है? वही जो भगवान् बुद्ध के उपदेशानुसार आचरण करता है: वह नहीं जो कि उनके किसी उपदेश में केवल विश्वासमात्र रखता है, वरन् वह जो वैसा ही आचरण करता है जैसा कि भगवान् बुद्ध के कथनानुसार मनुष्य को करना चाहिये। यदि आप किसी ईसाई धर्म-प्रचारक से पूछेंगे कि एक श्रेष्ठ बौद्ध का भविष्य क्या होगा? तो प्रायः वह यही उत्तर देगा कि "यदि उस मनुष्य का क्राइष्ट में विश्वास नहीं है तो उसके लिये कोई आशा नहीं।" अथवा बहुत होगा तो वह उसे ईश्वर की अनमांगी अनुकंपा पर छोड़ देगा। किंतु यही प्रश्न यदि आप किसी बौद्ध से एक श्रेष्ठ ईसाई के विषय में पूछें तो वह कहेगा कि "वह तो एक बौद्ध ही है, चाहे वह अपने आपको ईसाई कहता है, किंतु वह भगवान् बुद्ध के उपदेशानुसार ही आचरण करता है, अतः उसका सब प्रकार से कल्याण होगा।" बौद्ध धर्म की सहिष्णुता ऐसी ही है, जैसा कि मैं पहले बता

चूका हूं। यह सच है कि सभी धर्म असहिष्णुता और हिंसा का निषेध करते हैं, किंतु उनमें से कुछ धर्मों में कुछ सीमा तक जो अज्ञानता और धर्मांधता है, उसने उनके अनुयायियों को इस सरल सत्य के प्रति अंधा बना दिया है।

अंधविश्वास का एक रूप जातिघृणा है, जिसमें कि एक जाति दूसरी संपूर्ण जाति के प्रति तिरस्कार की भावना रखती है; यह भी एक मूर्खता है, क्योंकि प्रत्येक जाति में भले और बुरे दोनों ही प्रकार के लोग होते हैं। मुझे स्मरण है कि इंगलैंड के दूरवर्ती गांवों में एक हिज़ार
के प्रति देहाती लोगों की भावना एक प्रक· है इसमें
शंकायुक्त और उपहासजनक रहती थी। (मक दिनों में
एक मनुष्य का भिन्न भाषाभाषी होना देवता बलियों
की वस्तु थी। तथापि कुछ देहाती लोग (की पूर्ति करने
इस विशेष बात मे हमारे सर्वसाधार होती थी, इसका
अविनीत हैं। मुझे तो सदा ऐसा प्रतीत उसे तो निरंतर
कोई विदेशी हमारे देश में आता है तो नका समर्पण उसी
के रूप मे आता है, और उसका मा ी देवता के नहीं।
अपने देश व जनता की उस पर अ ही भयभीत होकर
और सोलोमन के
हमारा कर्त्तव्य है।
इससे प्रकट होता है कि
नेपोलियन के समय में उपासना करते थे, वह वह
फैला हुआ था कि सभी फ्रां आज ईश्वर कहते हैं क्योंकि उस
वे लोग इस बात को भल ी उच्च कल्पना करने योग्य उन्नत न
पक्ष अनुचित और स ा अति प्राचीन अटलांटियन काल
लड़ते हैं। ऐसे स्थान य पक्ष था। इससे पहिले ही यहूदियों
के बहुसंख्यक लोग किस मिश्र देश) की सभ्यता से हो गया था,
हों और फलतः वह भा

विद्वेषपूर्ण रुचि रखता है और रक्तपात तथा अन्य वलियों द्वारा संतुष्ट किया जा सकता है; तीसरा यह कि वह सदा अपनी सृष्टि का एक सर्वप्रेमी पिता है।

पहला मत वास्तव में आधुनिक भौतिकवाद का है, जिसमें एक मूलस्रष्टा को भी स्वीकार कर लिया गया है। दूसरे मत में ईश्वर का वर्णन रक्तपिपासा से पूर्ण एक राक्षस के रूप में किया गया है। बहुत से ग्रन्थ ईश्वर के इस स्वरूप का मिथ्या वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ, यहूदियों के धर्मग्रन्थ में एक ही स्थान पर एक लाख बाईस हज़ार सांडों को बलि देने का वर्णन आता है। संभव है इसमें उन्होंने अत्युक्ति की हो, जैसा कि उन प्रारंभिक दिनों में उनका स्वभाव था। उनका जेहोवा नामक देवता वलियों की इच्छा रखता था और उसकी इस इच्छा की पूर्ति करने में कितने अधिक दुख कष्टों की उत्पत्ति होती थी, इसका उसे तनिक भी विचार नहीं होता था। उसे तो निरंतर बलि चढ़वाने की इच्छा रहती थी, जिनका समर्पण उसी के निमित्त होना चाहिये, और किसी देवता के नहीं। वर्तमान यहूदी इस कार्य के नाम से ही भयभीत होकर ठिठुक जायेंगे, किंतु प्रत्यक्ष ही डेविड और सोलोमन के समय में वे इससे नहीं ठिठुके। इससे प्रकट होता है कि जिस जेहोवा की उस समय वे उपासना करते थे, वह वह शक्ति न थी जिसे कि हम आज ईश्वर कहते हैं क्योंकि उस समय तक वे ईश्वर की उच्च कल्पना करने योग्य उन्नत न हुये थे, वरन् वह जेहोवा अति प्राचीन अटलांटियन काल से प्रचलित कोई बड़ा यक्ष था। इससे पहिले ही यहूदियों का संपर्क ईजिप्ट (मिश्र देश) की सभ्यता से हो गया था,

किंतु वहां के उच्च विचारों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा था। किंतु पीछे जाकर बेबिलोन शहर की आधीनता के समय में उन्होंने परमेश्वर के विषय में जानकारी प्राप्त की। तुरंत ही विलक्षण रूप से उन्हों ने उस ईश्वर का समावेश अपने जेहोवा में ही कर दिया; उनके उत्तर कालीन धर्मगुरुओं ने प्रतिभापूर्वक ईश्वर का वर्णन भी किया है, किंतु तो भी उनके वर्णन में उनके पुराने विचारों की छाप लगातार पड़ती रही है।

इन रक्तवलियों का संबंध मनुष्य के विकास की प्रारंभिक श्रेणियों से है। इसमें यक्ष उपासना का प्राथमिक यंत्र मंत्र भी सम्मिलित है, और इनका संबंध सदा उन यक्षों से ही होता है जिनका जीवन रक्त की गंध पर ही निर्भर होता है। इस यक्ष को वलियों की आकांक्षा रहती है, क्योंकि यह रक्त की गंध को पचा कर उसके द्वारा प्रत्यक्ष प्रकट होने की शक्ति प्राप्त करता है। लोग कहते हैं कि कुछ पहाड़ी असभ्य जातियों पर ऐसी बलियां न देने से विपत्ति आती है—उनकी खेती नष्ट हो जाती है और उनके घरों मे आग लग जाती है। अस्तु, संभवतः भारत के पहाड़ी देवी-देवता भी अटलांटिक काल के ही बड़े बड़े यक्ष हैं।

इस बात को हम निश्चित मान सकते हैं कि हमारे महर्षियों ने कभी ऐसे बलिदानों का समर्थन नहीं किया। उदाहरणार्थ, वेदों की मूल उक्तियों में तो इनका वर्णन निश्चय ही नहीं है, किंतु कुछ जंगली जातियों की परंपराओं के संपर्क में आने के कारण उनमें यह वर्णन आ गया है, जो कि किसी सीमा तक अभी भी वर्तमान है। भगवान् बुद्ध ने पशुवलि की प्रथा का विरोध किया था और सम्राट्

विंवसार को अपने राज्य से इसका लोप कर देने की राजाज्ञा घोषित करने के लिये उद्यत किया था।

यह स्पष्ट है कि ऐसा कोई भी देवता, जिसकी उपासना करने की इच्छा हो सकती हो, रक्त की भेंट की इच्छा नहीं करेगा; यद्यपि भुवर्लोक के कुछ यक्ष अप्सरादि तथा काम-रूपदेव इसके इच्छुक होते हैं। अस्तु, हमें शास्त्रों के उन स्थलों को जिनमें ऐसे बलिदानों का वर्णन आता है, मनुष्य के विकास के उसी काल से संबंधित समझना चाहिये जो कि बहुत पीछे छूट चुका है। कुछ लोग शास्त्रों की [illegible] के भय से इसका विरोध करना नहीं चाहते, किंतु [illegible] विशेष शब्द-समूह को सदा के लिये पवित्र और [illegible] समझना अंधविश्वास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। [illegible] बातों के समान शास्त्रों के प्रति भी हमें संकुचित [illegible] नहीं रखना चाहिये। जब हम किसी पुस्तक [illegible] तो उसमें से जो वाक्य हमें विशेष रूप से सुंदर [illegible] यक प्रतीत होते हैं, उन्हीं को हम महत्व देते हैं [illegible] रखते हैं। इसी प्रकार शास्त्रों से भी हमें [illegible] ग्रहण करना चाहिये जो सभी कालों के लिये [illegible] और महत् हों, और जो बातें हमारे विकास [illegible] श्रेणी के अनुरूप न हों उन्हें त्याग देना [illegible] हमारी भलाई है। रक्तबलियों का वर्णन [illegible] के कुछ भागों में भी आया है, किंतु हमें [illegible] जान लेना चाहिये कि ईश्वर को ये सब बलिदान निश्चय ही उन ईश्वर को एक दुष्ट द्य

करते रहना चाहिये।

ईसाई धर्म में एक बड़ी शोकजनक बात यह रही है कि बलिदान के इस विचार को क्राइस्ट के उन पवित्र उपदेशों के साथ निश्चित कर दिया गया है जिसमें कि उन्होंने ईश्वर का वर्णन एक प्रेममय पिता कह के किया है। यह सच है कि ईसाइयों ने ईश्वर को पशुवलियाँ अर्पण करने का कलंक कभी नहीं उठाया, किंतु उनकी बड़ी बड़ी संस्थायें अभी तक यह प्रचार कर रही हैं कि ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति है जिसे यदि संतुष्ट न किया जाये तो वह हमारा अमंगल करता है। उन्होंने इस असंगत बात का प्रचार किया है कि ईश्वर ने उन सब लोगों के स्थान पर जो कि नरक को जाने वाले थे, अपने ही पुत्र (क्राइस्ट) का बलिदान कर दिया। मेरे विचार में अधिकांश लोग तो कभी इस बात का विचार ही नहीं करते कि इस प्रकार के बलिदानों की अपेक्षा रखने वाला अथवा उनका अनुमोदन करने वाला देवता कैसा हो सकता है। आप किसी ऐसे भौतिक राजा की कल्पना कीजिये जिसने को पहिले तो बहुत से लोगों के लिये अकस्मात् ही भयंकर यातनाओं का दंड निर्धारित कर दिया और फिर उन्हें छोड़ दिया, क्योंकि उसके पुत्र ने आकर कहा कि "यदि आपको किसी न किसी का वध करना ही है, तो मेरा ही कीजिये; मैंने कोई बुरा काम तो नहीं किया, किंतु तो भी आप मेरा वध कीजिये और इन सब लोगों को छोड़ दीजिये।" अब विचार कीजिये कि उस राजा के विषय में आपकी क्या धारणा होगी? यह सिद्धान्त ईसाई धर्म का कदापि नहीं है।

कर्नल इनजरसोल का यह कथन ठीक है कि मनुष्य का श्रेष्ठतम कार्य ही एक सच्चा ईश्वर है। यह सत्य है कि जो राष्ट्र पहिले से ही उन्नति के शिखर पर था, वही वास्तव में एक महान् और प्रतिभाशाली ईश्वर की उच्च कल्पना कर सकता था। यह सच है कि हम अंग्रेजों के भूतकालीन पूर्वज जो कि जंगलों में घूमा करते थे और अपने शरीर को नीले रंग में रंगा करते थे, तथा वे झगड़ालू प्रकृति वाले प्राचीन यहूदी और दूसरे लोग ईश्वर के संबन्ध में एक भयंकर सी धारणा रखते थे, किंतु यह कोई कारण नहीं कि इस वर्तमान समय में भी हम उसी धारणा को लेकर चलते जायें।

तीसरा मत जो कि ब्रह्मविद्या का है, वह यह है कि ईश्वर मंगलमय है और उसने एक उद्देश्य को लेकर इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है, जिसकी पूर्ति करने में वह निरन्तर व्यस्त है, एवं संसार में होने वाली प्रत्येक घटना उसी के कार्य का अंग है। वह अपने जीवों को कुछ सीमा तक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति प्रदान करता है और वे जीव उसके द्वारा ऐसे कार्य करते हैं जो स्पष्ट ही उसकी महत् योजना के अनुकूल नहीं होते, तथापि, क्योंकि उनकी इच्छा भी ईश्वर की योजना का ही एक अंग है, अतः सभी कार्य उसी के अंग हैं।

जब हम कहते हैं कि ईश्वर मनुष्य को कुछ स्वाधीनता या स्वतंत्रता प्रदान करता है, तो हम यह स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि हम इस स्वतन्त्रता को सीमित और क्रमशः बढ़ने वाली समझते हैं। यदि मनुष्य अपनी प्राप्त शक्ति और स्वतन्त्रता का सदुपयोग करता है, तो उसे और भी

स्वतन्त्रता और शक्ति प्राप्त हो जायेगी। यह विधि एक शिशु को चलना सिखाने के समान जान पड़ती है। शिक्षक उस शिशु को प्रयत्न करने देता है, गिरने देता है, और फिर प्रयत्न करने देता है; क्योंकि यदि वह बालक गिरने के भय से सदा ही दूसरे का सहारा लेकर चलेगा तो अंत में अपाहिज हो जायेगा। परन्तु प्रारम्भ में चलना सीखते समय शिक्षक उसे पत्थर के फर्श पर, सीढ़ियों पर अथवा अन्य आशंकाजनक स्थानों पर अकेले जाने की स्वतन्त्रता नहीं देता। पीछे जब वह बालक बड़ा हो जाता है, तब यदि वह चाहे तो किसी सुन्दर दृश्य को देखने के लिये पर्वत के कगारे पर भी जा सकता है। ईश्वर भी हमारा शिक्षण करते समय इसी प्रकार हमारी रक्षा करता है, ताकि हम अपने जीवन का इतना अनिष्ट न कर सकें कि फिर वह सुधर ही न सके।

इस तीसरे मत की मान्यता निरन्तर बढ़ रही है। अब तो बहुत समय से ईसाई धर्म अपने धार्मिक मत की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो गया है, और बहुत से ईसाई अपने चर्च द्वारा प्रमाणित विचारों से कहीं उदार विचार रखने लगे हैं। उदाहरणार्थ, इङ्गलैंड का चर्च कुछ ऐसी बातों का प्रतिपादन करता है जो बाइबल के एक परिच्छेद में 'धर्म का प्रस्ताव' करके प्रसिद्ध हैं। एक पादरी को इन्हें अंगीकार करना ही पड़ता है, किंतु यदि उनमें से कोई पादरी यह प्रश्न पूछ ले कि "मैं इन वाक्यों को कैसे स्वीकार करूँ, यह तो प्रत्यक्ष ही परस्पर विरोधात्मक है?" तो उसे बताया जायेगा कि जिस समय यह लेख लिखे

गये थे, उस समय दो विरोधी दल थे और दोनों ही को संतुष्ट करने के लिये कुछ न कुछ कहना पड़ा था। वे पादरी कहते हैं कि "हमारे बड़े पादरी ने तथा हम सब ने इस पर हस्ताक्षर किये हैं, अतः तुम्हें भी ऐसा ही करना चाहिये।" वह नवागत पादरी संभवतः कहेगा कि "मेरे विचार में यदि तुम मुझे यह विश्वास दिला दो कि इसका तात्पर्य कुछ भी नहीं है, तो मैं भी इसे इसी प्रकार स्वीकार कर लूँगा।" किंतु यह कोई अच्छी और सम्मानजनक बात नहीं है।

मुझे ईसाईयों के धार्मिक मत पर कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि सामान्यतः ईसाई लोग जितना समझते हैं उससे कहीं अधिक गूढ़ अर्थ उसके मूल में विद्यमान है। किंतु मैं उन सैंतीस लेखों पर तथा धर्म अंगीकार की प्रथा पर अवश्य आपत्ति करता हूं, क्योंकि उन लेखों में कुछ अत्यंत सुंदर विचारों के साथ सर्वथा असंभव बातों को मिश्रित करने की चेष्टा की गई है। यदि शिक्षा-प्रश्नोत्तरी के प्रथम प्रश्न पर ही रुक कर यह उत्तर दिया जाता कि "मनुष्य का चरम लक्ष्य क्या है? ईश्वर की महत्ता का वर्णन करना और अनंतकाल तक उसके संगम का आनंद उठाना" तो यह बात शोभनीय होती।

ईसाई धर्म अपने चर्च द्वारा प्रमाणित घोषणाओं और विश्वास से बहुत आगे बढ़ चुका है। कुछ दिन पहिले मैंने एक पादरी द्वारा लिखित पुस्तक पढ़ी थी, जिसका एक ही वाक्य इस बात को सिद्ध कर देता है। वह लेखक कहता है कि "मनुष्य के हृदय में क्राइस्ट को जाग्रत करना

ही ईसाई धर्म का उद्देश्य है।' आगे चल कर वह इसका स्पष्टीकरण करता है कि मनुष्य के हृदय में क्राइस्ट को जागृत करने का अर्थ क्या है; वह कहता है कि 'यह विज्ञान के आचार्यों का ज्ञान है, वकील की वक्तृत्व-शक्ति है, न्यायाधीश की निष्पक्षता है, कलाकार का सौंदर्य प्रेम है और जीव-प्रेमियों में मनुष्य के प्रति प्रेम भावना है," इत्यादि। ऐसे ईसाई धर्म को हम अंगीकार करते हैं। ठीक यही भाव गीता में व्यक्त किया गया है। भगवान् कृष्ण कहते हैं।

"दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्

१०-३८

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्"

१०-४१

अर्थात् शासन करने वालों का दंड, जय की इच्छा करने वालों की नीति, गुह्यों का मौन, और ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूं।

तथा

जो वस्तु वैभव, लक्ष्मी और प्रभाव से युक्त है, उसको तुम मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न जानो।

उपरोक्त ईसाई पादरी गीता के इस कथन से पूर्णतया सहमत है। गीता एक अति प्राचीन ग्रन्थ है: यह महाभारत का एक भाग होते हुए भी महाभारत से अधिक प्राचीन है। गीता की शिक्षाओं में मिश्रित बहुत सी

शिक्षायें आर्यों के आगमन से बहुत पहिले भारत में निवास करने वाले अटलांटिक जाति के लोगों में प्रचलित थीं। मुझे विदित है कि यह सिद्धांत सर्वमान्य नहीं है, किंतु यह कुछ वास्तविकताओं को प्रकट करता है, जिन्हें कि हमने देखा है।

ईश्वर पर हम पूर्ण विश्वास रख सकते हैं, क्योंकि वह पूर्ण ज्ञानी है और हम अज्ञानी। सामान्य रीति से तो हम यह जानते हैं कि ईश्वर की विकास योजना में सहायक बनने के लिये हमसे किन कार्यों को करने की अपेक्षा की जाती है, किंतु हम उनके ब्योरे को नहीं जानते, तथापि हम इतना जानते हैं कि उस समस्त ब्योरे की बागडोर निपुण हाथों में सौंपी गई है। हम यह नहीं जानते कि हमारा भाग्य क्या होगा, किन्तु इस योजना के महान् व्यवस्थापक इसे जानते हैं, और वे ही बुद्धिमत्तापूर्वक इसका निर्णय करेंगे कि हमारे कितने कर्मों का फल तो हम उपयोगी रूप से अभी भोग सकते हैं और कितने कर्मों के फल को भविष्य में भोगने के लिये संचित रखा जाना चाहिये। यदि कर्म के विधाताओं को हमारी बात सुनना और किसी भी समय हमारी रुचि के अनुसार हमारी प्रारब्ध को बदल देना संभव होता, तो निश्चय ही हमारे लिये बुरा होता। मैं यह नहीं कहता कि इस सम्बन्ध में हमारे आकांक्षायें निरर्थक हैं, वरन् बात ठीक इससे विपरीत है, क्योंकि यदि हमारी आकांक्षायें श्रेष्ठ हैं तो वे एक नवीन सहायक के रूप में प्रकट होती हैं और हमारे प्रारब्ध-भोग को कुछ कोमल बनाने में कर्म के देवताओं को सहयोग देती हैं; या तो इस तरह कि वे हमें कुछ अधिक कर्मों के फल

को भोगने के लिए दे दें, ताकि हम शीघ्र उनसे मुक्त हो जायें अथवा कदाचित् उनके क्रम को बदल कर उन्हें किसी दूसरी रीति से हमें भोगने को दें। किन्तु जो कुछ भी किया जाता है वह कुछ थोड़े से लोगों की भलाई के लिये नहीं किया जाता, वरन् समष्टि की भलाई के लिये ही किया जाता है। अतः हमें ईश्वरीय इच्छा में परिवर्तन करने की चेष्टा कदापि नहीं करनी चाहिये; जो कुछ भी हम पर बीते उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये, और उसका दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करना चाहिये। हमें अपनी कठिनाइयों को एक विजय प्राप्त करने की वस्तु तो समझना चाहिये, किंतु हमें सर्वदा संतुष्ट रहना चाहिये, क्योंकि हम जानते हैं कि इन सबके पीछे प्रभु का हाथ है और वह प्रभु पूर्णरूप से मंगलकारी है।

"और इससे भी अधिक क्रूर अन्धविश्वास यह है कि मनुष्य को अपने आहार के लिये मांस की आवश्यकता रहती है।"

लेडबीटर—यह एक अन्धविश्वास ही है, क्योंकि लाखों ही मनुष्य मांस खाये बिना भी पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। संभवतः कुछ थोड़े से लोग ऐसे हैं, जो अपने बुरे संस्कारों अथवा अपने कर्मों के कारण शुद्ध आहार पर शरीर निर्वाह करने में सचमुच ही असमर्थ हैं, किंतु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। थिऑसॉफ़िकल सोसायटी के सहस्रों सभासदों में से मैंने बहुत ही थोड़े लोग ऐसे पाये हैं जो बहुत समय तक शाकाहार पर रहने का प्रयत्न करने के उपरान्त भी ऐसा करने में असमर्थ रहे हों। किन्तु

शेष सभी प्रारम्भ में कुछ कठिनाइयाँ झेलने के पश्चात् इस आहार पर निर्भर रह सके हैं, और फिर तो शाकाहार द्वारा उन्होंने अपने स्वास्थ्य में भी उन्नति की है।

यह बात निःसंदेह रूप से प्रमाणित हो चुकी है कि इस पशुहत्या के दोषभागी हुये विना ही मनुष्य पूर्ण स्वस्थ रह सकता है। ऐसे शरीरों की संख्या बहुत ही कम है, जिन्हें शाकाहार अनुकूल नहीं पड़ता। शरीर की ऐसी दशा उनके लिये एक दुर्भाग्य ही है; किन्तु यदि कोई मनुष्य अपनी अहारशुद्धि के लिये बुद्धिमत्तापूर्वक प्रयत्न करने के उपरान्त भी इसे असंभव पाता है, तो उसे इसको भी अपने कर्म का ही एक अंग समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में सदा यह कहना बुद्धिमानी अथवा उचित नहीं होता कि "या तो मैं अपने शरीर को अपनी ही इच्छानुसार चलाऊँगा, अथवा इसे त्याग दूँगा, या तो मैं शुद्ध आहार पर ही जीवन धारण करूँगा अथवा जीवन को ही त्याग दूँगा।' संभव है कि दूसरों के प्रति मनुष्य के कुछ कर्त्तव्य ऐसे हों, जिनका पालन दुर्बल शरीर द्वारा न किया जा सकता हो और जिनके लिये एक हृष्ट-पुष्ट शरीर की आवश्यकता हो। मैं यह बात भली-भाँति जानता हूं कि जिन लोगों को शुद्ध आहार रुचिकर नहीं है अथवा जो अपने शरीर को इस नवीन आहार के अनुकूल बनाने का कष्ट उठाने से हिचकते हैं इनके लिये मेरी यह सम्मति एक निमित्त बन जायेगी, किंतु तौभी इसका दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि कुछ हतभाग्य व्यक्ति सचमुच ही ऐसे हैं जिनके लिये इस विषय में अपनी पुरानी रीति के ही अनुसार चलना आवश्यक है।

मांसाहार हमारे लिये अवांछनीय है, क्योंकि पशुओं की हत्या करना क्रूरता है और दूसरे इसके द्वारा हमारे शरीर में अवांछनीय तंतुओं का भी प्रवेश होता है, जो हमारे शरीर को कठोर बना देते हैं और हमारे शरीरों के मूलभूतों (elementals) में पशु वासनाओं को उद्दीप्त करते हैं। मांसाहार के विपक्ष में और भी बहुत से कारण हैं जिन्हें मैंने अपनी 'गूढ़ज्ञान की झलक' (Some Glimpses of Occultism) नामक पुस्तक में वर्णित किया है। मांसाहार का विषय उन कतिपय विषयों में से है जिनके संबंध में सभी युक्तियां प्रायः एकपक्षीय होती हैं, क्योंकि मांसाहार के पक्ष में इसके अतिरिक्त और कोई युक्ति नहीं है कि लोग अपने अभ्यास के अनुसार ही चलते रहते हैं, क्योंकि यह उन्हें अच्छा लगता है। मेरे विचार में हम किसी भी प्रश्नकर्ता के प्रति इस बात को बहुत अच्छी प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि मांसाहार का परित्याग करने में स्वयं उसी की भलाई है। यह बात केवल सिद्धांत की ही नहीं है—यद्यपि हमारा तो यह सिद्धांत ही है—वरन् शाकाहार द्वारा स्वास्थ्य भी अधिक उन्नत रहता है और इससे मनुष्य कुछ भयंकर बीमारियों से बचा रहता है; और यह बात तो एक निश्चित सत्य है कि शाकाहारी लोगों में अपेक्षाकृत अधिक सहनशीलता होती है।

लोग कभी-कभी इस बात पर आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि चाहे जैसे भी हो हमें जीवनधारण करने के लिये किसी न किसी जीवन को तो नष्ट करना ही पडता है, और शाकाहारी लोग भी किसी न किसी रूप में तो ऐसा करते ही हैं। यह बात बहुत ही थोड़े अंशों में सत्य

है। मेरे विचार में उनका आशय यह है कि हम लोग भी वनस्पतियों का जीवन तो नष्ट करते ही हैं; किंतु वनस्पतियों के जीवन की श्रेणी नितांत प्राथमिक होती है, और उनमें पशुओं की सी उग्र चेतना नहीं होती।

हत्या के विरुद्ध मूल आपत्ति यह है कि इससे विकास के क्रम में बाधा पड़ती है। यदि आप किसी मनुष्य की हत्या करते हैं, तो जहां तक उसके सुखसंतोष का प्रश्न है वहां तक तो आप उसे कोई वास्तविक हानि नहीं पहुँचाते; सामान्य रीति के अनुसार वह एक ऐसे लोक में जाता है, जहां वह इस स्थूल लोक की अपेक्षा अधिक प्रसन्न रहेगा। और केवल शरीर को नष्ट करना सदा आवश्यक रूप में क्रूरता भी नहीं होती, क्योंकि अकस्मात् मारे जाने से मनुष्य को कष्ट का भान ही नहीं होता; उसकी हत्या करके जो बुराई आप करते हैं वह तो यह है कि उस शरीर के द्वारा उसे अपने विकास का जो अवसर प्राप्त होता, उससे आप उसे वंचित कर देते हैं। कुछ समय के बाद दूसरा शरीर धारण करने पर उसे वह अवसर पुनः प्राप्त तो हो जायेगा, किंतु आप उसके विकास में विलम्ब कर रहे हैं और कर्म के विधाताओं को उस मनुष्य के विकास के लिये अन्य स्थान ढूंढने एवं प्रौढ़ अवस्था द्वारा प्राप्त होने वाले उन्नति के अवसर को प्राप्त करने से पहिले उसे फिर से शैशवावस्था और बाल्यावस्था में से पार करने का कष्ट दे रहे हैं। यही कारण है कि पशु हत्या की अपेक्षा मनुष्य-हत्या इतनी अधिक बुरी समझी जाती है। मनुष्य को एक सर्वथा नवीन व्यक्तित्व की उन्नति करनी पड़ती है, किंतु पशु अपने पुंजजीव (Group soul) में

ही पुनः लौट जाता है, जहां से उसका फिर से जन्म लेना अपेक्षाकृत सुगम बात है। तथापि, एक अधिक विकास पाये हुये पशु की जिनकी समस्या अधिक जटिल होती है—हत्या करके हम विकास क्रम के अधिष्ठाताओं के लिये एक और दुविधा का कारण बनते हैं, यदि हम आदरपूर्वक ऐसा कह सकें। जैसे, एक मच्छर को मारना तो एक अति तुच्छ बात है, क्योंकि वह अपने पुंजजीव (ग्रूप सोल) में पुनः लौट जाता है। ऐसे सहस्रों ही कीड़े मकोड़ों को नष्ट करने से जो कष्ट उत्पन्न होता है, वह एक घोड़े, गाय, कुत्ते या बिल्ली को नष्ट करने से उत्पन्न हुये कष्ट की तुलना में कुछ भी नहीं है।

आत्मरक्षा अथवा किसी अन्य की रक्षा के आपत्तिकालों के अतिरिक्त हमारी कल्पना में आने योग्य और कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसमें अपने किसी भी उद्देश्य के लिये मनुष्यहत्या करना उचित हो सकता हो। एक योगी तो आत्मरक्षा के लिये भी ऐसा नहीं करता, वह तो इस विषय को पूर्णतः विधाता के हाथ में सौंप देता है। तौभी, मेरा विश्वास है कि यदि हमारे जीवन पर आक्रमण हो, तो हमारा आत्मरक्षा करना न्यायसंगत है, और मुझे पूरा निश्वास है कि एक आक्रमणकारी का वध करके भी एक मित्र या बालक की रक्षा करना न्यायसंगत ही है। सब प्रकार के पशुओं के संबंध में भी यही बात ठीक है। यदि कोई पशु आप पर आक्रमण करके आपके जीवन और सुरक्षा को आशंका में डालता है, तो मेरे विचार में आवश्यकता पडने पर आपको उसे मारने का पूरा अधिकार है। वास्तव में सोचना तो यह होता है कि आपके कौनसे काम से अधिक हानि होगी। दृष्टांत के लिये, यदि आपको मच्छर कष्ट दे रहे

हैं जो कि आपको काटते समय अपने स्वाभाविक खाद्य गंदगी को आपके भीतर छोड़ कर आपके रक्त को विषाक्त बना देते हैं और इस प्रकार कदाचित् किसी महत्वपूर्ण कार्य में भी बाधा उपस्थित करते हैं, तो उन मच्छरों को मारने से अपेक्षाकृत कम बुराई होगी। यदि आप मच्छरदानी के भीतर रह कर अपना बचाव कर सकते हैं अथवा किसी और प्रकार से उन्हें भगा सकते हैं, तो यह अधिक अच्छा है। मच्छर स्वभाव से तथा सहजप्रकृति से ही शाकाहारी होते हैं। लाखों करोड़ों मच्छर ऐसे हैं जिन्होंने कभी रक्त के स्वाद को नहीं चखा। उन मच्छरों को मनुष्य के संसर्ग में ले आइये और उन्हें रक्त का दूषित स्वाद चखा दीजिये, और फिर आप जानते ही हैं कि उनकी प्रकृति बदल जायेगी। ठीक यही बात अन्य छोटे छोटे दुखदायी जीव जंतुओं के लिये भी है। अपने अपने स्थान पर तो वे बिल्कुल ठीक हैं, किंतु मनुष्य के निकट संपर्क में आने पर वे ऐसे नहीं रहते। हम उन्हें अपने पर आक्रमण करने देकर केवल स्वयं ही कष्ट नहीं पाते, वरन् दूसरों को भी उसकी संक्रामकता का भागी बना देते हैं, जिसके हमारे पर न आने से वे भी बचे रहते।

यद्यपि हमारे अपूर्ण ज्ञान द्वारा हम किसी भी ऐसे दुखदायी जीव को मारने अथवा नष्ट कर देने के पक्ष में कोई भी विशेष युक्ति नहीं दे सकते, तथापि यह सत्य है कि उनमें से कुछ प्रकार की आकृतियों का नाश अभीष्ट है, चाहे तो इसलिये कि उनका क्रम पूरा हो चुका है अथवा इसलिये कि सृष्टिक्रम में उनका एक प्रयोग किया गया था, जिनकी उन्नति हो जाने पर अब उनकी आवश्यकता नहीं

हीं । विकासक्रम के अधिष्ठाताओं के संबंध में यह सोचना असम्मानसूचक नहीं है कि कुछ सीमा तक वे भी प्रयोग किया करते हैं । जब भगवान मैत्रेय ने भगवान् बुद्ध के स्थान पर जगद्गुरु का पद ग्रहण किया, तब उन्होंने धर्म की कुछ नवीन विधियों का प्रयोग किया था, जो कदाचित् असफल भी हो सकती थीं । श्रीमती ब्लावैट्स्की कभी कभी कुछ पौदों और पशुओं को प्रकृति के प्रयोग में असफल होने का संकेत किया करती थीं, जिनका उपयोग कभी तो उन जीवों की अपेक्षा जिनका कि उनमें पहिले निवास करना सोचा गया था, निम्न श्रेणी के जीवों का विकास करने के लिये किया गया, और कभी-कभी पतन को प्राप्त जीवों के लिये । वे कुछ घृणित आकृति वाले जीवों और रेंगने वाले कीड़ों को निरर्थक उत्पत्ति (By-products) बताया करती थीं और सोचा करती थीं कि ऐसे जीवों को मारना किसी भी प्रकार अन्य विकास पाते हुए जीवों को मारने के समान नहीं है ।

कुछ स्थानों पर अहिंसा के सिद्धांत का पालन करने में अत्युक्ति की जाती है । उदाहरणार्थ, कहीं कहीं लोग कीड़े-मकोड़े, खटमल इत्यादि को मारना भी अस्वीकार करते हैं और उन्हें अपने को काटने देते हैं । यह बात किसी भी सभ्य मनुष्य को शोभा नहीं देती । जिस मनुष्य के पास सुन्दर पुस्तकों का संग्रह है वह देखेगा कि कभी कभी उन पर दीमक लग जाती हैं । उन दीमकों को बिना मारे भगा देना तो अवश्य ही अच्छा होगा, किंतु उन सुन्दर पुस्तकों को व्यर्थ कर देने की तुलना में तो उस दीमक को

मारना निःसंदेह अधिक अच्छा है, क्योंकि वे पुस्तकें उस मनुष्य के अपने अतिरिक्त अन्य लोगों के उपयोग में भी आ सकती हैं। ऐसे कितने ही छोटे-छोटे जीव होते हैं जिनकी उपेक्षा करने से वे हमारे जीवन को लगभग असंभव बना देते हैं। एक योगी के लिये भी जो कि कभी किसी जीव को नष्ट नहीं करता, आहार की व्यवस्था तो की ही जाती है। किंतु उस आहार को उपजाने वाले किसान को फ़नगों और कीड़ों से तो अपनी खेती की रक्षा करनी ही पडती है। आस्ट्रेलिया में तो एक किसान को खरगोशों से भी अपनी खेती को बचाना पड़ता है, जिन्हें उस में लाये जाने के कारण उनकी संख्या लाखों में बढ़ गई है, और यदि रोका न जाये, तो वे खेती का चिह्न भी शेष न रहने दें।

केवल मनुष्य के भोजन के लिये ही ऐसे हानि पहुँचाने वाले जीव जन्तुओं को मारना आवश्यक नहीं है, किंतु यह विषय रक्षा का भी है; क्योंकि पेड, पौदे और वनस्पतियों को उपजाने वाले मनुष्य का उन आकृतियों में निवास करने वाले जीवन के प्रति भी कुछ उत्तरदायित्व हो जाता है। मेरे विचार में हमें इन बातों में आदि से लेकर अंत तक सामान्य बुद्धि को काम में लाना चाहिये। तथापि अपनी आत्मरक्षा के लिये किसी पशु की हत्या करना, अपने निकृष्ट स्वाद की तृप्ति के लिये जो कि सर्वथा अनावश्यक है गाय व घोड़े जैसे अधिक विकासप्राप्त पशुओं की हत्या करने से नितान्त भिन्न बात है।

"इस अंधविश्वास के ही कारण हमारे प्रिय भारतवर्ष में अछूतों के प्रति जो दुर्व्यवहार किया जाता है, उसका विचार करो, और सोचो

कि किस प्रकार यह अंधविश्वास उन लोगों के हृदय में भी क्रूरता का पोषण करता है, जो भ्रातृभाव के कर्त्तव्य से परिचित हैं।"

लेडबीटर—भारतवर्ष के अछूत, जिन्हें कभी-कभी पंचमवर्ण कहा जाता है और जो वास्तव में अवर्ण समझे जाते हैं, वास्तव में यहां के उन मूल निवासियों के वंशज हैं जिन्हें आर्यों ने हिमालय की तराई को पार करके आने पर यहां निवास करते पाया था। वंशशुद्धि के उद्देश्य से मनु ने वर्णाश्रम की व्यवस्था की थी, जोकि उस समय के लिये एक आकर्षक वस्तु थी, और इसी कारण आर्यों को यहां के मूलनिवासियों के साथ विवाह-संबंध करने, मिलने-जुलने और खाने-पीने का निषेध किया था। किंतु उन लोगों के साथ इन सब बातों से परे अतिक्रूर व्यवहार किया गया। उदाहरणार्थ, अछूतों को सवर्णों के कूंओं से पानी भरने की भी आज्ञा नहीं है, क्योंकि इससे कूंये का पानी सवर्णों के लिये दूषित हो जायेगा; फलतः उन्हें कुछ ऐसे अति गंदे कूंओं के पानी पर निर्भर रहना पड़ता है, जिन्हें वे बना सकें अथवा जो उन्हें प्राप्त हो सकें। और इससे असीम कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, विशेष करके जैसे कि देश के कुछ भागों में अछूतों के गांवों को असुविधाजनक स्थानों में खदेड़ दिया जाता है। और उन्हें चले जाने को विवश किया जाता है। अभी तक भी एक अछूत अपने जीवन में तब तक अच्छी स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक कि वह ईसाई या मुसल्मान बन जाने के अवांछनीय उपाय को काम में न

लाये, जिससे कि उसकी बहुत सी सामाजिक अयोग्यतायें दूर हो जाती हैं।

भ्रातृभाव को मुख्य स्थान देने वाले भारतीयों ने भी इस अंधविश्वास के कारण अछूतों के साथ ऐसे कितने ही दुर्व्यवहार किये हैं। अपने अंधविश्वास के कारण वे इस विषय में भ्रातृभाव का सच्चा अर्थ भूल जाते हैं। आशा है समय रहते ही यह लोग एक सम्माननीय और निष्कलंक जाति का निर्माण कर लेंगे। आजकल रेलों और ट्राम गाड़ियों में अछूतों के साथ अनिवार्य रूप से मिश्रित होना पड़ता है ऐसी स्थितियाँ इस सुधार के लिये सहायक हो रही हैं।

भारत के उच्च वर्णों का यह कर्त्तव्य तथा उनके प्रति कर्म का एक उत्तरदायित्व है कि वे इन अछूत जातियों का, जिन्हें उनके पूर्वजों ने विजित किया था, उत्थान करें। आर्य जाति की श्रेष्ठता और स्वाभाविक गुण ही उन्हें इस कार्य में प्रवृत्त करने के लिये यथेष्ठ हैं। एक बालक यदि मैला होता है तो हम उससे दूर नहीं भागते, वरन् उसे स्नान करवाके स्वच्छ करते हैं। इसी प्रकार हमें अछूतों से भी दूर न भाग कर उन्हें उन परिस्थितियों की सुविधा देनी चाहिये जिनमें रह कर वे स्वास्थ्य, स्वच्छता और शिक्षा को प्राप्त कर सकें। इसमें प्रश्न आवश्यक रूप से यह नहीं है कि उनके साथ खानपान ही किया जाये, किन्तु अपने उन छोटे भाइयों के प्रति कृपालु और दयावान बनना निश्चय ही हमारा कर्त्तव्य है।

यह सच है कि जिस वर्ण या जाति में मनुष्य का जन्म होता है, उसके द्वारा उसे कुछ विशेष सुयोग प्राप्त

होते हैं, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य सदा उनका
सदुपयोग ही करता है। एक अयोग्य ब्राह्मण कुटुंब में
जन्म लेने की अपेक्षा एक भले अछूत कुटुंब में जन्म लेना
कुछ बातों में अधिक लाभदायक भी हो सकता है।
मनुष्य बहुधा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते
हैं और उस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर उन्हें जो सुअवसर
प्राप्त होते हैं, उनका सदुपयोग करने में वे असफल रहते
हैं। अस्तु, संभव है कि एक बुरे ब्राह्मण ने पहिली ही
बार ब्राह्मण के घर में जन्म लिया हो, अथवा उसने पूर्व-
जन्म में अपने प्राप्त सुअवसरों की उपेक्षा या दुरुपयोग
किया हो। निम्नलिखित बात तो केवल विरले ही लोगों
के लिए सत्य होती है कि:—

> जिसने दास बन कर परिश्रम किया है,
> वह अपनी योग्यता और गुणों के कारण
> राजा के घर में जन्म ले सकता है;
> और जिसने सम्राट् बनकर राज्य किया है,
> वह अपने विभिन्न कर्मों के फलस्वरूप
> दरदर का भिखारी बनकर भटक सकता है।

सामान्य नियम के अनुसार जो लोग श्रमजीवी वर्ग
के हैं, वे क्रमशः उन्नति करते हुये पहिले मध्यवर्ग में जन्म
लेते हैं और फिर उच्चवर्ग में। जिस वर्ग में मनुष्य का
जन्म होता है, उसी के साथ अधिकतर उसकी प्रारब्ध
भी बनती है, और भविष्य जन्म में उस प्रारब्ध को भोगने
के लिये उसे फिर वैसी ही परिस्थितियों की आवश्यकता
पड़ जाती है। संस्कृति और सभ्यता की क्रमशः उन्नति

द्वारा भी मनुष्य का विकास होता है। अस्तु, अकस्मात् किसी अधिक उच्च या नीच वर्ग में जन्म होने की घटनायें प्रत्यक्ष रूप में एक प्रकार की शस्त्रचिकित्सा के समान होती हैं, जिनकी आवश्यकता कुछ विशेष प्रबल कर्मों के कारण पड़ जाया करती है। तौ भी, समस्त मानव जाति एक ही कुटुंब है और भ्रातृभाव का कर्त्तव्य विना किसी अपवाद के सभी पर लागू पड़ता है।

———

"इस अन्धविश्वास के दुःस्वप्न के कारण उस प्रेमस्वरूप ईश्वर के नाम पर अनेकों ही बुराइयाँ की गई हैं।"

———

लेडबीटर—अंधविश्वास के विषय में एक बात यह भी है कि जो मनुष्य भले अभिप्राय रखता है, और जो अपने धर्म के विधि-निषेधों पर सचाई से स्थिर है, वही इस अंधविश्वास के कारण सबसे अधिक हानि करता है। जो मनुष्य वास्तव में ही बुरा है, और ऐसे मनुष्य संख्या में कम होने पर भी संसार में वर्तमान हैं, वह तो अधिकतर अपनी ही वासनाओं की तृप्ति में व्यस्त रहता है। ऐसा मनुष्य दूसरों के कामों में हस्तक्षेप नहीं करता, जब तक कि कोई दूसरा उसके मार्ग में बाधा न डाले। भले अभिप्रायों वाला एक मूर्ख मनुष्य सचमुच ही उस बुरे मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक भयप्रद होता है, क्योंकि वह सदा ही दूसरों के बीच में हस्तक्षेप करना चाहता है। ईसाई धर्म-प्रचारकों का उदाहरण यहां ठीक लागू पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि जिन प्रचारकों को योरुप और अमेरिका से बाहर भेजा गया था, उन्होंने मध्य

अफ्रीका की असभ्य जातियों तथा उसी श्रेणी के अन्य लोगों की तो यथेष्ट भलाई की है, किंतु भारतवर्ष में जहां एक साधारण मज़दूर भी धर्म के तत्व और उच्च व महान् आदर्शों का ज्ञान उन ईसाई धर्मप्रचारकों की अपेक्षा अधिक रखता है, वहां यह लोग हास्यजनक रूप से अशोभन प्रतीत होते हैं। उस प्रचारक का अभिप्राय तो यथेष्ट उत्तम है, किंतु फिर भी वह बहुत अधिक हानि करता है। इन प्रचारकों की विवेकहीन विधियां बहुत से युद्धों का करण बनी हैं। जब कभी भी उनका जीवन आशंका में पड़ा है, जिसे कि वे 'शहीदों की मृत्यु' कहते हैं, तब तब उनके राष्ट्र को सदा बीच में पड़ना पड़ा है। यह एक प्रकार का क्रम सा बन गया है कि पहिले ये धर्मप्रचारक आते हैं, फिर शराब विक्रेता आते हैं, और उनके पीछे आती हैं, विजय करने वाली सेना। इंगलैंड और अमेरिका की बेचारी वृद्ध स्त्रियां इन प्रचारकों की सहायता करने में जीवन की साधारण आवश्यकताओं से भी वंचित रह जाती हैं; वे सोचती हैं कि ये लोग क्राइस्ट के निमित्त कार्य कर रहे हैं। उन्हें इस बात का रंचमात्र भी ज्ञान नहीं है कि क्राइस्ट के जन्म से सहस्रों वर्ष पहिले ही भारत में बहुत बड़ा धर्म और तत्वज्ञान विद्यमान था, और उनका धन यदि स्वयं अंग्रेजों में ही जो काफ़िर हैं, उन्हें परिवर्तित करने में व्यय किया जाये, तो उसका अधिक सदुपयोग होगा।

"इसलिये इस बात से सावधान रहो कि इसका अणुमात्र भी चिह्न तुम्हारे भीतर शेष न रहे।"

लेडबीटर—इस बात पर दिया जाने वाला ज़ोर स्पष्ट रूप से इस आशंका को प्रकट करता है कि हम अपने अनजान में ही अंधविश्वासी बने रह सकते हैं। अतः इसके लिये हमें सतर्क रहना चाहिये। प्रत्येक प्रश्न के कम से कम दो पक्ष अवश्य हुआ करते हैं। कोई भी मनुष्य किसी बात को उसके संपूर्ण रूप में नहीं देखता; एक थिऑसॉफ़िस्ट भी नहीं। जब हम ईश्वर के निजी उच्च लोकों में उसके साथ एकत्व कर लेंगे, तब हम प्रत्येक बात का समूचा रूप देख सकेंगे और यह कहने में समर्थ होंगे, कि "मेरा दृष्टिकोण यथार्थ है"। किंतु जब ऐसा होगा, तब हमारे दृष्टिकोण में प्रायः सभी के दृष्टिकोणों का समावेश हो जायगा, क्यों कि सभी के विचारों में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है।

"इन तीन दोषों से तुम्हे अवश्य बचना चाहिये, क्योंकि ये प्रेम के विरुद्ध पाप हैं।,,

---

लेडबीटर—यह बात कि हमारे जीवन में प्रेम की ही प्रधानता होनी चाहिये और हमारी अन्य सब शक्तियां इसी के द्वारा प्रेरित होनी चाहिये, उस मार्ग की विशेष शिक्षा है जिसका अनुसरण महात्मा कुथुमि कर रहे हैं। इस बात को ठीक ठीक समझना बहुत से मनुष्यों के लिये कठिन है कि इन महर्षियों में हमारी कल्पना में आने योग्य सभी उच्च और श्रेष्ठ गुणों का समावेश होते हुये भी किस प्रकार इन में एक गुण की अपेक्षा दूसरे की प्रधानता रहती है। महात्मा मौर्य प्रथम शाखा First Ray से संबंध रखते

हैं, अतः संकल्प और शक्ति ही उनके प्रधान विशिष्ट गुण हैं, तथापि यदि हम यह सोच लें कि उनमें अन्य गुरुदेवों की अपेक्षा प्रेम या बुद्धि कुछ कम है, तो यह हमारी भूल होगी। इसी प्रकार यह अनुमान करना भी भूल है कि महात्मा कुथुमि हैं प्रथम शाखा के महात्माओं की अपेक्षा में कम शक्ति है। यह भेद मनुष्य के ज्ञान से परे की वस्तुयें हैं।

इसी प्रकार इन महान् आत्माओं की श्रेणियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। बोधिसत्व की श्रेणी हमारे इन गुरुदेवों की श्रेणी से बहुत उच्च है। हमें तो यह सब इतने महान् प्रतीत होते हैं कि हम उनमें कोई भेद समझने का साहस ही नहीं कर सकते। यह सभी दीप्तिमान् सूर्य हैं, और हमें एक देवदूत या देवराज के बीच कोई भेद प्रतीत नहीं होता। तथापि, एक पूरे विकासक्रम की समाप्ति पर ही एक देवराज की श्रेणी आती है। यह बात निश्चित है कि हमारे सूर्यमंडल के ईश्वर की शक्ति इन सबकी अपेक्षा, जो कि उसी के एक अंग हैं, बहुत ही अधिक है, तथापि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी इनकी अपेक्षा बड़ा नहीं हो सकता। इन महात्माओं का ज्ञान और शक्ति हमारी अपेक्षा इतनी अधिक है कि हमारे लिये ये सब एक दीप्तिमान प्रतिभा हैं, तथापि भेद तो है ही।

उनतीसवाँ परिच्छेद

सेवा

"किन्तु केवल बुराई से मुक्त रहना मात्र ही तुम्हारे लिये यथेष्ट नहीं, तुम्हें तो सदा भले कार्य करने में प्रवृत्त रहना चाहिये। तुम्हारा

हृदय सेवा की तीव्र लालसा से इतना परिपूर्ण हो जाना चाहिये कि तुम अपने सम्पर्क में आने वालों की, न केवल मनुष्यों की वरन् पशु-पक्षियों और पेड़-पौदों की भी सेवा करने को उत्सुक रहो। नित्यप्रति छोटे-छोटे कामों में भी तुम्हे दूसरों की सेवा करते रहना चाहिये, जिससे कि यह तुम्हारा स्वभाव हो बन जाये, ताकि जब कोई महान् कार्य करने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हो तो तुम उसे गँवा न दो।

लेडबीटर—यदि हमने अपना सतर्क रहने का स्वभाव न बना लिया हो, तो हम बहुत बार सेवा करने का अवसर गँवा देते हैं। किन्तु ऐसा स्वभाव बना लेने पर बहुत अधिक अवसरों को गँवा देने की संभावना नहीं रहती, क्योंकि तब किसी असामान्य परिस्थिति और बड़े से बड़े संकटकाल में भी हमारा स्वभाव हमें सेवाकार्य के लिये उद्यत कर देगा। सैनिकों से जो दीर्घकाल तक क्लिष्ट कवायद करवाई जाती है, उसका भी एकमात्र कारण यही है; केवल यह नहीं कि वे अमुक आज्ञाओं को पालन करने की विधि ठीक-ठीक जान लें, वरन् यह कि अमुक कुछ बातें उनके सहज स्वभाव का ही एक अंग बन जाये। यदि आधुनिक समय में न भी हो, तो भी प्राचीन काल में तो एक सैनिक को युद्ध क्षेत्र में सर्वथा नवीन वातावरण का सामना करना पड़ता था, और वह चाहे कितना ही शूरवीर क्यों न हो वहाँ उसके साहस की कड़ी परीक्षा हो जाती थी। किंतु ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी वह सैनिक स्वभाव से प्रेरित होकर आज्ञाओं का पालन करता है और अपने कर्त्तव्य को करने के लिये उद्यत हो जाता है।

'सदा भले कामों में प्रवृत्त ... चाहिये' यह उक्ति लोगों के विरोध में कि ... नहीं कही गई है

उच्च भूमिकाओं पर ही कार्य किया करते हैं। ऐसी उक्तियों
को सुगमतापूर्वक किंतु अनुचित रूप से साधु सन्यासियों
तथा भारत के ब्राह्मणों के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता
है। प्राचीन समय में इस सिद्धांत का रूप यह था कि
ब्राह्मण देश के आध्यात्मिक गुरु होते थे और उनका कर्तव्य
यही समझा जाता था कि वे अपना सारा समय यज्ञ-
अनुष्ठान, अध्ययन, शिक्षण और परामर्श देने में बितायें,
जिससे कि संपूर्ण जाति का कल्याण हो। अन्य वर्ग
जिनका समय सामान्य कार्यों को करने और धन कमाने
में व्यतीत होता था, वे ब्राह्मणों का पालन करते थे, क्योंकि
ब्राह्मण अपने आध्यात्मिक कार्य उन्हीं के लिये करते थे।
कैथोलिक देशों में साधु-सन्यासियों का जो वर्ग केवल
मृतकों के लिये प्रार्थना करने में ही अपना समय व्यतीत
करता है, उसे स्थापित करने का मूल सिद्धांत भी यही
था। जिन दिनों यह व्यवस्था की गई थी, उन दिनों
लोग इस बात को जानते थे कि जीवित और मृतक दोनों
एक ही जाति के हैं और उनके लिये प्रार्थना करना अन्न
उपजाने की अपेक्षा उच्च जातिसेवा है; अतः उन साधु
सन्यासियों की आजीविका जनता के दान पर ही निर्भर
रहती थी, और वे इसके लिये किसी भी प्रकार लज्जित
नहीं होते थे एवं उन्हें भिक्षा देने वाले भी इसे अपने लिये
एक गौरव की बात समझते थे। उस समय की धारणा
आधुनिक धारणा से सर्वथा भिन्न थी; उस समय उनके
लिये भिक्षा पर अपनी जीविका चलाना कोई भी लज्जा की
बात नहीं समझी जाती थी। वास्तव में सबसे उच्च आध्या-
त्मिक जीवन व्यतीत करने वाले लोग ही भिक्षा पर निर्वाह

किया करते थे, क्योंकि उन्होंने अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और कर्त्तव्य-परायणता का व्रत लिया था। इन लोगों का तिरस्कार करना वैसी ही भूल होगी, जैसे कि फ्रांस की राज्य क्रांति के समय लोगों ने की थी और कहा था कि एक तत्वज्ञानी और एक लेखक सर्वथा आलस्ययुक्त और निरुपयोगी जीवन व्यतीत करता है, अतः उसे तो सड़क पर पत्थर कूटने जैसा परिश्रम करना चाहिये।

"क्योंकि तुम्हें यदि ईश्वर के साथ एक रूप होने की उत्कंठा है तो वह तुम्हारे अपने लिये नहीं है, यह तो इसलिये है कि तुम एक ऐसे स्रोत बन जाओ जिसके द्वारा कि ईश्वरीय प्रेम तुम्हारे साथी मनुष्यों तक पहुँच सके। इस पथ पर आरूढ़ मनुष्य अपने लिये नहीं, वरन् दूसरों के लिये जीवित रहता है। उसने अपने आप को विस्मृत कर दिया है, ताकि वह दूसरों की सेवा कर सके।"

लेडवीटर—इस पुस्तक का समस्त उद्देश्य लोगों में एक विशेष मनोवृत्ति उत्पन्न करने का है। इसका प्रधान लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति नहीं, वरन् अपने को वैसा ही बना लेना है अर्थात् ब्रह्मविद्या के उपदेशों के अनुसार आचरण करना, अपने हृदय को प्राणिमात्र के प्रति प्रेम से परिपूर्ण करना और विकास-क्रम में सहायक बनने की तीव्र उत्कंठा रखना है, ताकि दूसरों की सेवा करने में हम अपने आपको विस्मृत कर दें। यदि आपने कभी किसी डाक्टर को कोई बड़ा ऑपरेशन करते देखा हो, तो आप जानते होंगे कि कैसे एक मनुष्य इतने उत्कट कार्य को करते समय

अपने मस्तिष्क और हाथों का सतर्क उपयोग करते हुये भी अपने कार्य में सर्वथा लीन हो सकता है, मानों उसकी अंगुलियों के सिरों में ही उसका समस्त जीवन व्याप्त हो। युद्धकाल में भी मनुष्य कभी कभी अपने घायल साथी की रक्षा करने के प्रयत्न में अथवा किसी आवश्यक किंतु भयप्रद कार्य को करने में अपने आपको भूल जाता है।

ईश्वर अपनी सृष्टि में सर्वशक्तिमान् है, और इस सृष्टि में वह अपनी शक्ति को सभी भूमिकाओं पर प्रवाहित करता है। हम यह अनुमान किये बिना नहीं रह सकते, कि ईश्वर यदि चाहे तो अपनी शक्ति को संपूर्ण सृष्टि में किसी भी भूमिका पर और किसी भी सीमा में प्रवाहित कर सकता है। किंतु वास्तव में वह ऐसा करता नहीं; प्रत्येक भूमिका पर उसकी शक्ति एक निश्चित परिमाण में, और एक निश्चित रूप में ही प्रवाहित होती प्रतीत होती है, और इस प्रकार हम जो उसी के तेज के एक अंश है, कुछ ऐसे कार्यों को कर सकते हैं जिन्हें कि वह महान् शक्ति स्वयं नहीं करती; वरन् हमारे ही द्वारा जो कि उसी का एक अंश हैं, करवाती है। हम यह नहीं कह सकते कि ईश्वर इन सब कामों को स्वयं कर नहीं सकता, परन्तु इतना प्रत्यक्ष है कि वह इन्हें स्वयं करता नहीं। हमारे लिये यह सम्भव है कि हम अपनी उत्कट भक्ति-भावना से अपनी इच्छाओं को ईश्वरीय इच्छा के साथ जोड़कर कार्य करें और उच्च लोकों से शक्ति खींचकर और उसे भौतिक बना कर जगत में प्रवाहित कर दें। यह ऐसा कार्य है जिसे करने से ही इसका अनुभव हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रतीत तो यही होगा कि ईश्वर को हमारे सहयोग की आवश्यकता है, तथापि यह सहयोग भी स्वयं उसी का है; क्योंकि ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो उसकी न हो।

श्री गुरुदेव की शक्ति नीचे के लोकों में एक शिष्य के द्वारा वितरित की जाती है, इस बात का वर्णन करते हुए मैंने अनेक बार स्रोत अथवा नल की उपमा दी है। इसके लिये विद्युत् को परिणित करने वाले यंत्र "ट्रैन्सफॉर्मर" (Transformer) की उपमा भी दी जा सकती है। आप देखते हैं कि शहर के बिजलीघरों को, जो बिजली उत्पन्न करने वाले स्थानों से सैकड़ों मील दूर होते हैं, बहुत ही बड़े परिमाण और तेज़ प्रवाह में बिजली भेजी जाती है। शहर के उन बिजलीघरों के पास विद्युत को परिणित करने वाले यंत्र होते हैं, द्वारा के वे उस विद्युत् के तेज़ प्रवाह को ले लेते हैं और फिर उस प्रवाह के वेग को धीमा करके उसे बिजली की बड़ी बड़ी धाराओं में परिणत कर देते हैं, जो रोशनी करने तथा अन्य कामों के लिये उपयुक्त होती हैं। अस्तु, दृष्टांत के लिये, सिडनी में रहने वाला एक शिष्य हिमालय से आने वाली श्री गुरुदेव की शक्ति को उच्च भूमिकाओं पर ग्रहण करके उसे नीचे के लोकों की शक्ति में परिणित कर सकता है, ताकि यह चहुंओर वितरित की जा सके अथवा जिनके लिये यह भेजी गई है उन्हें पहुँचाई जा सके।

इस प्रकार प्रत्येक महापुरुष आध्यात्मिक शक्ति का एक स्रोत होता है, जिसके द्वारा उसकी उन्नति की श्रेणी के अनुसार कुछ सीमा तक वह शक्ति प्रवाहित की जा सकती है। जैसे सूर्य प्रति समय प्रकाशित है, उसी प्रकार

ईश्वरीय शक्ति भी प्रति समय हमारे चहुँओर विद्यमान है। जब सूर्य का प्रकाश पृथिवी तक नहीं पहुँचता, तो ग्रहण काल के अतिरिक्त यह पृथिवी का ही दोष होता है, क्योंकि यह अपने और सूर्य के बीच में बादलों की सृष्टि कर लेती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने और ईश्वर के, जो कि अपनी अनेक प्रकार की शक्तियों को प्रत्येक लोक में प्रकाशित कर रहा है, बीच में स्वार्थ और अज्ञान के बादल उत्पन्न कर लेते हैं। एक महान् आत्मा इसके लिये निश्चित उद्योग करता है, जो कि उसे इन शक्तियों का एक उत्तम स्रोत बना देता है। यह बात नहीं कि उन शक्तियों पर कोई रंचमात्र भी प्रभाव पड़ता हो, वे तो प्रति समय विद्यमान हैं किंतु जब उन्हें ग्रहण करने के लिये हम प्रस्तुत नहीं होते, तब वे हमारे पास से बिना प्रभाव डाले ही निकल जाती हैं।

स्थूल लोक पर 'प्राण' की उपमा को लीजिये। प्रत्येक मनुष्य श्वास द्वारा प्राण को भीतर खींचता है, किंतु कभी कभी जब कि वह बीमार हो जाता है तो अपने लिये ऐसा करने में असमर्थ हो जाता है, और तुरंत ही उसे अपने में शक्ति के अभाव का भान होने लगता है। उस समय यद्यपि वह स्वयं अपने लिये प्राण को खींचने में असमर्थ होता है, किंतु वह दूसरों के द्वारा तैयार किये हुये प्राण का उपयोग कर सकता है; दूसरा मनुष्य अपनी प्राण शक्ति को छोड़ कर, उसके सर्वथा आरोग्य होने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है, वह उसे दे सकता है। इसी प्रकार एक महापुरुष अनेक उच्च शक्तियों को ग्रहण करके उन्हें इस रूप में परिणित कर सकता है, जिसे कि वे दूसरों द्वारा ग्रहण कर सकने योग्य बन जायें। जैसे जैसे

हमारी मनुष्य जाति इस कार्य को कर सकने योग्य श्रेणी मे पहुंचेगी, वैसे-वैसे प्रत्येक मनुष्य के सामन्य विकास की प्रगति शीघ्र होगी। जैसे यह बात सत्य है कि पेड़ पौदे एक निश्चित सीमा तक ही धूप को झेल सकते हैं, वैसे ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक मनुष्य को बहुत अधिक आध्यात्मिक ज्ञान का दिया जाना असंभव है।

तो भी, इन स्रोतों के आप एक निर्जीव स्रोत ही मत समझिये वरन् इसके विपरीत् यह सब सजीव स्रोत होते। एक शिष्य निश्चेष्ट बैठा हुआ केवल एक नल का काम ही नहीं देता। यद्यपि कुछ शक्तियों का प्रवाह इस प्रकार से भी आता है, और श्री गुरुदेव का शिष्य यह जनता है कि उसके द्वारा प्रवाहित की जाने वाली शक्तियां किस प्रकार की हैं और किसे भेजी जा रही हैं। किंतु इन शक्तियों का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा भी होता है, जिसका वह किसी भी समय आवश्यकतानुसार इच्छित उपयोग कर सकता है। इस प्रकार इस काम में उसकी अपनी उपयोगिता और कौशल की भी आवश्यकता रहती है, और उसका जीवन वास्तव में इसी प्रकार के सक्रिय कार्यों में व्यस्त रहता है। अस्तु, वह केवल अंध-आज्ञापालन ही नहीं करता, वरन्, इसके विपरीत जिस समय अन्य लोग आलस्ययुक्त हुये अपने ही संबंध में विचार करने में लीन रहते हैं, उस समय वह उपयोगी कार्यों में व्यस्त रहता है।

सामान्यतः साधारण मनुष्यों का इस प्रकार उपयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्होंने उच्च भूमिकाओं पर यथेष्ट उन्नति नहीं की है; और यदि उनके जीवात्मा

ने कुछ उन्नति की भी हो; तब भी उनके जीवात्मा और देहाभिमानी व्यक्तित्व को जोड़ने वाला सूत्र बहुत ही संकुचित होता है। श्री गुरुदेव अपने शिष्य का उपयोग कर सकते हैं, क्योंकि वह एक खुला स्रोत है। इसी प्रकार वह एक मात्र दीक्षागुरु ऋषिसंघ की शक्तियों को प्रवाहित करने के लिये इन महान आत्माओं का उपयोग कर सकता है। यह महात्मागण आत्मा को अपना आप समझते हैं, और इस श्रेणी का मनुष्य जब स्थूललोक के कर्त्तव्यों को करने में व्यस्त रहता है, तब भी सदा उसके मस्तिष्क के भीतर यही भावना रहती है कि "मैं मैं ही हूं, मैं दिव्य तेज का अंश हूं, अतः मैं ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जो उस दिव्य शक्ति के अयोग्य हो।" उच्च पद के साथ साथ उत्तरदायित्व का आना अति स्वाभाविक है।

कार्य के महत्वपूर्ण होने के कारण श्री गुरुदेव और उनके शिष्य का संबंध कभी भावुकता पर निर्भर नहीं होता, यद्यपि यह संसार की कल्पना से कहीं अधिक प्रेममय होता है। श्री. गुरूदेव किसी मनुष्य को इसलिये शिष्य के रूप में अंगीकार नहीं करते कि उसके कुटुम्ब का कोई और व्यक्ति उनका शिष्य है, अथवा उनका उससे पूर्वजन्मों का परिचय है। श्री गुरुदेव और उनका शिष्य दोनों ही केवल जगत् की एकता के पवित्र कार्य की बात को ही सोचते हैं। वे जानते हैं कि कमल में स्थित गंध की भांति मनुष्य में दिव्य तेज वर्तमान है, और यदि उसी को उचित रीति से आकर्षित किया जाये तो मनुष्य की सहायता की जा सकती है। प्राचीन काल के महात्माओं

का भी यही कार्य था, और वर्तमान समय के महात्माओं का भी यही कार्य है। वे जगत् का निर्माण करने वाली शक्ति अर्थात् ईश्वर के उस प्रेम का उपयोग करते हैं, जो व्यक्तिगत नहीं है। कोई भी मनुष्य आध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होने के लिये वाध्य नहीं, किंतु यदि कोई इस मार्ग पर आता है, तो उसे भ्रातृभाव के आदर्श और वृत्ति को अवश्य ग्रहण करना होगा, जिसमें कि वह अपने लिये नहीं वरन् दूसरों के लिये—अपनी व्यक्तिगत उन्नति या संतोष के लिये नहीं वरन् ईश्वरीय कार्य के लिये ही जीवन धारण करता है।

वह ईश्वर के हाथ की लेखनी है जिसके द्वारा उसके विचार जगत में प्रकट होते हैं। और जो उन विचारों को स्थूललोक में प्रकट होते हैं और जो उन विचारों को स्थूललोक में प्रकट करने का एक साधन है, जिसके बिना कि उनका व्यक्त होना संभव न था।"

लेडबीटर—ऐसा प्रतीत होगा जैसे ईश्वर को पहिले ही विदित हो कि विकास की अमुक श्रेणी पर आकर उसे ऐसी वहुत सी लेखनियां प्राप्त हो जायेंगी, जिनके द्वारा कि वह अपने को व्यक्त कर सकेगा। जैसा कि किसी कवि ने कहा है कि "अमुक कार्य में तुम्हारी और मेरी दोनों की आवश्यकता है। हमारा सहायक वनाना भी उसकी योजना का ही एक अंग है। यह एक महत् और तर्क संगत विचार है; हमें तुरंत ही ज्ञात हो जात है कि यदि हम ज्ञान प्रेम और शक्ति की सामान्य श्रेणी से कुछ उच्चश्रेणी पर पहुंचने में

समर्थ हुए हैं, तो हमने इसे इसी लिये प्राप्त किया है कि हम इसे दूसरों को वितरण करने के उपयोग में ला सकें।

"तथापि इसके साथ ही वह उस दिव्य तेज की ही एक प्रदीप्त शिखा है, और जिस दिव्यप्रेम से उसका हृदय परिव्याप्त है, उसीका प्रकाश वह संसारमें फैला रहा है।"

लेडबीटर—अलैक्जैंड्रिया के दो साधुओं की एक कथा आती है, जो अपने को पूर्ण रूप से पवित्र रखना चाहते थे; एक ने तो अपने चारों ओर रक्षा करने वाले विचारों का कवच बना कर अपने को पवित्र रखा, किंतु दूसरे का हृदय ईश्वरीय प्रेम से इतना परिपूर्ण था कि वह प्रेम सदा-सर्वदा उससे प्रवाहित होता रहता था और उसे पवित्र बनाये रखता था। इसके लिये सदा दो मार्ग होते हैं: एक तो अध्यात्मज्ञान का और दूसरा भक्ति का। एक तो संसार में कार्य करते हुये उन्नति करता है और दूसरा अपनी ही उन्नति में व्यस्त रहता है। अधिक तर भक्ति-मार्गी का लक्ष्य अपने इष्टदेव के साथ एकता प्राप्त करने का ही होता है; तथापि, उसे स्वार्थी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईश्वर के साथ एकता करने के प्रयत्न में वह अपने चहुंओर प्रचंड शक्ति का प्रवाह फैलाता है। हम अध्यात्मज्ञान के साधकों का लक्ष्य तो यह होना चाहिये कि हम समस्त विभिन्न श्रेणियों को पार करते हुये क्रमशः दीक्षा की उस उच्च श्रेणी तक पहुंच जायें, जहां पहुंच कर हम अपनी चेतना को ईश्वर के तीसरे स्वरूप ब्रह्मा की

चेतना में, तत्पश्चात् उसके दूसरे स्वरूप विष्णु की चेतना मे, और अंत में उसके प्रथम स्वरूप शिव की चेतना में लीन कर सकें। एक भक्त जिस स्थिति में होता है उसी में अर्थात् इस स्थूललोक की भूमिका पर ही अपने को दिव्य चेतना के साथ लीन कर लेता है, किंतु यह तो उस दिव्य चेतना की स्थूल अभिव्यक्ति है; उसके पश्चात् उसे उच्चलोकों पर भी ईश्वर के साथ एकता का भान करने के लिये उन्नति करने का प्रयत्न करना पड़ता है।

"वह ज्ञान जो तुम्हे सेवा करने के योग्य बनाता है, वह संकल्प जो तुम्हे ज्ञान की ओर ले जाता है, और वह प्रेम जो तुम्हारे संकल्प को प्रेरणा देता है, यही तुम्हारे साधन हैं। संकल्प, ज्ञान, और प्रेम यह ईश्वर के तीन स्वरूप हैं; तुम अपने को उसकी सेवा के लिये अर्पण करना चाहते हो, अतः तुम्हे उसके इन तीनों ही स्वरूपों को जगत में व्यक्त करना चाहिये।"

लेडबीटर—यह एक सुंदर इति है, मेरे बंधुओ! जिस प्रकार श्री ऐलिकयोनी कोज्ञान की प्राप्ति हुई, उसी प्रकार आपको भी हो।

ग्यारहवां परिच्छेद

सदा सत्य का पालन करो

"तुम्हें सत्य और असत्य में भी भेद पहचानना चाहिये, एवं मन, वाणी, और कर्म से सर्वदा सत्य का पालन करना चाहिये।"

ऐनी बेसेंट—श्री गुरुदेव के वचनों के साथ साथ यदि उनके विचारों का अनुसरण न किया जाये तो इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि यह विषय की चर्चा इतना पीछे क्यों की जा रही है। सत्य और असत्य पहचानने का विषय तो पहिले ही आजाना चाहिये था; परन्तु श्री गुरूदेव ने इसे पीछे लिया है, कारण कि यह विषय अति कठिन है। वे कहते हैं कि तुम्हें मन वाणी, और कर्म द्वारा सदा सत्य का पालन करना चाहिये। और इस प्रकार से सर्वदा सत्य का पालन करना कोई सहज बात नहीं है। आपको प्रतीत होगा कि कोई भी बात पहिले सदा विचार में ही आती है। आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि पहिले किसी बात का विचार उत्पन्न होता है, फिर वह बात वाणी द्वारा व्यक्त की जाती है और तत्पश्चात् आचरण में आती है। यह आध्यात्मिक विद्या के अनुसार साधारणक्रम है। भगवान् बुद्ध ने भी सत्य विचार, सत्य वचन, और सत्य कर्म, इसी क्रम में ये तीनों बातें कहीं हैं।

सबसे पहिले इसे विचार में लाओ, और यह बात इतनी सहज नहीं, क्योंकि संसार में अनेकों ही असत्य विचार एवं मूर्खतापूर्ण

अन्धविश्वास भरे पड़े हैं; और जो इन सबका दास बना रहता है वह कभी उन्नति नहीं कर सकता।"

लेडबीटर—थिऑसोफ़ी-(ब्रह्मविद्या) के विद्यार्थी ऐसा सोचते हैं कि हम अन्धविश्वासों से सर्वथा मुक्त हैं। मैं नहीं कह सकता कि यह कहाँ तक सत्य है, क्योंकि मुझे थियोसोफ़िकल अंधविश्वासों के उत्पन्न होने की संभावना लगती है। यदि कोई मनुष्य किसी बात पर इस लिये विश्वास रखता है कि वह धर्म-ग्रन्थों में लिखी है, तो निःसंदेह उस सीमा तक वह अन्धविश्वासी है, क्योंकि उसके इस विश्वास के लिए उसके पास कोई उपयुक्त आधार नहीं है। तथापि इस मूढ़ विश्वास से यह कहना केवल एक ही क़दम आगे है कि "यह कथन श्रीमती ब्लावैट्स्की का है अथवा यह बात 'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (Secret Doctrine) में लिखी है।" यह एक क़दम आगे इस लिए है कि इस मूढ़ विश्वास की अपेक्षा कि अमुक संत ने ऐसा आचरण किया अथवा प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा लिखा है, श्रीमती ब्लावैट्स्की का ज्ञान और उनकी कही हुई बातों की प्रमाणिकता की साक्षियां अधिक हैं। किन्तु जिस प्रकार सेंट पाल, सेंट पीटर प्रभृति संतों का कथन होने मात्र से ही हमें किसी बात को नहीं मान लेना चाहिये, उसी प्रकार श्रीमती ब्लावैट्स्की के कथन पर भी हमें अन्धविश्वास नहीं होना चाहिये। हमें पहिले बातों को समझना चाहिये और उन्हें अपना एक अंग बना लेना चाहिये। फिर अपने को उसके रङ्ग में रङ्ग लेना चाहिये और उस रंग को अपने रंग में परिणित कर लेना चाहिये। जब तक हम किसी विषय को केवल तोते की भांति ही

पढ़ते हैं तब तक वह अन्धविश्वास ही है। किसी वास्तविक सत्य में भी, केवल इस लिये कि सिवाय उसके इस ग्रन्थ में या उस ग्रन्थ में लिखे होने के और कोई दूसरा प्रमाण नहीं है, विश्वास का होना अन्धविश्वास ही है। किन्तु जब वह बात हमारे मानसिक ढांचे का एक अंग बन जाती है तब हम कह सकते हैं कि "यह मेरा ही एक अंग है. और यह अब मेरी ही वस्तु है। मैं जानता हूं कि मैं इस पर क्यों विश्वास करता हूं। अतः मेरा विश्वास एक सज्ञान विश्वास है, केवल मूढ़ विश्वास नहीं।" मुझे भय है कि बहुत से विषयों के सत्य में भी बहुत दूर तक ज्ञानरहित ही विश्वास होता है।

ऐनी बेसेंट—मनुष्य के लिए अन्धविश्वास से—अर्थात् अनावश्यक को आवश्यक समझना जो अन्धविश्वास का सार है, मुक्त होना इतना कठिन है कि प्रथम दीक्षा लेने तक इस बात के लिए उससे आशा ही नहीं की जाती। इससे प्रतीत होता है कि यह बात इतनी गंभीर और सूक्ष्म है कि यह धीरे-धीरे मनुष्य के स्वभाव में ही मिश्रित हो जाती है। श्री गुरुदेव कहते हैं कि जो मनुष्य इनका दास बना रहता है वह कभी उन्नति नहीं कर सकता। यह तो एक सामान्य वर्णन है, किन्तु हमें 'दास बना रहना' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वे यह नहीं कहते कि जो तनिक भी अंधविश्वासी है वह उन्नति नहीं कर सकता, वरन् यह कहते हैं कि जो इन अन्धविश्वासों का दास बना रहता है, वह उन्नति नहीं कर सकता। लोगों को पिछड़े हुए रखने में अन्धविश्वास एक बड़ा कारण है। हम जानते हैं कि अनेकों ही धर्माचारी मनुष्य

ऐसे हैं जो सज्जन, पवित्र, और उदार हैं, एवं जो सुन्दर और उद्योगी जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु फिर भी वे अन्धविश्वासी हैं। उनके विचार में तो केवल उनके कर्मकांड, और जप मंत्र आदि पूजाविधान ही महत्वपूर्ण बातें हैं, किंतु इन बातों का वस्तुतः कुछ भी महत्व नहीं।

उदाहरण के लिये मृतात्माओं को सहायता पहुंचाने के निमित्त की जाने वाली भिन्न २ धर्मों में श्राद्धादि क्रिया को लीजिये। रोमन कैथोलिक ईसाई अपनी सामूहिक प्रार्थना (Mass) मृतात्माओं की शांति के निमित्त करते हैं, और हिन्दू भी अपने श्राद्ध संस्कार का संपादन इसी आशय से करते हैं। दोनों ही क्रियायें मृतात्माओं की सहायता करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही की जाती हैं; दोनों के वाह्य रूपों में बहुत कुछ भिन्नता होते हुए भी दोनों का आशय एक ही है। तथापि एक हिंदू अथवा कैथोलिक ईसाई का इन क्रियाओं के केवल वाह्य रूपों में ही जकड़बन्द रहना अन्धविश्वास कहलाता है। इन क्रियाओं के करने में उनकी सदिच्छा, आग्रह तथा मृतात्माओं के प्रति उनका प्रेम ही वे वास्तविक बातें हैं जिनका कुछ परिणाम होता है। सदिच्छा का महत्व असीम है, किंतु इन वाह्य क्रियाओं के किसी विशेष रूप का कुछ भी महत्व नहीं, क्योंकि यह तो उनकी इच्छाओं का एक आडम्बर मात्र है। वह सर्वथा लौकिक है; अतः उसका कुछ भी महत्व नहीं है। क्रियाओं का यह वाह्य रूप तो आप जिस धर्म में अथवा जिस देश या जाति में उत्पन्न होते हैं उनपर निर्भर रहता है। अतः आपको इन धार्मिक अनुष्ठानों एवं संस्कारों के अन्धविश्वास से तथा इन वाह्य आडम्बरों के प्रभाव से

मुक्त रहना चाहिये। बहुत काल तक यह विश्वास आवश्यक था और अच्छा भी था, क्योंकि यह मनुष्य को आलस्य, असावधानता, और उदासीनता के चंगुल से छुटकारा दिलाने का एक मात्र उपाय रहा है। यह वाह्य आडंबर तो पंगुओं के सहारे के लिये वैसाखी के समान हैं, और जो लोग अभी तक अपने सहारे चलने में असमर्थ हैं उनके लिए यह आवश्यक भी हैं, किंतु एक बार जब आप इनकी सहायता के विना ही चलने में समर्थ हो जाते हैं, तब अपको इन्हें त्याग देना चाहिये।

'अस्तु, तुम्हे किसी बात को इसलिये ग्रहण नहीं करना चाहिये कि उसे बहुसंख्यलोग मानते हैं, शताब्दियों से चली आई है, अथवा उन धर्मग्रन्थों में लिखी है जिन्हे लोग पवित्र समझते है; तुम्हें उस पर स्वयं विचार करके उसके उचित होने का निर्णय कर लेना चाहिये।"

लेडवीटर—ये शब्द महात्मा कुथुमि के हैं, और येही ढाई हजार वर्ष पहिले भगवान् बुद्ध ने भी कहे थे, जब लोग उनके पास यह पूछते आये कि "कितने ही तो गुरु हैं और उनके द्वारा कितने हो सिद्धान्त हमारे सामने रक्खे जाते हैं, एवं वे सभी सिद्धान्त उत्तम प्रतीत होते हैं, अब हम किस प्रकार जानें कि इनमें से कौनसा मत सर्वोत्तम है। इसका निर्णय किस प्रकार करें?" भगवान् बुद्ध ने जो उत्तर दिया वह 'अंगुत्तर निकाय' के 'कालामू सूत्त' में इस प्रकार दिया गया है:

"भगवान् बुद्ध ने कहा है कि हमें किसी बात पर केवल इसलिये विश्वास नहीं कर लेना चाहिये कि वह किसी की कही हुई है अथवा प्राचीन काल से चली आई परंपरागत है, इस प्रकार की जनश्रुतियों पर, संतों द्वारा

लिखे गये ग्रन्थों पर, किसी देवता द्वारा प्रोत्साहित किये जाने की मिथ्या बात को आत्म-प्रेरणा का रूप देकर, अथवा ऊँटपटांग कल्पनाओं द्वारा कोई अनुमान बाँधकर, किसी भी बात पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिये; उपमा देने के लिये कही गई बातों को भी आवश्यक नहीं समझना चाहिये, और न केवल अपने गुरुओं अथवा शिक्षकों के वचनों को ही प्रमाण मान लेना चाहिये। परन्तु हमें किसी लेख, सिद्धान्त, अथवा कथन पर तब विश्वास करना भी चाहिये,जब उसका समर्थन हमारी बुद्धि एवं अन्तःकरण द्वारा होता हो।" अन्त में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि "मैंने तुम्हें यह शिक्षा इसलिये दी है कि तुम केवल सुनकर ही किसी बात का विश्वास मत करो किंतु जब उस बात को तुम हृदयंगम करलो, तब उसके अनुसार उत्साहपूर्वक कार्य करो।"

श्री गुरुदेव ने अपने शिष्यों के करने के लिये एक अभ्यास यह भी नियत किया है कि वे इस बात की खोज करें कि कितनी बातें तो वे वास्तव में जानते हैं, और कितनी बातों पर केवल उनका विश्वास ही भर है। इस बात का देखना एक लाभदायक अभ्यास है कि हमारे विचारों में से कितने विचार तो वस्तुतः हमारे निजी हैं जिन्हें हमने समझ बूझ कर अंगीकार किया है, और कितने ऐसे हैं जिन्हें हमने बिना कुछ समझे बूझे केवल दूसरों द्वारा सुनकर ही ग्रहण कर लिया है। जैसे हम भिन्न २ देश में जन्म लेते हैं वैसे ही हम भिन्न-भिन्न धर्म में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार एक बड़ी संख्या में रस्मोरेवाज की बात भी है। उदाहरणार्थ, अंगरेज़ों में रिवाज़ है कि यदि आप किसी

भोज में जाते हैं तो आपको एक विशेष प्रकार का वस्त्रधारण करना पड़ता है। यह एक रिवाज है, और मनुष्य इस प्रकार के रिवाजों के विरुद्ध जाना नहीं चाहता। क्योंकि इसका कोई महत्व नहीं है, और न इनके विषय में उचित-अनुचित का प्रश्न ही उठता है।

ऐनी बेसेंट—समय समय पर अपने मन के विचारों का परीक्षण करने का यह अभ्यास बहुत ही उपयोगी है। प्रथम तो यह विचार कीजिये कि कितनी बातें ऐसी हैं जिन पर और भी अनेक लोगों का विश्वास होने के कारण ही आप भी विश्वास करते हैं; दूसरे, कितनी बातें ऐसी हैं जो पुरातनकाल से चली आई हैं, इस लिये आप उनपर विश्वास करते हैं; तीसरे, कितनी बातें ऐसी हैं जो धर्म-ग्रन्थों में लिखी हैं, इसलिये आप उन पर विश्वास करते हैं। अब, इन तीन प्रकार के विश्वासों को दूर कर देने के पश्चात् क्या बाकी रहता है, उस पर ध्यान दीजिये। इस अभ्यास के द्वारा आपको विदित हो जायगा कि आपके विश्वासों की वास्तविकता क्या है। नास्तिक विचार-धारा का अनुभव प्राप्त करने का, जैसा कि मैंने किया था, यह एक लाभ है। मेरे विचार में स्वयं इसका अनुभव किये बिना मनुष्य इस बात को पूरी तरह नहीं समझ सकता कि जो व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों पर वास्तव में ही सच्चे हृदय से दृढ़ हो, उसके लिये उन विश्वासों का त्याग करना क्या अर्थ रखता है; जिस नींव पर मनुष्य खड़ा हो, वही यदि गिर जाये तो उसकी क्या अवस्था होगी। मेरे लिये तो यह लगभग मृत्यु के समान था। कई सप्ताह तक मेरी शारीरिक शक्ति क्षीण रही। किंतु एक

वार इस प्रकार का पूर्ण अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् दुबारा वैसा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अस्तु, जब मैं थियोसोफ़ी—ब्रह्मविद्या—के सम्पर्क में आई, तब यद्यपि मुझे पूर्ण आन्तरिक विश्वास के साथ इस पर निश्चय हो गया था, तथापि इसे ग्रहण करते समय मैंने अपने विचारों की कसौटी पर इसकी भली भाँति परीक्षा करली थी।

"याद रक्खो कि एक विषय पर चाहे एक हज़ार मनुष्यों की अनुमति क्यों न हो; किंतु यदि वे लोग उस विषय को कुछ भी नहीं जानते, तो उनके मत का कुछ भी मूल्य नहीं है।"

लेडबीटर—आधुनिक जगत् के लिये इस विषय को समझना बहुत कठिन है। आजकल लोग ऐसा विचार करते प्रतीत होते हैं कि यदि आप केवल बहुत सा अज्ञान ही इकट्ठा कर लें तो उसमेंसे किसी न किसी प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेंगे; किंतु ऐसा होता नहीं। अज्ञानियों को उनका पथ प्रदर्शन कर सकने वाले मनुष्यों की संगति प्राप्त होनी ही चाहिये।

ऐनीबेसेंट—पुस्तकों के ढेर के ढेर जो वर्तमान समय में हमें प्राप्त हैं, वे एक प्रकार से हमारे लिये हानिकारक है। यह विचार-रहित पठन की टेव उत्पन्न करता है, जिससे विचारों की निःसारता और चंचलता का जन्म होता है। इसी कारण मैं लोगों को सदा यही सलाह देती हूँ कि थोड़ा पढ़ें, और उसको स्मृतिद्वारा (कण्ठस्थ करके) नहीं वरन् उस विषय को जितना उन्होंने स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लिया है, अपने शब्दों में

व्यक्त करें। जितना आपने समझ लिया है, केवल उतना ही आपका है। जो कुछ आप पढ़ते अथवा सुनते हैं, उस पर विचार करके ही आप उसे अपना बना सकते हैं। अन्यथा जितना ही अधिक आप पढ़ेंगे, उतना ही अधिक अंधविश्वसी बनते चले जायेंगे, और अपने पहिले के निर्मूल विश्वासों के ढेर में नये-नये विश्वास और भी सम्मिलित करते जायेंगे।

एक बार मैंने एक आदमी को नियुक्त किया। वह हिसाब-किताब बहुत बुरी तरह से रखता था। जब कभी भी उसके हिसाब में गड़बड़ी होती थी, तो वह उसे फिर से नई किताब में लिखना शुरू कर देता था, और इस प्रकार उसे ठीक कर लेने की आशा करता था। ठीक इसी प्रकार आजकल लोग सदा ही कुछ न कुछ नई बात चाहते हैं, क्योंकि उनके पुराने विश्वासों द्वारा उन्हें वास्तविक संतोष नहीं मिलता। हमारे सदस्यों में से भी जो लोग सब जगह मेरी और विशप लेडबीटर की पुस्तकों का प्रमाण देते रहते हैं, वे भी अन्धविश्वासी ही हैं। हमारे जिस वक्तव्य को वे प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं, वह चाहे कितना ही सत्य क्यों न हो, किन्तु वह अभी उनके लिये सत्य नहीं है। यदि उन्होंने उसे हृदयंगम कर लिया होता, तो फिर उन्हें उसके प्रमाण के लिए हमारा आधार लेने की आवश्यकता न पड़ती। यदि वे हमारे कथन का थोड़ा बहुत उद्धरण देते भी हैं, तो उन्हें हमारे शब्दों को केवल एक मत के रूप में उद्धृत करना चाहिये; उन विचारों को दूसरों पर बलात् नहीं लादना चाहिये। संसार में केवल एक ही प्रमाण है—और वह अपना व्यक्तिगत ज्ञान।

"जिसे सत्यमार्ग पर चलना है उसे स्वयं विचार करना सीखना चाहिये, क्योंकि अन्धविश्वास संसार की सब से बड़ी बुराइओं में से एक है, यह एक ऐसा बंधन है जिससे पूर्ण रूप से मुक्त होना चाहिये।"

लेडबीटर—सत्यमार्ग के पथिक को प्रथम दीक्षा के पश्चात् जिन तीन बंधनों को काट फेंकना चाहिये, उनमें से तीसरा बन्धन अन्धविश्वास है। इस बात से यह प्रगट है कि यह कितना अत्यन्त भीषण अति सूक्ष्म है। पाली भाषा में इसे "सिलाब्बत परामास" अर्थात् किसी भी प्रकार के कर्मकांड अथवा अनुष्ठानों के सुप्रभाव में विश्वास करना कहते हैं।

"दूसरों के विषय में तुम्हारा विचार सदा सत्य होना चाहिये; उनके विषय में जो बात तुम नहीं जानते, उस पर विचार मत करो।"

लेडबीटर—यदि हम अनुमान से ही दूसरों के विषय में विचार स्थिर कर लें, तो हमारा वह विचार केवल एक कल्पना ही होगी। हमारे अति निकट सम्बन्धियों के विषय में भी वस्तुतः हम बहुत ही थोड़ा जानते हैं, और हमारे साधारण परिचित जनों के विषय में तो और भी कम; किन्तु तौभी हम दूसरों के कथन की, कार्यों की, और काल्पनिक विचारों की लगातार व्यर्थ बकवाद करते रहते हैं, और सौभाग्य से इनमें से अधिकांश बातें सर्वथा असत्य होती हैं।

ऐनीबेसेंट—दूसरों के विषय में हमारी धारणायें अधिकतर असत्य ही होती हैं। दूसरों के लिये ठीक विचार तो हम तभी कर सकते हैं, जब हम उन्हें भली प्रकार जान लें, उनके विचारों का प्रत्यक्ष निरीक्षण करें

और उन्हें समझ लें। यह ज्ञान अधिकांश लोगों के लिये असम्भव है, और तौभी लोग दूसरों के लिये निश्चित मत स्थिर कर लेते हैं, एवं लगातार दूसरों के विषय में अपनी राय कायम करते, जांचते और उनके प्रति निर्दयता-पूर्वक सोचते रहते हैं।

थोड़ा आगे चल कर श्री गुरुदेव कहते हैं कि "दूसरों के उद्देश्यों के सम्बन्ध में कल्पित उद्देश्यों का आरोपण मत करो।" यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परामर्श है, जिस पर यदि आचरण किया जाये, तो संसार का लगभग आधा कष्ट दूर हो जाय। यदि एक व्यक्ति कोई कार्य करता है जिसे आप नहीं समझते तो उसे वहीं छोड़ दो; उसके विषय में उसके संभावित उद्देश्य का आविष्कार मत करो। एक मनुष्य कोई कार्य किस उद्देश्य से करता है, इसे आप नहीं जान सकते, किन्तु फिर भी संभावित उद्देश्य को ढूंढते रहते हैं, जो कि प्रायः झूठ होता है, और उसी उद्देश्य को आप उसके कार्य से सम्बद्ध कर देते हैं। तब आप उसी उद्देश्य के लिये उसे दोषी ठहराते हैं, जो आपका ही सोचा और उत्पन्न किया हुआ है। इस प्रकार दोषारोपण और आलोचना करके आप उस व्यक्ति की बुराई की शक्ति को पुष्ट करते हैं जिसकी उसमें होने की संभावना है, और यदि वह बुराई उसमें नहीं है, तो आप उसे उत्पन्न करते हैं। महात्मा क्राइस्ट ने कहा है कि "बुराइयों का अवरोध मत करो," यह बात इसी स्थान पर लागू होती है; लोगों की बुराइयों को खोज के उनसे संघर्ष करने का काम हमारा नहीं है; उसका ध्यान छोड़ दीजिये, यह स्वयं ही नष्ट हो जायेंगी।

"यह कल्पना मत करो कि लोग सदा तुम्हारे ही विषय में सोचा करते हैं।"

लेडबीटर—निरन्तर ऐसा ही होता है; हम यही समझते हैं कि दूसरा मनुष्य जो कुछ भी कहता अथवा करता है उसका लक्ष्य हमीं हैं। क्योंकि हम सदा अपना ही विचार करते रहते हैं, अतः हम यही कल्पना करते हैं कि दूसरे लोग भी हमारे ही विषय में सोचते होंगे। परन्तु जैसे हम सदा अपने ही विषय में विचार करते हैं उसी प्रकार, यही सोचना अधिक बुद्धिमानी होगी कि, दूसरे लोग भी सदा अपना ही विचार करते होंगे, हमारा नहीं। लोग अपने ही को अपनी परिधि का केन्द्र बनाये रखते हैं, और उसी के चारों ओर उनके विचार और भावनायें घूमती रहती हैं; वे समझते हैं कि प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर ही प्रभाव डाल रही है। क्योंकि वे स्वयं प्रति समय अपने ही दायरे में घूमते हैं, और सदा अपने विषय के विचारों में ही लीन रहते हैं, अतः वे सोचते हैं कि अन्य लोग भी उन्हीं के विषय में सोचते होंगे; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के विचारों की सीमा अपने तक ही होती है—यद्यपि यह भी उतनी ही दोषपूर्ण बात है इसमें संदेह नहीं। लोग जो दूसरों के कथन या बर्ताव से क्रुद्ध हो उठते हैं, उसके कारण का मूल दस में से नौ स्थानों पर वही विचार होता है।

"यदि एक मनुष्य कोई ऐसा कार्य करता है जिससे तुम्हारी समझ में तुम्हारी हानि होगी, अथवा वह कोई ऐसी बात कहता है जो तुम्हारे विचार में तुम पर घटती है, तत्काल ही यह मत सोचो कि "उसका उद्देश्य मुझे हानि पहुंचाना था।" बहुत संभव है कि उसने

तुम्हारे विषय में सोचा ही न हो, क्योंकि प्रत्येक जीव के अपने निज के कष्ट होते हैं, और उसके विचारों का केन्द्र मुख्यतः वह स्वयं ही रहता है। यदि कोई मनुष्य तुमसे क्रोधित होकर बात करता है तो यह मत सोचो कि वह तुमसे घृणा करता है अथवा तुम्हे व्यथित करना चाहता है। हो सकता है किसी अन्य व्यक्ति ने उसे क्रोधित कर दिया हो, और संयोग से उस समय तुम उसे मिल जाते हो, और तब उसका सारा क्रोध तुम्हीं पर उतरता है। यह ठीक है कि वह मूर्खतापूर्ण कार्य कर रहा है, क्योंकि क्रोध करना ही मूर्खता है किन्तु तुम्हे उसके विषय में असत्य विचार नहीं करना चाहिये।"

लेडबीटर—यह एक स्पष्ट व्यवहारिक ज्ञान की बात है, किन्तु कितने थोड़े लोग इसे काम में लाते हैं! जब मैं इङ्गलैंड में पादरी का काम करता था, तब एक बार मैंने कुछ ऐसी साधारण परीक्षाओं या प्रलोभनों के विषय में एक धार्मिक व्याख्यान दिया, जो मेरे विचार में किसानों और मज़दूरों के जीवन में आते हैं जो उस समय मेरे श्रोतागण थे। मैंने बतलाया कि किस प्रकार एक विशेष कार्य के द्वारा मनुष्य कष्ट में पड़ सकता है। प्रार्थना समाप्त होने के पश्चात् एक मनुष्य क्रोध से भरा हुआ मेरे पास मेरे कमरे में आया और मुझसे पूछा कि मैंने उसे लक्ष्य करके ऐसा व्याख्यान क्यों दिया! निःसंदेह वह मनुष्य पूरी तरह क्रोध के वश में था। इससे पहिले मैंने कभी यह सोचा भी नहीं था कि उस मनुष्य में वह दोष वर्तमान है; किन्तु स्पष्टतः उसके लिये यह बात मार्मिक सिद्ध हुई, और मेरे शब्द उसे चुभ गये। मुझे इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि आज तक वह व्यक्ति यही समझता है कि मैंने उसी को लक्ष्य करके वे बातें कहीं थीं, और उसीके दोषों का प्रचार किया था।

जिस प्रकार की भीड़-भाड़ में हम जीवन व्यतीत करते हैं, उसमें किसी अंश तक संघर्ष का होना अनिवार्य है। इस संघर्ष को गंभीरता पूर्वक लेने अथवा महत्वपूर्ण समझने की आवश्यकता नहीं। हम जब किसी बड़े नगर की सड़कों पर चलते हैं तब वहां हजारों मनुष्य अपने-अपने कार्यों में व्यस्त आते जाते रहते हैं, और एक दूसरे के विषय में तनिक भी विचार नहीं करते; इतनी भीड़ में एक दूसरे को धक्का लगना अनिवार्य होता है, किन्तु कभी कोई इसे अपमान समझकर गंभीरतापूर्वक लेने का विचार भी नहीं करता; ऐसा विचार करना ही उपहासास्पद होगा। ठीक इसी प्रकार मानसिक और भाविक संघर्ष भी अनिवार्य है। जहाँ बहुत भीड़ होती है वहाँ कुछ मात्रा में मानसिक एवं भाविक मुठभेड़ होना अवश्यम्भावी है! हमें भी उसे ठीक उसी भाव से ग्रहण करना चाहिये; और यह अनुभव करना चाहिये कि जिस मनुष्य ने हमें मानसिक व्यथा पहुँचाई है, उसका उद्देश्य मुझे व्यथा पहुँचाने का तनिक भी नहीं था; वह अपने ढंग से अपने ही कार्यों में निमग्न था। हमारे विषय में कुछ सोच भी नहीं रहा था। इन छोटे छोटे संघर्षों के विषय में ठीक उसी प्रकार कुछ भी महत्व नहीं देना चाहिये जैसे हम रास्ते चलते परस्पर टकरा जाने को महत्व नहीं देते। किन्तु जहाँ दूसरों के प्रति हम यह मनोवृत्ति रखें कि वे अपने ही कार्यों में संलग्न हैं, वहाँ साथ ही हमारा अपना भी यह कर्त्तव्य है कि हम भी उनकी ही भाँति अपने कार्यों में ऐसे लीन न हो जायें कि दूसरों के प्रति शिष्टाचार, जिससे कि परस्पर जीवनयात्रा बहुत ही सुगम हो जाती है, भूल जायें।

एक थिऑसोफ़िस्ट (ब्रह्मविद्या का साधक) संसार में दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक विनम्र एवं शान्त और अपरिवर्तनीय प्रसन्नचित्तता द्वारा पहचाना जाना चाहिये। सज्जन और धैर्यवान् बनिये; चाहे आपको कितनी ही शीघ्रता का काम क्यों न हो, पर मित्रतापूर्ण सज्जनता का भाव दिखाने के लिये समय सदा ही मिल सकता है। मनुष्य को कभी चिड़चिड़ेपन की भावना के आधीन नहीं होना चाहिये, जो स्नायुओं की अधिक थकान के कारण आती है और जिसका होना इस संघर्षमय वर्तमान् समय में बहुत साधारण बात है।

ऐनीबेसेंट—श्री गुरुदेव यहाँ एक बहुत ज्ञानयुक्त परामर्श देते हैं। आप स्वयं सदा अपने ही विषय में विचार करते रहते हैं इसलिये यह अनुमान मत कीजिये कि दूसरे भी आपके हो विषय में सोचते होंगे। दूसरे लोग भी अपने-अपने विषय में ही सोचते हैं, आप के विषय में नहीं। जिस प्रकार आप अपने कार्यों में व्यस्त हैं, उसी प्रकार वे भी अपने-अपने कार्यों में लगे हुये हैं। इस भावना को ग्रहण करके यदि इसी पर आचरण किया जाये, तो प्रत्येक राष्ट्र की प्रसन्नता में बहुत वृद्धि हो जाये। जीवन के कोलाहल में यदि कोई मनुष्य आपसे टकरा जाता है तो यह मत समझिये कि उसका उद्देश्य आप को हानि पहुँचाना है, अथवा इसमें उसका कोई स्वार्थ है। जब तक आपको इस बात का निश्चय न होजाये कि किसी व्यक्ति का उद्देश्य आपका अनिष्ट करना था, तब तक इससे विपरीत बात सोचनी ही अधिक उत्तम है।

मान लीजिये कि कोई मनुष्य आपसे क्रोधपूर्वक बात करता है। उस समय यदि आप उस पर कल्पित दोष का

आरोपण न करने की बात याद रक्खें और स्वयं क्रोधित न हों, तो आत्म-संयम करने में आप बहुत शीघ्र उन्नति करेंगे। साधारणतया लोग इस बात को पीछे याद करते हैं। जिस मनुष्य का अपने ऊपर निग्रह है वह चिड़चिड़ेपन को प्रगट नहीं करेगा, किन्तु यदि उसे पूर्ण आत्म-संयम प्राप्त है तो उसे यह भावना ही नहीं आयेगी। यदि दूसरा व्यक्ति दोषी भी हो, तो भी यह एक उसकी दुर्बलता ही है, और जिसे गुप्त विद्या का साधक (occultist) बनना हो उसे दूसरों की दुर्बलताओं के प्रति उदारभावना रखनी चाहिये। मनुष्य को यह याद रखना चाहिये कि क्रोधयुक्त बचन कहने वाला या चिड़चिड़ेपन से और उतावलेपन से उत्तर देने वाला व्यक्ति बहुधा ही किसी क्लेश या चिन्तायुक्त स्थिति में होता है, जिसके कारण वह ऐसा करता है। स्नायुयों के तनाव के कारण वह उद्विग्न है, और उसमें इतनी शक्ति नहीं कि वह इस तनाव को सहन करके भी इसे प्रगट न करे।

जैसा श्रीगुरुदेव कहते हैं, यह बात वास्तव में सच है कि वह व्यक्ति मूर्खतापूर्ण कार्य करता है, परन्तु हमें अपनी ओर से उदारता रखनी चाहिये। लोगों की बहुत सी छोटी छोटी कठिनाइयाँ इसी प्रकार से उत्पन्न होती हैं। किसी व्यक्ति पर यदि परीशानियों का भार बहुत होता है तो वह उसे लगभग प्रत्येक बात पर क्रोध कर देने का कारण बन जाता है। सोचिये कि संसार में कितने प्रकार के कष्ट हैं—अनेक प्रकार के कष्टों के बोझ से निरन्तर दबे हुये मनुष्य चिन्तित रहा करते हैं। वास्तव में हम अपने आसपास रहने वालों के भी सब कष्टों को नहीं जानते, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कठिनाइयों को घोषित करता

नहीं फिरता। साधारण मर्यादा उसे ऐसा करने से रोकती है। किंतु यदि हम यह याद रक्खें कि ऐसी कठिनाइयाँ सबके लिये उपस्थित हैं, और उनके प्रति उदारभाव धारण करलें, तो हम उस पूर्ण शान्ति को प्राप्त कर सकेंगे जो श्रीगुरुदेव की इस शिक्षा का लक्ष्य है।

"जब तुम गुरुदेव के शिष्य बन जाते हो, तो तुम्हें सदा अपने विचारों को उनके विचारों के साथ रखकर उनकी सत्यता की जांच कर लेनी चाहिये। क्योंकि शिष्य का अपने गुरु के साथ एकत्व हो जाता है, और उसे अपने विचारों को गुरुदेव के विचारों के सन्निकट रख कर केवल यह देख लेने की आवश्यकता रहती है कि वह विचार उनसे मेल खाता है या नहीं। यदि मेल नहीं खाता तो वह मिथ्या है। तब वह शिष्य अपने विचार को तुरन्त ही बदल देता है, क्योंकि गुरुदेव के सर्वज्ञानी होने के कारण उनका का विचार पूर्ण होता है।"

ऐनीबेसेंट--एक स्वीकृत शिष्य सदा अपने विचार को श्रीगुरुदेव के विचार के साथ रख कर ही उसकी परीक्षा करता है। यदि उसे उसमें कोई विरोध प्रतित होता है तो वह जान लेता है कि उसका विचार ठीक नहीं। स्थूल रूप से इसकी उपमा संगीत में किसी विवादी स्वर के लगने से दी जासकती है। शिष्य को श्री गुरुदेव का ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता नहीं; वह केवल अपने विचार को उनके विचार के साथ रखता है, और यदि उसे यह सत्य प्रतीत नहीं होता तो तुरन्त ही उसे हटा लेता है, और अपने विचार को श्री गुरुदेव के विचार के अनुरूप करने के लिये तत्काल ही प्रयत्न करना आरंभ कर देता है। वह इसके लिये कोई तर्क नहीं करता, और न यह पता लगाने की चेष्टा करता है कि शायद उसका ही

विचार ठीक हो, क्योंकि यदि यह दोषपूर्ण है तो उसकी भूल तुरंत ही प्रत्यक्ष होजाती है। जो अभी तक स्वीकृत शिष्य नहीं हैं वे ठीक-ठीक ऐसा नहीं कर सकते, और इससे बहुत से जिज्ञासुओं के मार्ग में कठिनाई उत्पन्न होती है। एक स्वीकृत शिष्य की चेतना श्री गुरुदेव की चेतना से एक हो जाती है। इसीलिये श्री गुरुदेव कभी किसी ऐसे शिष्य को स्वीकार नहीं करेंगे जिसके अवांछित विचारों को समय २ पर अपने से विलग रखने के लिये भविष्य में उन्हें किसी रुकावट का निर्माण करने की आवश्यकता पड़े।

लेडबीटर—यह कहा गया है कि शिष्य अपने गुरू के साथ एक होता है। यह एक प्रकार से सत्य है। इसे केवल श्री गुरुदेव ही पूर्णरूप से जानते हैं। शिष्य भी जानता है किन्तु पूर्णरूप से नहीं। जिनका अभी तक वह सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ है, वे उस एकता की घनिष्ठता को नहीं समझ सकते। शिष्य अपने गुरू के विचार का एक वाह्य भाग बन जाता है और जो सम्बन्ध व्यक्ति का अपने जीवात्मा के साथ होता है, लगभग वही संबंध उसका अपने गुरू के साथ हो जाता है। जीवात्मा अपना एक छोटा अंश (यह वर्णन बिल्कुल ठीक तो नहीं है, किन्तु जीवात्मा के प्रतिबिंब होने के वर्णन की अपेक्षा अधिक ठीक है) नीचे के लोकों में उतरता है, जहां कि सर्वश्रेष्ठ स्थूल, भाविक, एवं मानसिक शरीर भी उसका केवल एक अपूर्ण आभाष ही दे सकते हैं। यहां स्थूल जगत में जब हम अपनी नाना प्रकार की दुर्बलताओं के लिये क्षुब्ध होते हैं, उस समय यह विचार हमारे लिये संतोषदायक

होना चाहिये। मनुष्य तव अपने को यह कह सकता है कि "जीवात्मा सभी बातों को इससे अच्छी तरह जानता है; इस लिये मुझे निराश होने की आवश्यकता नहीं। मेरे लिये तो केवल यही आवश्यक है कि मैं (जीवात्मा) अपने अंश को इन नीचे के लोकों में अधिक से अधिक प्रकट करूं, ताकि जैसा मैं उच्च लोकों में हूं उसका ही शुद्ध स्वरूप यहां भी प्रदर्शित कर सकूं, और तव मेरी अपूर्णतायें कम हो जायेंगी।"

ठीक इसी प्रकार शिष्य अपने गुरू का प्रतिनिधि मात्र ही नहीं होता, वास्तव में वह गुरू का ही स्वरूप वन जाता है। यह स्वरूप कितनी ही सीमाओं में परिमित होता है—ये सीमायें केवल नीचे के लोकों की ही नहीं होतीं, वरन् शिष्य के देहाभिमानी व्यक्तित्व (Personality) की भी होती हैं जिसका भाव वह अभी तक मिटा नहीं पाया है। यदि शिष्य के जीवात्मा का अपनी सव नीचे की उपाधियों पर पूर्ण निग्रह हो जाये ताकि उसकी सव उपाधियां जीवात्मा का प्रतिविम्व या प्रकाश वन जायें, तव वह शिष्य अपने में श्री गुरुदेव के स्वरूप को अधिक पूर्णरूप से व्यक्त करने में समर्थ हो जायेगा। किन्तु उस अवस्था में भी वह सीमित तो रहेगा ही, क्योंकि जिस जीवन्मुक्त महात्मा का वह अनुसरण करता है उनकी अपेक्षा शिष्य की जीवात्मा कम उन्नत होती है। अतः शिष्य उनका एक अपूर्ण प्रतिनिधि ही हो सकता है। तथापि, जो विचार शिष्य के मन में आते हैं वे सब श्री गुरुदेव के मानसिक शरीर एवं वासना शरीर में भी रहते हैं। अंशतः इसी कारण से प्रत्येक शिष्य को पहिले परिदृश्यमाण काल

में से गुज़रना पड़ता है; इस काल में उस परिच्छयमाण शिष्य की एक सजीव मूर्ति निरन्तर श्री गुरुदेव की दृष्टि के सामने रहती है। श्री गुरुदेव यह ठीक ठीक जानना चाहते हैं कि उनके भावी शिष्य के विचार और भावनायें कैसी हैं, क्योंकि अन्यथा वे अपने मनशरीर एवं वासना-शरीर में लगातार ऐसे विचार और भावनाओं को बाधा देते हुये पायेंगे जिनका उनके कार्य से सामंजस्य नहीं है। जब श्री गुरुदेव एक समुचित समय तक परीक्षा करके यह देख लेते हैं कि उनके विचारों से सामंजस्य न रखने वाले विचार और भावनायें शिष्य में बहुत ही थोड़ी हैं, तभी वे उसे स्वीकार करते हैं और फिर तो उसे अपना एक अंग ही बना लेते हैं।

फिर भी, उसके पश्चात् श्री गुरुदेव अपनी एवं अपने शिष्य की चेतना के बीच में आवरण डालने की शक्ति अपने हाथ में रख सकते हैं। यद्यपि उस एकता से वंचित न होने के लिये शिष्य को उत्कट अभिलाषा रहती है, तथापि हम भूलोक के निवासी अच्युत नहीं हैं अतः बहुधा ऐसा हो सकता है कि न आने योग्य विचार या भावना हमारे मन में आजाये। श्री गुरुदेव को यह वांछनीय नहीं, अतः वे उस प्रकार के विचार को शान्ति-पूर्वक अपने से दूर हटा देते हैं। यह सत्य है कि इसके पश्चात् ऐसा समय आता है जब कि वे शिष्य को पुत्ररूप में स्वीकार करके इस प्रकार के आवरण का प्रयोग करना भी छोड़ देते हैं, किन्तु वे ऐसा तभी करते हैं जब उन्हें इसका पूर्ण निश्चय हो जाता है कि शिष्य में अब कोई भी दूर रखने योग्य बात नहीं रही।

अपने गुरू की चेतना के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण ही शिष्य अपने विचार को श्री गुरुदेव के विचार के साथ रखने में समर्थ होता है। उसे श्री गुरुदेव का ध्यान आकर्षित करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह अपने तात्कालिक प्रश्न के ऊपर उनकी सम्मति नहीं खोजता, प्रत्युत अपनी स्थापित की हुई एकता द्वारा केवल यह जानने की चेष्टा कर रहा है कि उस प्रश्न विशेष पर श्री गुरुदेव के मन में क्या विचार है। आप पूछ सकते हैं कि शिष्य ऐसा किस प्रकार करेगा ! जिस सीमा तक शिष्य को उस एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है, उसके अनुसार इसकी कई विधियां हैं। वह अपने गुरुदेव की एक सजीव प्रतिमा बनायेगा, और अपनी समस्त शक्ति द्वारा उस तक पहुंचने का यत्न करेगा, और तब अपने विचार का ध्यान करके यह देखेगा कि उसके विचार में श्री गुरुदेव के विचार से तनिक भी विरोध या असामजस्य है या नहीं—यदि उसे ऐसा दिखाई देगा तो वह तुरन्त ही अपने विचार को बदल देगा।

यहां पर भौतिक और आध्यात्मिक विद्या के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। इस संसार में यदि आपका किसी व्यक्ति से मतभेद है तो आप तत्काल ही अपने मत के पक्ष में तर्क करने लगेंगे और उसे न्यायोचित ठहराने की चेष्टा करेंगे; किन्तु आध्यात्म विद्या के मार्ग में हम कभी तर्क नहीं करते; हम जानते हैं कि उच्च श्रेणी पर पहुंचा हुआ व्यक्ति अधिक ज्ञान रखता है, अतः उसके विचार को हम तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। हमें श्री गुरुदेव के मत से विरुद्ध मत स्थिर करने का विचार एक क्षण के लिये भी

नहीं आता (यह विषय मत 'Opinion' का नहीं, वरन् यथार्थ ज्ञान का है) क्योंकि हम जानते हैं कि श्री गुरुदेव के पास सभी प्रकार की सूचनायें एवं उन्हें जानने के साधन वर्तमान हैं जो कि हमारे पास नहीं हैं, अतः वे जिस विषय की बात करते हैं उसे भली प्रकार जानते हैं। उनके मत का आधार वह उच्च ज्ञान है, जो हमारे ज्ञान से बहुत ही अधिक है। यह बात दूसरी है कि तत्पश्चात् हम उनके उस मत के स्थिर होने के कारणों को खोजने का यत्न करें, परन्तु इस बीच हम इसका विरोध नहीं करते और न विरोध करने का विचार ही करना चाहिये। जब शिष्य अपने विचार को श्री गुरुदेव के विचारों के साथ रखता है, तो वह तर्क नहीं करता। जब आपका कोई वाद्ययंत्र बेसुरा हो जाता है, तब आप यह युक्ति नहीं लगाते कि शायद यही अच्छा लगता हो, बल्कि आप उसे तुरन्त ही स्वर में मिला लेते हैं।

आध्यात्म-विद्या के जगत में हम लोग कभी किसी की आलोचना नहीं करते। हम इसे निश्चित मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य जो ऋषिसंघ (Hierarchy) के लिये कार्य कर रहा है वह अपनी पूरी सामर्थ्य के अनुसार ही करता है, और ऐसा करते हुये वह सफल होता है या असफल, इस बात का सम्बन्ध उसके गुरु से है, हमसे नहीं। हां, कभी कभी यह सम्भव हो सकता है कि यदि हम किसी काम में किसी को असफल होते हुये देखें, तो अत्यन्त विनय के साथ उसे अपना परामर्श इस प्रकार दे दें कि "यदि इस कार्य को अमुक प्रकार से किया जाये, तो क्या आपकी समझ में अधिक अच्छा न होगा!" लोग दूसरों के कष्ट

और कठिनाइयों को विना जाने वूझे ही जिस प्रकार वेपरवाह होकर दूसरों की आलोचना करते हैं उस प्रकार एक आध्यात्म या आध्यात्म ज्ञानी वनने का अभिलाषी मनुष्य कभी नहीं करेगा। इस वात को अनुचित समझते हुये हम इसे कभी नहीं कर सकते।

जिन्हें इस मार्ग पर अग्रसर होने की सच्चे हृदय से अभिलाषा है, उनके लिये इस विषय में श्री गुरूदेव के शिष्यों की रीति का अनुकरण करना ही उत्तम होगा। जो लोग अपना काम कर रहे हैं, उनकी आलोचना करने में हमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। अधिकांश मनुष्य, अपने दृष्टि-कोण से अपनी शक्ति के अनुसार सर्वोत्तम कार्य करते हैं। संभव है कि हमारा दृष्टिकोण उनसे वहुत उच्च हो, किन्तु जो भी हो, लोग तो अपनी ही वुद्धि के अनुसार काम करेंगे, हमारी वुद्धि के अनुसार नहीं। दृष्टांत के लिये हमारी सोसायटी में जव कोई अधिकारी नियुक्त किया जाता है, तो उसे कार्य करने का अवसर हमें देना चाहिये। यदि वह उस कार्य को संतोषजनक रूप से नहीं करता, तो समय आने पर हम उस कार्य को किसी और को सौंप सकते हैं। किन्तु इस वीच में हमें उसके कार्य में वाधा नहीं देनी चाहिये। उसे अपनी योग्यता दिखाने का एवं अपने विचारों को कार्यान्वित करने का अवसर देना चाहिये। सदा हस्त-क्षेप करते रहने की आदत वहुत वुरी है।

दूसरों की नुक़ता चीनी करते रहने की हमेशा धुन में रहना अर्थात् हमेशा छिद्रान्वेषण करते रहना एवं पराई दुर्वलताओं, को ढूंढते रहना एक अत्यन्त निकृष्ट वात है। आध्यात्मिक जगत का यह तरीका नहीं है।

हम बहुधा लोगों को ऐसा कहते हुए सुनते हैं कि "मैं आलोचना किये बिना रह नहीं सकता, यह मेरा स्वभाव है।" यदि यह आपका स्वभाव है तो यह बहुत बुरा है, और आपको इसे त्याग देना चाहिये। जब आप यह कहते हैं कि अमुक बात स्वाभाविक है, यह तो मनुष्य की प्रकृति है, "तो इसका अर्थ यह होता है कि एक साधारण मनुष्य ऐसा ही करेगा; किन्तु यदि आपने अपने जीवन की बागडोर वास्तव में ही अपने हाथों में लेली है, तो आप साधारण मनुष्य से कुछ ऊँचा उठने की चेष्टा कर रहे हैं। हम यहां अपने स्वभाव को बदलने के लिये आये हैं। इसमें घमण्ड करने की कोई बात ही नहीं; इस मार्ग का अभिलाषी सर्व साधारण से इसलिये ऊँचा उठना चाहता है कि वह सर्व साधारण को ऊँचा उठाने के योग्य बन सके। वह उनकी ही श्रेणी में रहकर अथवा उनसे नीचा रहकर यह नहीं कर सकता। जो मनुष्य ऐसा करने का संकल्प कर लेता है वह आलोचना करने का जो बुरा स्वभाव है उसे त्याग भी सकता है।

कभी कभी मनुष्य दूसरों को यह कहना चाहेगा कि "अपने जीवात्मा के मार्ग से हट जाओ और उसे अपना काम करने दो। जीवात्मा जो कार्य सरलता पूर्वक कर सकता है, उसके मार्ग में तुम अपने देहाभिमानी व्यक्तित्व को बाधा के तौर पर रख रहे हो।" किसी भी मनुष्य को यह कभी नहीं कहना चाहिये कि "मैं ऐसा नहीं कर सकता।" यदि आप ऐसा कहते हैं तो आप उस विषय का पूर्व निर्णय करके अन्त में अपने असफल होने का भी निश्चय कर लेते हैं। लोग बहुधा ही अपने प्रयास में असफल होते हैं, किन्तु यह एक स्वभाविक बात है। तो भी,

उनके सतत प्रयत्न करने में जो शक्ति संचित होती रहती है वह कभी न कभी सफलता लायेगी। एक बार असफल होने पर हमें यह नहीं सोच लेना चाहिये कि सब व्यर्थ हो गया, क्योंकि जो शक्ति प्राप्त की गई है वह शीघ्र सफलता लाने के लिये चाहे यथेष्ट न हो, किन्तु तोभी यह आप के लिये एक वास्तविक लाभ है। और यदि हम इस शक्ति को अधिकाधिक बढ़ाते जायें, तो समय आयेगा, जब हमारे प्रयत्न सफल होंगे।

निराश होकर बैठ जाना और उत्साहित होकर कुछ करते रहना, इन दो मनोवृत्तियों के बीच गहरा अन्तर है। कहा गया है कि संसार दो प्रकार के लोगों मे विभक्त है एक तो वे जो कुछ न कुछ करते रहते हैं, और दूसरे वे जो चुपचाप बैठे रहते हैं और कहते हैं कि 'अमुक कार्य किसी और प्रकार से क्यों नहीं किया गया।" हमें प्रथम प्रकार के लोगों के सदृश होना चाहिये, और उन दूसरी प्रकार के लोगों के कहने की तनिक भी परवाह नहीं करनी चाहिये जो स्वयं कभी कोई कार्य करने के लिये हाथ नहीं हिलाते।

"जो लोग अभी तक श्री गुरुदेव द्वारा स्वीकृत नहीं हैं, वे ठीक ऐसा तो नहीं कर सकते, किन्तु इस प्रकार विचार करने के लिये ज़रा ठहर कर कि "श्री गुरुदेव इस विषय में क्या सोचेंगे, इन परिस्थितियों में वे क्या कहेंगे और क्या करेंगे," वे अपनी बहुत कुछ सहायता कर सकते हैं। क्योंकि तुम्हारी कल्पना में जिस बात को गुरुदेव नहीं कर सकते, नहीं कह सकते अथवा नहीं सोच सकते, वह तुम्हे भी नहीं कहनी, करनी या सोचनी चाहिये। तुम्हे वाणी द्वारा भी ऐसे सत्य का पालन करना चाहिये, जो यथार्थ और अत्युक्ति रहित हो।"

लेडबीटर—यदि हम इस बात को सदा ध्यान में रक्खें

कि जो बात गुरुदेव के मन में नहीं उठ सकती, जो बात वे नहीं सोच सकते या जो वे नहीं कर सकते, वह हमारे मन में भी नहीं आनी चाहिये और न हमें उसे कहना ही चाहिये और न करना ही चाहिये, तो हमारे जीवन में संशोधन की अधिक आवश्यकता नहीं रहेगी। हम उनके विचार, वाणी, या कार्य को समझने में शायद कुछ भूल कर सकते हैं, किंतु इससे हमारा जीवन आश्चर्यजनक रूप से पवित्र और लगभग उनके जीवन के निकट हो जायेगा। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोगों को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि "यदि हमें हर बात को ठहर-ठहर सोच-सोच कर करना पड़े तो हम कोई बात कर ही नहीं सकते। यदि वे हर बात को ठहर कर और सोचकर कहने के अभ्यास के कारण कोई बात ही नहीं कर सके होते तो इससे संसार को कोई विशेष हानि नहीं होती। क्योंकि बहुत सी बातें जो की जाती हैं वे ख़ासतौर से लाभप्रद नहीं होती। मनुष्य प्रत्येक बार बोलने के पूर्व यदि गंभीरतापूर्वक' यह पूछ लिया करे कि "जो कुछ मैं कहने जा रहा हूं वह बात क्या श्री गुरुदेव कहेंगे' ?, तो वह बहुत ही कम बोलेगा। हो सकता है कि पहिले पहिल इस प्रकार श्री गुरुदेव के विचारों का संकेत प्राप्त करने का क्रम बहुत धीमा हो, किन्तु धीरे-धीरे उसका यह स्वभाव ही बन जाता है, और अन्त में तो गुरुदेव का संकेत बिजली की भाँति से आने लगता है।

मनुष्य के विचार विद्युत गति से भी शीघ्रगति के समान हैं। अथवा उससे भी द्रुत गति से चलते हैं। भौतिकविज्ञान के विशारदों के कथनानुसार प्रकाश की गति

१८६००० मील प्रति सेकण्ड है। उदाहरण के लिये मन में १२५०० मील दूर इंगलैंड का विचार कीजिये और निमिष मात्र में आप वहाँ बिजुली की चमक की तरह पहुँच जायेंगे। विचारों की गति का प्रश्न आध्यात्मिक-भौतिक विज्ञान (Occult Physics) से सम्बन्ध रखता है जिसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अभी केवल प्रारम्भिक अवस्था में ही है। हम लोग लगातार आध्यात्मिक प्रकृति-विज्ञान (Occult Science) के विषय की नई बातों को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, और भूलें करते हुये भी प्रयोग करते जा रहे हैं; ठीक उसी प्रकार जैसे कि प्राचीन रसायनिकों ने भूलें करते हुये भी अपने प्रयोग किये थे, और जिनके प्रयत्नों के फल स्वरूप प्रारम्भिक रसायनशास्त्र का जन्म हुआ, जिसने धीरे-धीरे विकास पाकर एक विशाल विज्ञान के रूप में हजारों ही तत्वों का उद्‌घाटन किया। मुझे विश्वास है कि आज कुछ थोड़े से व्यक्तियों द्वारा जो थोड़ा बहुत प्रयोग किये जा रहे हैं समय पाकर उनसे आध्यात्मिक-विज्ञान की विस्तृत उन्नति होगी, जो संसार के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

साधारण तौर पर हमारे विचार इतनी शीघ्रता से नहीं चलते जितना कि वे चल सकते हैं, क्योंकि हमने अधिक सीमा तक उनको अपने कार्य और वाणी से पृथक् करके उपयोग करने का अभ्यास नहीं किया है। ध्यान करने का एक फल यह भी होता है कि उसके द्वारा हम अपने विचारों को इन बातों से पृथक् करके उपयोग में लाना सीख जाते हैं। इसमें सफल होने पर मनुष्य को वास्तव में एक आश्चर्य-जनक फल की प्राप्ति होती है।

श्रीमती बेसेंट ने इस विषय पर अध्ययन किया है। मैंने यह कहते हुये सुना है कि जब वे जनता में भाषण करती हैं, तब, जब वे एक वाक्य बोलती हैं तो आगामी वाक्य तीन या चार रूपों में से उनके मस्तिष्क में आजाता है, और वे पहला वाक्य बोलते समय ही उनमें से निश्चयपूर्वक उसी को चुन लेती हैं जो उनकी समझ में अधिक प्रभावशाली होगा। बहुत थोड़े लोग ऐसा कर सकते हैं। यह विषय विचारों को कार्यों से सर्वथा पृथक करके प्रयोग करने का है और वह भी इस शीघ्रता से जिसका अन्दाजा नहीं किया जा सकता, इससे यह पता लगता है कि काम कैसा किया जा सकता है। विचार के केवल विचार के ही तरह उपयोग करने का अभ्यास करना एक महत्व की बात है। कुछ भी कहने अथवा करने से पहिले सोच लेने का श्रेष्ठ अभ्यास करने से शिष्य केवल अपने जीवन को श्री गुरुदेव के जीवन के अनुरूप बना लेने में ही सफल नहीं होता प्रत्युत उसे द्रुतगति से सोचने का भी एक उपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है।

"दूसरों के उद्देश्य के विषय में शंका मत करो। केवल उसके गुरुदेव ही उसके विचारों को जानते हैं। हो सकता है कि वह कुछ ऐसे उद्देश्यों से प्रेरित होकर कोई कार्य कर रहा हो जो तुम्हारे मस्तिष्क में आ ही नहीं सकते।"

लेडबीटर—प्रत्येक मनुष्य अपने निकटस्थ एवं प्रिय जनों के लिये भी एक पहेली ही होता है, और यदि बहुत समय के पश्चात् आप कभी उसके किसी कार्य के कारणों को जान भी लेते हैं, तो वे कारण अत्यन्त आश्चर्यजनक निकलते हैं जिनकी आपने कभी कल्पना भी नहीं की थी और जो

उसके मन पर सबसे अधिक प्रभाव डाल रहे थे। भारत वर्ष में मैंने यह बात कदाचित् दूसरे स्थानों से अधिक देखी है, क्योंकि भारतवासियों के विचार बहुत सी बातों में हम से सर्वथा भिन्न होते हैं, और हमारे बहुत से हिन्दू भाई इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर कार्य में जुट जाते हैं, जिनका किसी अंग्रेज़ पर कुछ भी असर न होगा। उनके मन की गति असीम रूप से सूक्ष्म होती है और उनके कार्य कुछ निश्चित परंपराओं पर निर्धारित होते हैं जो हम पश्चिम वालों के लिये सर्वथा अज्ञात हैं। अतः यदि हमारी अपनी ही जाति में भी किसी के कथन अथवा कार्य के लिये कल्पित कारणों का आरोपण करना उचित नहीं, तो विदेश में जहां कि आप सर्वथा भिन्न सभ्यता के लोगों से व्यवहार कर रहे हों, वहां तो ऐसा करना तनिक भी उचित नहीं है। इस प्रकार कल्पित कारणों का आरोपण करने से बहुत मिथ्या धारणा उत्पन्न हो जाती है, अतः हमें ऐसा नहीं करना चाहिये। यह जानने का काम हमारा नहीं कि अमुक कार्य क्यों किया गया, अतः हमें इसके लिये कष्ट करने की आवश्यकता नहीं।

"यदि तुम किसी के विरुद्ध कोई बात सुनते हो, तो तुम इसको दुहराओं मत। सम्भव है वह सत्य न हो, और यदि हो भी, तो उसके विषय में मौन रहना ही अधिक दयालुता है।,,

ऐनी बेसेंट—इतनी बात सुनने के उपरान्त भी यदि आप दूसरों के निन्दा की बातों की चर्चा करते फिरते हैं तो आप श्री गुरुदेव की स्पष्ट आज्ञा को भंग कर रहे हैं, क्योंकि अब, जब कि यह आज्ञा आप तक पहुँचा दी गई है तो यह व्यक्तिगत रूप से आपको ही लक्ष्य करती है: अपनी

वाणी पर संयम रखना बहुत सरल बात है। विचारों पर नियन्त्रण रखना कठिन हो सकता है किन्तु आप अपने शरीर को तो संयम में अवश्य ही रख सकते हैं। सम्भव है आपने जो बात सुनी है उसका विशेष महत्व न हो, किन्तु यदि वह असत्य है और आप उसको दुहरा रहे हैं. तो आप असत्य भाषण करते हैं; और जो दीक्षा के लिये प्रस्तुत होने का उद्योग कर रहे हैं उनके लिये यह बात बहुत कुछ अर्थ रखती है। इसे झूठ बोलने का नाम देना कुछ कठोर प्रतीत हो, पर सचमुच में यह झूठ ही बोलना है और जो बात सत्य है उसका सामना करना ही चाहिये।

यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकार के वृत्तान्तों के सत्य अथवा असत्य होने का पता लगाने में हम अपना जीवन विनष्ट नहीं कर सकते, अतः हमारे लिये सबसे अधिक शुभकर बात यही है कि हम उसकी चर्चा ही न करें। अपनी हानि लाभ की बातों के अलावे यदि आपको उस वृत्तान्त के सत्य होने का पता भी हो, तो भी मौन रहना ही अधिक श्रेष्ठ है, आपको कोई ऐसी बात कहने की इच्छा क्यों होनी चाहिये जिससे किसी की निन्दा हो ?

यह सत्य है कि यदि हमें किसी प्रकार यह पता लग जाये कि अमुक मनुष्य शठ और धूर्त है एवं किसी सरल चित्त के व्यक्ति का अनिष्ट करने को है, तो उसके भेद को प्रकट करना अथवा कम से कम, जो व्यक्ति खतरे में है, उसे सावधान करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। किन्तु यह बात पराई निन्दा से सर्वथा भिन्न है। तथापि यह कर्त्तव्य भी ऐसा है जिसे अधिक से अधिक सावधानी पूर्वक दूरदर्शिता से, एवं दुर्भावना तथा रोष से निश्चय ही रहित होकर करना चाहिये।

"बोलने से पहिले सोच लो अन्यथा असत्य भाषण के दोष-भागी बनोगे।"

लेडबीटर—बहुत वर्षों से सिखलाये जाने के उपरान्त भी हमारे अपने ही लोग मिथ्या भाषण करते रहते हैं। कभी-कभी लोग बहुत अत्युक्तिपूर्ण बातें कहते हैं। यदि एक वस्तु सौ गज़ की दूरी पर है तो वे कहेंगे कि 'मीलों दूर है' यदि किसी दिन रोज से अधिक गर्मी होती है तो कहेंगे कि "आज तो मारे गर्मी के उबले जा रहे हैं। भाषा पर हमारा पूर्ण अधिकार न होने के कारण यदि हम विचारों के उतार चढ़ाव का वर्णन करने के लिये उपयुक्त शब्द न पाकर इन उजड्ड एवं निरर्थक शब्दों का प्रयोग करते हैं' तो यह शिक्षा को कमी के साथ-साथ मिथ्यापन भी है, और मेरे विचार में हमें इस विषय में असावधान नहीं रहना चाहिये। महात्मा क्राइस्ट के ये शब्द बिना अभिप्राय के ही नहीं है, कि "मनुष्य को अपने कथन के एक-एक शब्द का, न्याय के दिन हिसाब देना पड़ेगा।"

"कार्यों में भी सत्य का पालन करो, अपना मिथ्या प्रदर्शन मत करो, क्योंकि प्रत्येक छल सत्य के उस स्वच्छ प्रकाश में एक बाधा है, जिसे तुम्हारे द्वारा उसी प्रकार प्रकाशित होना चाहिये जैसे साफ शीशे के द्वारा सूर्य का प्रकाश प्रकाशित होता है।"

ऐनी बेसेंट—आचरण में सत्य का पालन बहुत कठिन है। इसका अर्थ यह है कि दूसरों के सामने कोई कार्य उनके मन में अपने लिये उच्च धारणा बैठाने के अभिप्राय से नहीं करना चाहिये, और जिस कार्य के करने में दूसरों के सामने लज्जित होना पड़े ऐसा कोई कार्य एकान्त में भी नहीं करना चाहिये; वरन् सर्वदा निष्कपट

रहना चाहिये। लोगों को आप अपना असली स्वरूप देखने दीजिये, और जो कुछ आप नहीं हैं वैसा बनने का ढोंग मत कीजिये। बहुत लोगों का ऐसा उद्देश्य रहता है कि हमारे प्रति दूसरों की धारणा हमारी रुचि के अनुकूल ही होनी चाहिये। फलतः ऐसी अनेक प्रकार की छोटी छोटी बातें होती हैं जिन्हें हम एकान्त में तो कर लेंगे, परन्तु दूसरों के सामने नहीं करेंगे, क्योंकि हम सोचते हैं कि लोग हमसे ऐसी बातों के करने की आशा नहीं करते।

जब कभी आपको दूसरे की उपस्थिति के कारण किसी काम को न करने की इच्छा हो, तो तुरन्त ही उस भावना का निरीक्षण करो; यदि वह उचित है तो उसके लिये लोक मत की परवाह मत करो; यदि वह ठीक नहीं तो उसे किसी समय भी मत करो। मुझ में भी यह भावना आती रही है, अतः मैं इसे जानती हूं। मैं ऐसा सोचा करती थी कि मुझे लोगों के सामने वैसा ही वर्ताव करना चाहिये, जिसकी वे एक लेखक, एवं वक्ता इत्यादि से आशा करते हैं। पहिले तो कभी कभी यह भावना निर्दोष बातों के लिये भी आजाया करती थी। उदाहरणार्थ, जहाज़ पर समुद्रयात्रा करते समय मेरी तबियत कभी भी ठीक नहीं रहती, अतः जहाज़ पर अकेले बैठे बैठे मुझे ताश के पेशेंस नामक खेल को खेलते रहने की आदत थी, जिसे मैं मनबहलाव का एक निर्दोष साधन समझती हूं। एक दिन मेरे मन में यह विचार आया कि लोग मुझे आध्यात्मज्ञान की शिक्षिका समझते हैं, और वे रविवार के दिन मुझे ताश खेलते देख कर क्या कहेंगे! क्या इससे

उन्हें आघात नहीं पहुंचेगा। किन्तु फिर मैंने सोचा कि लोग मुझे देखें या न देखें, इसका कोई महत्व नहीं; यदि यह बात अनुचित है तो इसे करना ही नहीं चाहिये, और यदि ठीक है तो लोगों की राय इसकी वास्तविकता को नहीं बदल सकती। श्रीमती ब्लावैडस्की इस विषय में विलक्षणता रखती थीं; वे जो करना चाहती थीं, सदा वही करती थीं और उसके लिये लोक-मत की तनिक भी परवाह नहीं करती थीं। जिन लोगों को आध्यात्मज्ञान का तनिक भी बोध नहीं वे यदि उनके व्यवहार को एक आध्यात्मज्ञानी के अनुरूप नहीं समझते थे तो उनके इस मत का क्या मूल्य होसकता था।

लोगों की कल्पना के अनुसार एक आध्यात्मज्ञानी सदा गम्भीर मुद्रा धारण किये नहीं रहता, वह तो सब कार्यों को एक सम्मानित ढंग से करने का ध्यान रखता है। इस विषय पर प्रचलित दृष्टिकोण सर्वथा मिथ्या होते हैं। एक आध्यात्मज्ञानी सदा सहज स्वाभाविक प्रकृति का होता है। मेरे विचार में सत्य एवं सरल जीवन विताने का वर्तमान समय में एक महत्व यह भी है कि इससे आने वाले जगद्गुरू का मार्ग तैयार करने के कार्य में कुछ सीमा तक सहायता मिलती है। इससे उनका मार्ग किंचित सरल वन सकता है, क्योंकि महापुरुष जनसाधारण की धारणा के अनुकूल नहीं होते। वे लोगों द्वारा स्थापित किये हुये विचारों के अनुकूल कार्य नहीं करते। उनका आगमन तो जगत के सुधार के लिये एवं प्रायः प्रचलित विचारधारा को मौलिक रूप से वदलने के लिये ही हुआ करता है। और, जहां वे लोगों की भावनाओं का वहुत ही

ध्यान रखते हैं, वहां उनके दुराग्रह की तनिक भी परवाह
नहीं करते। अस्तु, हम सरल एवं निष्कपट जीवन
व्यतीत करके लोगों के विचारों को तैयार करने में सहायता
दे सकते हैं, ताकि जब भगवान् मैत्रेय का आगमन हो
तब लोगों के कुछ दुराग्रह कम हो चुके हों; इस प्रकार
श्री जगद्गुरू के कार्य से उनके अपेक्षाकृत कुछ कम असन्तुष्ट
होने की सम्भावना रहेगी। इस लिये अपने आदर्श से
तनिक भी विचलित हुये बिना ही हमें पूर्णतया निष्कपट
जीवन व्यतीत करना चाहिये। किन्तु हमें यह सोचने
की भूल भी नहीं करनी चाहिये कि हम दूसरों के सामने
चाहे जैसा कार्य करें उसमें कोई बुराई नहीं। हमें तो सार्व-
जनिक जीवन एवं व्यक्तिगत जीवन दोनों में एक समान
सावधान और सच्चा रहना चाहिये।

लेडबीटर—यह बात सत्य है कि हमें कभी भी अपना
झूठा प्रदर्शन नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक प्रकार के झूठे
प्रदर्शन में एक मिथ्यापन रहता है; परन्तु यह भी ध्यान
रखिये कि उस झूठे प्रदर्शन को टालने के लिये कहीं आप
उसकी प्रतिकूल पराकाष्ठा तक न पहुंच जायें। लोग कभी
कभी ऐसा कहते हैं कि "मैं तो अपने प्राकृतिक रूप में ही
लोगों के सामने अपने को प्रकट करना चाहता हूं," और
ऐसा कह कर वे अपना अत्यन्त निकृष्ट, अशिष्ट और असभ्य
रूप लोगों को दिखाना आरंभ कर देते हैं। किन्तु ऐसा
करके वे अपना प्राकृतिक स्वरूप जैसा होना चाहिये
वह नहीं दिखलाते, वरन् इसके विपरीत अपने हीन, तुच्छ,
और निकृष्ट रूप का प्रदर्शन करते हैं; क्योंकि मनुष्य
में जो कुछ उच्चतम, सर्वोत्तम, एवं सर्वश्रेष्ठ गुण हैं, वे ही

आत्मा से निकट सम्बन्ध रखते हैं, अतः अपने—आत्मा के—प्राकृतिक स्वरूप को प्रकट करने के लिये हमें यथाशक्ति सर्वश्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

धार्मिक पाखण्ड असत्य का ही एक रूप है। यदि कोई मनुष्य अपने आपको आध्यात्मज्ञानी प्रकट करता है और साथ ही अपनी उन्नति एवं सहिष्णुता की बड़ी बड़ी बातें करता है, एवं अपनी सिद्धियों का वर्णन करके उन पाखंडी लोगों की तरह जो मंदिरों अथवा सड़क के कोनों पर खड़े होकर प्रार्थना करते हैं एवं उन जप-अनुष्ठान करने वाले पुजारियों की तरह जो दिखावे के लिये घंटों पूजा पाठ करते हैं, भोले भाले लोगों की प्रशंसा प्राप्त करने का यत्न करता है, तो आपको यह समझ लेना चाहिये कि वह सच्चा आध्यात्मज्ञानी नहीं है। एक सच्चा आध्यात्मज्ञानी कभी पाखंडी नहीं होता, यद्यपि उसमें साधारण "स्वभाविक" मनुष्य की श्रेणी से बहुत उच्च श्रेणी का जीवन व्यतीत करने का दृढ़-संकल्प होता है।

बहुधा लोग श्री गुरुदेव को पहचानने में भूल करते हैं, क्योंकि श्री गुरुदेव कैसे होने चाहिये इस संबंध में वे पहिले से ही एक दृढ़ धारणा बना लेते हैं और उनका साक्षात् कार होने पर संभव है कि वे उन्हें वैसा न पायें। श्री गुरुदेव अपने को हमारे विचार अथवा संकुचित धारणाओं के अनुकूल नहीं बनाते। वे तो वैसे ही रहते हैं जैसे कि वे अपने लोक में हैं। अतः यदि हम अपने दुराग्रहपूर्ण विचारों के वशीभूत होकर संकुचित बने रहते हैं, तो उनसे साक्षात्कार होने पर भी हम उन्हें नहीं पहचान पायेंगे। कुछ लोगों ने तो यह भी निश्चय कर लिया है कि श्री जगद्-

गुरू क्या कहेंगे, क्या करेंगे, और कैसा आचरण करेंगे। इस प्रकार से पूर्व धारणायें स्थिर करके अपने को उनसे दूर रखने के खतरे में मत पड़िये। हम जानते हैं कि वे प्रेम मार्ग का प्रचार करेंगे, किंतु वे यह शिक्षा किस प्रकार एवं किस रूप में देंगे यह निश्चित करना सर्वथा उन्हीं के हाथ में है। हमें तो उन्हें पूर्णतया पहचानना चाहिये और उनके अनुयायी बन कर उनके नेतृत्व में कार्य करने को प्रस्तुत रहना चाहिये।

———

बारहवां परिच्छेद

निःस्वार्थता एवं दिव्य-जीवन

"तुम्हें स्वार्थ और निःस्वार्थता के बीच भी भेद पहचानना चाहिये; क्योंकि स्वार्थ के अनेक रूप हैं और जब तुम अपनी समझ में उसके किसी एक रूप को निर्मूल कर भी देते हो तो वह उतनी ही प्रबलता से किसी दूसरे रूप में प्रकट हो जाता है। किन्तु क्रमशः लोक-सेवा के विचारों से तुम इतने परिपूर्ण हो जाओगे कि तुम्हे अपने लिये विचार करने का कोई समय या स्थान ही न रहेगा।"

ऐनी बेसेंट—जो वर्णन श्री गुरुदेव यहां करते हैं, मेरे विश्वास के अनुसार वही पूर्ण निःस्वार्थी बनने का एक मात्र उपाय है। स्वार्थ के किसी एक विशेष रूप से छुटकारा पाना निश्चय ही संभव है, किन्तु श्री गुरुदेव के कथनानुसार जब हम इसके एक रूप को निर्मूल करने का उद्योग करते हैं, तो यह किसी दूसरे रूप में आ खड़ा होता है। इस प्रकार स्वार्थ के एक-एक रूप का क्रमशः नाश करने में तो हमारा बहुत समय बीत जायेगा, और राम-रावण युद्ध में श्रीराम के रावण का एक सिर काटने पर दूसरा उत्पन्न हो जाने वाली दशा हमारी भी होगी। किन्तु जो उपाय यहां बताया गया है वह हमें सीधा इस विषय की जड़ तक ले जाता है।

भक्ति मार्ग का एक अमूल्य लाभ, जो मेरे विचार में सर्वोत्तम है, यही है कि मनुष्य का मन प्रति समय अपने आराध्य देव के चिन्तन में तन्मय एवं उन्हीं की भावना से

परिपूर्ण रहता है, और इस प्रकार वह विना प्रयास के ही निःस्वार्थी बन जाता है। विकास की स्वभाविक विधि यही है कि "जिस प्रकार सूर्य के लिये अपने हृदय-द्वार को खोले हुये कुसुम स्वतः ही विकसित होता है, उसी प्रकार तुम भी विकास पाओ।" जब तक प्रयत्न करने की आवश्यकता है, तब तक दुर्बलता का होना प्रकट होता है, और यदि इसके अतिरिक्त स्वार्थ पूर्ण विचारों से रहित होने का कोई दूसरा उपाय मिल जाये तो यह एक महान् लाभ होगा। यदि आप अपने विचारों का निरोध करके अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा उन्हें उत्तम वातों की ओर लगा देते हैं, तो आपके अवगुणों को पुष्टि नहीं मिलती और इस प्रकार उनका पोषण न होने से वे नष्ट हो जाते हैं। अपने दोषों पर विजय प्राप्त करने का यह सर्वोत्तम उपाय है, क्योंकि उनके विषय में सोचने से वे ही, चाहे तुम्हारा सोचना ग्लानि पूर्वक ही क्यों न हो, वे पुष्ट होते हैं, और उनका वल बढ़ता है।

श्री गुरुदेव कहते हैं कि परोपकार की भावनाओं में लीन रहो, और तव आपको अपने लिये सोचने का कोई समय या अवसर ही न रहेगा, और तभी आप सुखी भी होंगे। मेरे अपने लिये भी यही बात सत्य सिद्ध हुई है। यदि मैं कभी भी दुखी होती थी और व्यक्तिगत सम्बन्ध रखने वाली बातों के लिये शोक की तनिक भी भावना आती थी (मैं नहीं सोचती कि अब भी मुझे ऐसी भावना आती है, किन्तु एक समय था जव ऐसा होता था) तब तत्काल ही मैं अपने मन को दूसरों की सेवा करने एवं दूसरों के लिये कार्य करने के विचरों में तल्लीन कर देती थी। अपने

से सम्बन्ध रखने वाली बातों के लिये शोक करना स्वार्थ-परायणता है और इससे मनुष्य केवल दुखी ही होता है। तथापि अनेक लोग यही करते हैं; वे बैठ जाते हैं और कहने लगते हैं कि ओह ! यह कितने दुख की और कितनी कठोर बात है; मेरे लिये तो यह बहुत ही बड़ी विपद् है कि अमुक व्यक्ति मेरी परवाह नहीं करता, मेरी खोज खबर नहीं लेता, मुझे प्रेम नहीं करता, " इत्यादि इसी प्रकार की अनिश्चित कल्पनायें करते रहते हैं।

यह सब स्वार्थपरायणता है। आपके दुख और स्वार्थ दोनों की केवल एक ही चिकित्सा है कि तुरन्त ही जाकर किसी दूसरे के लिये काम करने में लग जाओ। आप के मन में एक ही समय में ये दो बातें नहीं समा सकतीं, अतः जिस क्षण आप अपने को भूल जाते हैं उसी क्षण आप सुखी हो जाते हैं। जब आप यह कहने में समर्थ हो सकेंगे कि "मुझे मेरे साथियों से कुछ भी लेने की इच्छा नहीं है, मैं तो प्रेम करता हूं और मुझे वदले की आवश्यकता नहीं," तव आप सुखी होंगे। साधारणतया लोग जिसे प्रेम कहते हैं, वह स्वार्थ के अनेक आवरणों के भीतर नाम मात्र का ही प्रेम होता है। प्रेम द्वारा दुख प्राप्त होने का अर्थ ही यह है कि वहां स्वार्थ विद्यमान है।

मैं जानती हूं कि सहृदय और स्नेहशील व्यक्तियों के सीखने के लिये यह एक कठिन शिक्षा है, किंतु इसे सीखना ही पड़ेगा। सीख लेने के पश्चात् यह सुख और शान्ति लाती है। मैं यह बात अपने अनुभव से कह रही हूं। वदला पाने की इच्छा किये बिना ही सबसे प्रेम करना सीखो, ऐसा करने से अनेक लोग आपसे स्नेह करने

लगेंगे। किंतु जब तक आप उससे कुछ प्राप्त करने की चेष्टा करते रहेंगे, तब तक प्राकृतिक स्वभाव उसे दूर ले जायेगा। यह एक कठिन शिक्षा अवश्य है, किंतु एक बार इसे सीख लेने पर वह शान्ति प्राप्त होती है जिसे कोई भी भंग नहीं कर सकता। यहां तक कि आपके प्रेमपात्र की आपके प्रति अप्रसन्नता भी इसे भंग नहीं कर सकती। आख़िर यह कोई चिन्ता की बात नहीं, आप जानते हैं कि वह किसी दिन प्रसन्न हो जायेगा, और तब तक आप उसे उसी प्रकार प्रेम करते रहें। यदि आप कष्ट पा रहे हैं, तो भी इसके लिये व्याकुल न होने का निश्चय कर लीजिये और अपने आपको कहिये कि "मेरा निकृष्ट स्वभाव कितना कष्ट पा रहा है इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं।" आख़िर यह कष्ट पाने वाला हमारा निम्न व्यक्तित्व ही तो है। तब हम उसके कष्ट पाने की अथवा दूसरे से प्रेम याचना करने की इतनी चिन्ता क्यों करें! अपने दुख के प्रति इस मनो-वृत्ति को ग्रहण करके आप अपने दुख पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

लेडबीटर—दोषों का चिन्तन करना मानों उसकी पुष्टि करना है। ईसाई धर्म में यह भूल बहुधा की जाती है, जहां लोगों को अपने दोषों पर खेद प्रगट करने एवं उनके लिये पश्चाताप करने को बाध्य किया जाता है। मनुष्य अपने दोषों के विषय में बारम्बार जितना ही सोचे, वह उतना ही अधिक क्षुब्ध होता है, उतना ही वह दोष प्रबल भी होता जाता है। किन्तु यदि मनुष्य जाकर किसी सेवा कार्य में लग जाता है तो उस दोष का विचार-रूप प्रबल नहीं होने पाता और उस दोष की स्वाभाविक मृत्यु हो जाती है, एवं विस्मृत हो कर वह समाप्त हो जाता है। दोषों का

मानसिक अन्तरावलोकन करने से कभी-कभी एक छोटा दोष प्रवल हो कर किसी वड़े पाप कर्म में परिणित हो जाता है। यह वात उन छोटे वालकों की याद दिलाती है जो अपने पौदों को वार वार जड़ से उखाड़ कर देखते हैं कि यह कैसे वढ़ रहे हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य कोई उत्तम और श्रेष्ठ कार्य हाथ में लेता है और फिर स्वयं ही यह शंका करने लगता है कि "मुझे अपनी भावना के पवित्र होने का निश्चय नहीं, अवश्य ही इस कार्य का संपादन मैंने अपने मानसिक अहंकार के कारण किया होगा;" अथवा यदि वह किसी के कष्ट को दूर करता है तो सोचने लगता है कि "मेरा यह कार्य सर्वथा स्वार्थ रहित नहीं था, मैं उसके कष्ट को सहन नहीं कर सका अतः मैंने उसे दूर कर दिया।" इंगलैंड में गिरजों में जाकर लोग कहते हैं "प्रभु! हम पापी हैं, हम पर दया करो;" हम पापी हो सकते हैं, किंतु हमें अपने दोषों को तूल देकर न तो स्वयं क्षुब्ध होना चाहिये, और न दूसरों को ही क्षुब्ध करना चाहिये। वीती वातों की चिन्ता मत करो, किंतु भविष्य में अच्छे कार्य करने के लिये सदा तय्यार रहो। यह सोचना व्यर्थ है कि 'मैंने अमुक कार्य न किया होता तो अच्छा होता'; इसके स्थान पर यह सोचना कहीं अच्छा है कि "मैंने ऐसा किया यह एक सोचनीय वात है, किंतु कोई वात नहीं, वर्तमान परिस्थिति ऐसा ही थी, अव मुझे यह यह सोचना चाहिये कि मैं इसे सुधारने के लिये क्या कर सकता हूं।" मैं यह नहीं कहता कि किसी परम उच्च श्रेणी पर पहुँच कर भी पूर्वकृत कर्मों को वदलना संभव नहीं, किन्तु इस वात का विचार करना सवके लिये तो निश्चय ही संभव नहीं है।

भगवान् बुद्ध के श्रेष्ट अष्टांगिक मार्ग का सातवां पद "यथार्थ-स्मृति" है। उन्हों ने अपने शिष्यों से कहा था कि "जिन बातों को तुम अपनी स्मृति में रहने देते हो उनके लिये तुम्हें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। यदि तुम कहते हो कि किसी बात को स्मृति में लाना या न लाना तुम्हारे वश की बात नहीं, तो इसका अर्थ यह है कि तुम्हें अपनी स्मरण शक्ति पर, अपने मनस पर जो तुम्हारा ही एक अंग है, नियन्त्रण नहीं। यह तो ऐसा ही है जैसे कि तुम किसी सड़क पर गये और रास्ते में जाते हुए जो भी कूड़ा करकट मिला उसे बटोर लाये। इस प्रकार तुम अपनी स्मृति में सब प्रकार की निरर्थक और अवांछनीय बातों को भरते रहते हो, किंतु तुम्हें केवल ठीक बातों को ही याद रखना चाहिये और बाकी सब बातों को भूल जाने के लिये विशेष सावधान रहना चाहिये।" तत्पश्चात् भगवान् बुद्ध उन सब निश्चित बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं जिन्हें मनुष्य को सदा के लिये पूर्णतया भूल जाना चाहिये, और इन भूलने योग्य बातों में दूसरों द्वारा कहे गये अप्रिय वचन, कल्पित अनादर एवं अपकार को भी सम्मिलित करते हैं; जहां वे कहते हैं कि दूसरों द्वारा कहे गये प्रिय वचन, की गई कृपायें, एवं अपने पड़ोसी के सद्गुण जो कभी भी उसमें देखें हों, सदा स्मरण रखने योग्य बातें हैं।

हम जिनके सम्पर्क में आते हैं, उन सब पर हमें प्रेम रखना चाहिये। मैं सब पर समान रूप से प्रेम रखने को नहीं कहता और इसकी आप से आशा भी नहीं की जाती। स्वयं भगवान् बुद्ध का भी आनन्द नामक प्रिय शिष्य था। उससे वे दूसरों से अधिक स्नेह करते थे, और महात्मा

क्राइस्ट का भी संत जान नामक परम प्रिय शिष्य था जो उनके आखिरी भोजन तक उनके साथ था। हमसे यह आशा तो नहीं की जाती कि हम सबसे समान रूप से प्रेम करें और जो भावना हमारे माता, पिता, पत्नी या सन्तान के प्रति है वही सबके प्रति रखें, किन्तु क्रियात्मक रूप में हमें सबके प्रति सदिच्छा और प्रेम भावना रखनी चाहिये और किसी से भी घृणा नहीं करनी चाहिये। हमारी यह भावना बिना किसी फल पाने की इच्छा के होनी चाहिये। जिस क्षण मनुष्य कोई मांग करता है उसी समय मानो वह अपना अधिकार प्रतिपादन करने लगता है और इस प्रकार फिर से इच्छाओं के अंश को उत्पन्न करता है एवं अपने प्रिय जनों के विचार को छोड़कर एक बार फिर अपना ही हित देखने लगता है। बदले की आशा किये बिना ही जो किसी पर प्रेम किया जाता है, वही सच्चा प्रेम कहलाता है। प्रेम के निःस्वार्थ हुए बिना मनुष्य ईर्ष्या स्पर्धा, एवं दूसरी अनेक इच्छाओं में उलझ जाता है, और उनके प्रेम में निर्मल एवं सुन्दर गुलाबी रंग के स्थान पर भूरा- किरमची जैसा रंग दिखाई पड़ता है जो रंग-रूप दोनों में ही बुरा और भद्दा होता है, क्योंकि तब वह सूर्य की किरणों के समान चारों ओर फैल जाने के स्थान पर आकुंड़े की तरह भीतर की ओर मुड़ा हुआ और अपने में ही अटकाने वाला होता है, जिसका प्रभाव बहुधा उसके भेजने वाले पर ही पड़ता है, अन्य किसी पर नहीं।

विश्व का संचालन उस निःस्वार्थ दैवी प्रेम की शक्ति द्वारा ही होता है जो लहरों के समान निरन्तर बहती रहती है, और फिर लौट कर वापिस नहीं जाती और न उसका

निर्माण ही वापिस जाने के निमित्त से होता है। इसका प्रवाह अनेक परिमाणों में एवं अन्य लोकों में भी ईश्वर के कार्य को उसी की इच्छा के अनुसार करने के लिये बहता रहता है। हमारे सीखने के लिये यह एक पाठ है, जिसे सीखना कठिन तो है क्योंकि इसका अर्थ देहाभिमानी व्यक्तित्व को नष्ट करने से है, किंतु शांति का मार्ग भी यही है।

"तुम अपने भाई की सहायता उसके द्वारा कर सकते हो जो तुम्हारे और उसमें समान रूप से विद्यमान है—वह है दैवी-जीवन। किस प्रकार इस दैवी-जीवन को उसमें तुम जागृत कर सकते हो उसे सीखो, तुम उसमें इस दैवी-जीवन को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हो उसे जानो-तुम इस प्रकार से अपने उस भाई की, बुराई से, रक्षा कर सकते हो।

ऐनी बेसेंट—सत् और असत् के बीच भेद पहचानने के विषय का यह अन्तिम पाठ है। बाहर से कोई वस्तु कितनी ही बुरी क्यों न हो, किन्तु वहां भी ईश्वर विद्यमान है, क्योंकि बिना ईश्वर के किसी भी वस्तु का अस्तित्व हो नहीं रह सकता। हिन्दू शास्त्रों में इस सत्य का वर्णन बारम्बार किया गया है। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि "द्यूतोऽहं छलयतामस्मि" अर्थात् "छल करने वालों में जुआ मैं हूं।" इस कथन से लोग कभी कभी चौंक जाते हैं; किन्तु यह सत्य है, क्योंकि छल करने वालों को इसी विधि से कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करनी है जिसे कि अन्य उत्तम उपायों से ग्रहण करना वह अस्वीकार कर रहा है। जो मनुष्य उपदेश द्वारा शांतिपूर्वक किसी बात को नहीं सीखता, उसे वह बात प्राकृतिक नियमों का अनुभव करके सीखनी पड़ती है। जिन्हें हम प्राकृतिक नियम कहते हैं वे ईश्वर इच्छा के ही भौतिक स्वरूप की अभिव्यक्ति हैं।

प्राकृतिक नियम अटल होते हैं, जिन्हें चट्टान की उपमा दी जा सकती है। यदि कोई मनुष्य जाकर उनसे टकराता है, तो उसके द्वारा होने वाले क्लेश से उसे भविष्य में वही भूल न करने की शिक्षा मिलती है। जब मनुष्य उपदेश और उदाहरण दोनों से ही शिक्षा ग्रहण नहीं करता (और ऐसे आदमियों से संसार भरा पड़ा है), तब उन नियमों का उलंघन करने से उसे जो कष्ट मिलता है, उसके द्वारा उसे शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। किसी भी प्रकार से हो, किन्तु दैवगति उसे एकता की ओर ले ही जाती है, क्योंकि विकास क्रम की योजना दैवी इच्छा है, और मनुष्य की आन्तरिक (आत्माकी) इच्छा दैवी इच्छा के साथ एक ही होती है। मेरे विचार में एक हीब्रू गायक के इन शब्दों के मूल में भी यही अर्थ है; वे कहते हैं कि "यदि मैं स्वर्ग में पहुंच जाता हूं, तो तू वहां विद्यमान है;" यहां तक तो बात स्पष्ट है, क्योंकि स्वर्ग में भगवान का होना सब जानते हैं, किंतु तत्पश्चात् वे कहते हैं कि "यदि मैं नरक में निवास करता हूं तो देखता हूं कि तू वहां भी विद्यमान है।"

अतः अपने चारों ओर सब वस्तुओं में ईश्वर को व्याप्त जानो। बाकी बातों से आपको कोई सरोकार नहीं। केवल इसी प्रकार आप अपने भाई को सहायता दे सकते हैं, क्योंकि यह दिव्य अंश ही एक ऐसी वस्तु है जो आपमें और उसमें समान रूप से विद्यमान है। इस एक बात के अतिरिक्त और सब बातों में भिन्नता होती है, और इसी एक बात में आप दोनो एक हो। और इसी को साधन बना कर आप उसकी सब प्रकार से सहायता कर सकते हैं। जब आप किसी मनुष्य को उसके किसी दोष को

जीतने में सहायता देना चाहते हैं, तो इस बात को याद रखिये कि अपनी उस बुराई को दूर करने के लिये वह भी उतना ही उत्सुक है। इस बुराई से उसका अनिष्ट होता है, और यदि आप उसके अन्तःकरण को देख सकें तो आपको विदित होगा कि वह भी इससे छुटकारा पाना चाहता है। सहायता करने की उचित विधि यही है, और इस प्रकार सहायता करने से न तो किसी को चोट पहुंचती है और न कोई अप्रसन्न होता है।

लेडबीटर—इस लोक में एवं अन्य सब लोकों में भी जो कुछ विद्यमान है. सब में वह एक ही दिव्य-जीवन व्याप्त है; अतएव यहां की सब वस्तुयें चाहे वे अच्छी हों या बुरी, सब ईश्वर का ही रूप है। संसार में किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह सकता जिसमें ईश्वर स्थित न हो। सभी धर्म शास्त्रों में इस सत्य का उल्लेख है। क्रिश्चियन धर्म ग्रन्थों में भी यह कहा गया है कि "मैं ही प्रकाश का निर्माण करता हूं. और मैं ही अन्धकार को उत्पन्न करता हूं; मैं ही शांति को बनाता हूं, और मैं ही बुराई पैदा करता हूं; स्वयं मैं ईश्वर ही इन सब कार्यों का कर्त्ता हूं।" लोगों की समझ में यह बात नहीं आसकती कि साधारणतया जिन बातों को हम बुरा कहते हैं वे ईश्वरकृत कैसे हो सकतीं हैं! तोभी हमें सत्य का सामना करना ही चाहिये। संसार में जादू-टोना करने वाले एवं अन्य सब प्रकार की बुराइयां करने वाले मनुष्य भी होते हैं, किन्तु उनमें भी दैवी अंश विद्यमान है क्योंकि उस दिव्य जीवन के अतिरिक्त किसी की स्थिति ही नहीं हो सकती।

यदि कोई मनुष्य अपनी मूर्खता एवं कुबुद्धि से अपने जीवन में बुराई का प्रवेश कर लेता है तो उस बुराई से भी कभी न कभी भलाई उत्पन्न हो ही जायेगी। उस मनुष्य के विकास का एक मात्र यही साधन है। छली छल करेगा, उसके मस्तिष्क में ऐसा विचार वर्तमान है, किन्तु फिर भी वह ईश्वरीय नियम के नियन्त्रण में है; यद्यपि वह बुराई कर रहा है, तथापि इस बुराईमें से ही उसके लिये भलाई का रास्ता निकल आयेगा, क्योंकि बुराई करके और उसके फल स्वरूप ठोकरें खा कर वह ठीक राह पर आ जायेगा। यह उपाय अंतिम है, किन्तु तौभी यह शिक्षा ग्रहण करने का ही एक उपाय है, अतः इसे भी हमें दैवी योजना में ही सम्मिलित समझना चाहिये।

एक इस प्रकार की भावना भी प्रचलित है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है। तथापि यहां यह शब्द ठीक दिव्य चेतना जीवात्मा के रूप में वर्तमान है जो कि मनुष्य कहलाती है। भूलों में भटकते हुये मनुष्य के देहाभिमानी व्यक्तित्व के भीतर यदि आप उसके उस दैवी अंश, अर्थात् जीवात्मा, को देख सकें, तो आप उसे प्रेरित कर सकते हैं। हमें यह याद रखना चाहिये कि बुरा मनुष्य भी जीवात्मा होने के कारण हम लोगों की तरह ही उन्नति करने की अभिलाषा रखता है। वह उन सब बुराइयों से छुटकारा पाना चाहता है, जो उसके व्यक्तित्व पर प्रेतावेश की तरह छाई हुई उसे कष्ट पहुंचाती हैं। यदि हम उसकी बाहरी बुराइयों और कठोरता के कवच को भेद कर उसकी आत्मा तक पहुंच सकें, तो वह स्वयं अपने व्यक्तित्व को सहायता पहुंचाने के हमारे उद्योग में सहायक बन जायेगा।

मैं एक पादरी रहा हूं और अपने जीवन में धर्म संवधी सहायता करता रहा हूं। मैंने यह काम इङ्गलैंड के बहुत निकृष्ट मुहल्ले में किया है, अतः मैंने ऐसे बहुत से अपराधी देखें हैं जिनके सुधार की लोग कोई भी आशा नहीं करते। तथापि मैंने ऐसा एक भी मनुष्य नहीं देखा जिसमें कुछ न कुछ अच्छाई का अंश न हो; चाहे यह उसका सन्तान-प्रेम एवं बच्चे के प्रति उसके प्रेम का रूप हो, या एक कुत्ते के ही प्यार के रूप में हो, केवल इसी एक बात से उसमें मनुष्यता का स्पर्श पाया जाता है, जिसके बिना वह एक पशु वरन् एक भयानक पशु ही होता। किन्तु उसके भीतर भी उस एक दिव्य जीवन का संचार हो रहा हैं। अतः आप उसके उसी अंश को प्रेरित करके उसकी उन्नति में संभवतः कुछ सहायता कर सकते हैं।

ऐनी बेसेंट—इस विषय में श्री गुरुदेव के अंतिम शब्द यह हैं कि इस प्रकार अपने उस भाई की बुराई से रक्षा कर सकते हो।" श्री गुरुदेव का यह यह अत्यन्त विनय-युक्त निवेदन है जो शिष्य के चित्त को आकर्षित कर सकता है। क्योंकि जगत् का परित्राता बनना ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है अतः यही उसका ध्येय और यही उसका लक्ष है। यह आकर्षण शिष्य के लिये अपनी किसी भी संभावित व्यक्तिगत उन्नति के आकर्षण से अधिक प्रबल है। श्री गुरुदेव जगत् की सहायता करने के लिये ही देह धारण करते हैं; अस्तु, हम अपने जीवन में सेवा कार्य को जितना ही अधिक स्थान देंगे, उतना ही हम अपने कार्यों में श्री गुरुदेव के सौंदर्य को प्रतिबिंबित कर सकेंगे।

तृतीय खंण्ड

"वैराग्य"

तेरहवां परिच्छेद

कामनाओं का परित्याग

ऐनी बेसेंट-अब हम दूसरे गुण के विषय पर आते हैं जिसे संस्कृत में "वैराग्य" कहते हैं, जिसे श्री गुरुदेव ने अंग्रेज़ी में डिज़ायरलेसनेस (Desirelessness) अर्थात् इच्छाओं से रहित होना कहा है जो 'वैराग्य' शब्द का बहुत उपयुक्त अंग्रेजी अनुवाद है। पहिले मैं वैराग्य शब्द के लिये "डिस-पैशन" (Dispassion) अर्थात् "वासना-विहीनता" शब्द का उपयोग करती रही हूं, किंतु अब श्री गुरुदेव द्वारा प्रयुक्त शब्द का ही उपयोग करूंगी।

"ऐसे अनेक मनुष्य हैं जिनके लिये "वैराग्य" का गुण कठिन है, क्योंकि वे मान बैठते हैं कि वे स्वयं अपनी इच्छायें हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि यदि उनकी भिन्न-भिन्न इच्छाओं और उनकी रुचियों वा अरुचियों को उनसे पृथक् कर दिया जाये तो उनके अस्तित्व का कुछ भी शेष न रहेगा।"

ऐनी बेसेंट—श्री गुरुदेव के इस वाक्य की, कि "वैराग्य कठिन है," सत्यता को प्रायः वे ही लोग अनुभव करते हैं जो इस मार्ग पर अग्रसर होने की हार्दिक अभिलाषा रखते

हैं। यह कठिनाई इसलिये उत्पन्न होती है कि लोग अपने को अपनी इच्छाओं के साथ एक कर लेते हैं। जब तक आपकी अपूर्ण इच्छायें आपको दुःखी बनाती रहती हैं तब तक आप अपने को अपनी इच्छाओं से अभिन्न बनाये रहते हैं। इस बात को मानकर, इसे स्वीकार कर लेना उत्तम है क्योंकि यह सोच लेना बहुत ही सरल है कि आपने अपने को अपनी इच्छाओं से पृथक् कर लिया है जब कि वास्तव में आपने ऐसा नहीं किया है। बहुत से लोगों को ऐसा विचार करने में सन्तोष होता है कि उन्होंने अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है यद्यपि उनका सारा जीवन और उनका प्रत्येक कार्य स्वतः इस बात को सिद्ध करता है कि वे ऐसा नहीं कर पाये हैं। अतः यदि, आप ऐसा नहीं कर सके हैं तो इस बात को मान लेना कहीं अच्छा होगा, क्योंकि तब आप इसकी चिकित्सा करने को कटिबद्ध होंगे।

इस पर जो पहला कदम लेनी चाहिये वह है इस बात पर मनन करना कि "मैं अपनी इच्छाओं का समूह नहीं हूं।" प्रति क्षण बदलने वाली चित्तवृत्तियों (Moods) के विषय में मैं जो कुछ कह चुकी हूं उसकी सहायता आप यहां भी ले सकते हैं। अपनी चित्तवृत्तियों के समान आप की इच्छायें भी परिवर्तित होती रहती हैं, और कोई भी परिवर्तनशील वस्तु आत्मा नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा परिवर्तनशील है ही नहीं। उदाहरणार्थ, मैं ऐसे लोगों से परिचित हूं जो एक दिन तो यह सोचते हैं कि "अड़ियार में रहना कितना आनन्ददायक है, बड़ी-बड़ी होने वाली जो तमाम घटनायें हैं, उन पर विचार करना कितना सुख-

मय है;" किन्तु दूसरे ही दिन वे उदासी और निराशा का अनुभव करने लगते हैं। ये परिवर्तनशील चित्तवृत्तियाँ चाहे वे उत्साह हो चाहे विराग, वे आप स्वयं नहीं हैं। वे तो वासना शरीर के (क्षणभंगुर) कंपनमात्र हैं जिनकी जागृति वाह्य वस्तुओं के सम्पर्क से होती है।

यही कारण है कि लोगों को प्रति दिन ध्यान करने का उपदेश दिया जाता है। क्योंकि जब तक आपकी इच्छायें शांत नहीं हो जायेंगी तब तक आप एकाग्रतापूर्वक ध्यान नहीं कर सकते। यदि आप नियमित रूप से और इमान्दारी के साथ नित्य ध्यान करते हैं तो आपको धीरे धीरे इन इच्छाओं के पीछे उस आत्मा का अनुभव होने लगेगा, और इस प्रकार ध्यान करते रहने से एवं दिन भर में इसी अभीष्ट मनोवृत्ति का अभ्यास करने से आपको प्रति समय उस आत्मा का अनुभव होने लगेगा। तब आप फिर अपने को अपनी इच्छाओं से एकरूप नहीं करेंगे और बराबर यह नहीं कहेंगे कि "मैं यह चाहता हूं, मैं यह कामना करता हूं, मैं यह इच्छा करता हूं," प्रत्युत यह सोचने लगेंगे कि "इच्छा करने वाला मैं नहीं हूं। बल्कि यह मेरी "निम्न आत्मा" या मेरा व्यक्तित्व (Personality) है।"

श्री गुरुदेव का यह प्रथम महान् शिक्षा है जो वे द्वितीय गुण के विषय में देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि दीक्षा के पूर्व आपमें पूर्ण वैराग्य आ जाये। किंतु इतना तो गुरुदेव अवश्य आशा रखते हैं कि दीक्षा के पूर्व आपमें यथेष्ट वैराग्य आ जावे। और जिस बात की आशा स्वयं श्री गुरुदेव करते हैं उसको विधान ही समझना चाहिये। दीक्षा तक पहुंचने के पहिले आपको उदासी और उल्लास के बीच में झूलते रहने की समाप्ति अवश्य हो जानी चाहिये।

लेडबीटर—अधिकांश मनुष्य अपने में और अपनी इच्छाओं में भेद पहिचानने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते, वरन् कहते हैं कि "मैं तो वैसा ही हूं जैसा ईश्वर ने मुझे बनाया है; यदि मेरा स्वभाव बुरा है और मेरी संकल्प-शक्ति दुर्बल है, तो यह भी ईश्वर की ही देन है; यदि मुझ में प्रलोभनों पर विजय पाने की शक्ति नहीं, तो मुझे बनाया ही वैसा गया है।" वे लोग यह तो समझते नहीं कि उन्होंने स्वयं ही पूर्वजन्मों में अपने को वैसा बनाया है, किंतु वे यह सोचने के आदी हैं कि जन्मांध अथवा जन्मपंगु की भांति उनका चरित्र भी उनसे अविच्छेद्य होकर ही उन्हें प्राप्त हुआ है। वे यह समझते ही नहीं कि उनके स्वभाव में जो बातें अवांछनीय हैं, उन्हें बदलना उनका अपना कर्त्तव्य है। वे लोग यह जानते ही नहीं कि वे उसे बदल सकते हैं। यहां तक कि उसे बदलने की उन्हें कोई विशेष आवश्यकता ही दिखाई नहीं देती।

आम तौर से एक औसत मनुष्य को इसका कोई संतोषजनक कारण नहीं दीखता कि वे क्यों अपने चरित्र को बदलने के लिये इतना अधिक कष्ट उठायें। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि ऐसा किये बिना उसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी। किंतु इसके उत्तर में बहुत से लोग यही कहेंगे कि लोगों के बताये हुये स्वर्ग की कल्पना से तो वे अत्यन्त ऊब चुके हैं; और अब वे किसी भिन्न प्रकार की वस्तु की आशा करते हैं। वास्तव में यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि स्वर्ग के जीवनसंबंधी शिक्षा विस्तारपूर्वक दी गई है, तथापि अधिकांश लोगों के चरित्र पर इसका क्रियात्मक प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है, क्योंकि संभवतः

इसमें सत्य की मात्रा बहुत ही कम है। जितने भी सिद्धान्त मैंने आजतक सुने हैं, उन सब में से मुझे तो केवल थियोसोफ़ी का सिद्धान्त ही ऐसा संतोषजनक प्रतीत होता है, जो मनुष्य को इस उद्योग के लिये प्रोत्साहन देता है। थियोसोफ़ी हमें बताती है कि करने योग्य कार्य कौन से हैं और इन कार्यों को करने के लिये हमें यथेष्ट समय और सब प्रकार के सुयोग प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य ईश्वरीय योजना को समझ लेता है और उसके साथ सहयोग करने की इच्छा करता है, तो उसे विकास के कार्य में जुट जाने का एवं उसके लिये अपने को सुयोग्य बनाने का प्रबल कारण मिल जाता है। तब उसे यह मालूम होता है कि उसके चरित्र और स्वभाव में बहुत ही मौलिक परिवर्तन होना सम्भव है, और उसकी सफलता पूर्णतया निश्चित है।

जीवात्मा की सतत एवं अविचल इच्छा इस बातकी रहती है कि उसकी उन्नति हो, उसकी आत्मा विकसित हो; एवं अपनी नीचे की सब उपाधियाँ (शरीरें-Vehicles) एक वाद्ययंत्र की तरह एक सुर में रहे। इन इच्छाओं के अतिरिक्त जब हममें दूसरे प्रकार की इच्छाएं आती हैं जो जीवात्मा की उपरोक्त इच्छाओं में नहीं हैं और उनके अनुकूल भी नहीं, तब हम यह जान लेते हैं कि यह इच्छायें हमारी —आत्मा की—इच्छायें नहीं हैं—और तब हम ऐसा नहीं कहते कि "मैं यह इच्छा करता हूं" किंतु वह कहते हैं कि "मेरा काम-एलीमेन्टल फिर क्रियाशील हो रहा है और अमुक अमुक बात की इच्छा करता है, किंतु मैं, जो आत्मा हूं, उन्नति करना चाहता हूँ एवं दैवी योजना में सहकारी होने की इच्छा करता हूं। यह बदलती रहने वाली

इच्छायें और चित्तवृत्तियां मेरी नहीं हैं।" मनुष्य की अपूर्ण इच्छायें जब तक उसे कष्ट पहुचाती हैं, तब तक उसे यह जानना चाहिये कि वह अभी तक अपने आप को उस काम एलीमेन्टल की इच्छाओं से विलग नहीं समझता है।

"किंतु ऐसे मनुष्य वे ही हैं जिन्होंने अभी तक श्री गुरुदेव के दर्शन नहीं किये हैं; उनकी पवित्र उपस्थिति के प्रकाश में केवल उन्हीं के समान बन जाने की इच्छा के अतिरिक्त और सभी इच्छायें विलीन हो जाती हैं। तथापि यदि तुम दृढ़ संकल्प करो तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन के आनन्द पाने के पूर्व ही तुम्हे वैराग्य की प्राप्ति हो सकती है।"

एनी बेसेंट—यह बात श्रीमद्भगवद् गीता के उस श्लोक की फिर से याद दिलाती हैः—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ २-५९

अर्थात् विषयों को ग्रहण न करने वाले शरीर में स्थित संयमी पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किंतु उनमें उसके स्वाद का बोध बना रहता है, किंतु ब्रह्म के दर्शन होने के पश्चात् तो उनमें रसस्वाद भाव भी नहीं रह जाता। उस एक इष्ट वस्तु की झलक दिखाई दे जाने के पश्चात् समस्त इच्छायें विलष्ट हो जाती हैं। अस्तु, श्री गुरुदेव के दर्शन का अनुभव होने पर समस्त इच्छायें ही नहीं, वरन् इच्छाओं का कारण भी नष्ट हो जाता है। मनुष्य की इच्छा एक जड़ के समान है, जिसमें से अनेक शाखायें फूट फूट कर निकलती रहती हैं; आप उन शाखाओं को काट सकते हैं, किंतु जब तक इनकी जड़ का नाश नहीं होता, तब तक

उससे नई २ शाखायें फूटती रहेंगी। किन्तु श्री गुरुदेव के साथ ऐक्य स्थापित होने पर इन इच्छाओं की जड़ का भी सदैव के लिये नाश हो जायेगा।

तथापि श्री गुरुदेव का कथन है कि "यदि तुम संकल्प कर लो तो इससे पहिले ही वैराग्य को प्राप्त कर सकते हो। 'संकल्प' शब्द यहां पर विशेष महत्व रखता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि हमारी कठिनाई कहां है। इस प्रकार के प्रत्येक कार्य को करने मे योग्यता का नहीं, वरन् सदैव लगभग संकल्प का ही अभाव पाया जाता है। जिस दृढ़ संकल्प से आप अपने सांसारिक कार्यों को करते हैं, उतना ही दृढ़ संकल्प यदि सत्य मार्ग पर कार्य करते हुये भी रखें, तो आपकी उन्नति निश्चय ही द्रुत वेग से होगी।

लेडबीटर—यह वाक्य इस पुस्तक के परम सुंदर वाक्यों में से है। यह सत्य है कि जब आप श्री गुरुदेव का साक्षात्कार करके उनकी महानता का अनुभव करते हैं, तो आपकी समस्त वासनायें विलीन हो जाती हैं, और आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक उच्च भावना से परिपूर्ण हो जाता है।

बहुत से लोग अपनी वैराग्यप्राप्ति की इच्छा तो प्रकट करते हैं किन्तु वे प्रति समय विषयों का आलिंगन किये रहते हैं और उनके अभाव में दुखी रहते हैं। ऐसे लोगों को वैराग्य प्राप्ति की वास्तविक इच्छा नहीं होती, यह केवल उनका विचारमात्र ही होता है। उनको इस इच्छा का बाह्य भान तो होता है, परन्तु वास्तव में यह इच्छा

आन्तरिक नहीं होती। यदि हम इस विषय में अपने आप से प्रश्न करें और गहराई से इस बात की खोज करें कि हमने वास्तव में ही इन निकृष्ट वासनाओं से छुटकारा पाया है या नहीं, तो उत्तम होगा। एक थियोसोफ़िस्ट बहुधा यही सोचता है कि उसने इन हीन इच्छाओं से छुटकारा पा लिया है, वह इन बातों को केवल एक प्रारम्भिक विषय ही मानता है। किंतु इनमें से अनेक छोटी-छोटी बातें बहुत ही गहरी चली जाया करती हैं। मनुष्य ऊपर से तो इनसे छुटकारा पा लेता है, किंतु भीतर इसका अंकुर वर्तमान रहता है, भिन्न-भिन्न रूपों में फिर फूट निकलता है, और तब यह निश्चय करना भी कठिन हो जाता है कि उसे वास्तव में छुटकारा मिल गया या नहीं। सौभाग्य से हमारे विकास की वर्तमान अवस्था में इनसे सर्वथा मुक्त हो जाने की हमसे आशा भी नहीं की जाती। यदि ये बातें मूलरूप से थोड़ी बहुत हमारे भीतर विद्यमान भी हों, तो भी हमें दीक्षा प्राप्त हो सकती है। किन्तु तत्पश्चात् हमें उनका सर्वथा उन्मूलन कर ही देना चाहिये। तथापि यह अधिक उत्तम होगा यदि अभी से उन्हें निर्मूल कर दिया जाये, ताकि हमारी उन्नति अधिक निर्विघ्न और शीघ्र हो। यह बात हमारे लिये साध्य है, क्योंकि श्री गुरुदेव हमें कभी भी असाध्य कार्य का आदेश नहीं देंगे। यद्यपि वे हमारे सन्मुख बहुत से लक्ष्य रखते हैं जिनसे हमारी सहनशक्ति एवं नैतिक शक्ति पर ज़ोर पड़ता है, क्योंकि यदि हम द्रुतगति से उन्नति करना चाहते हैं तो उन बातों को करना आवश्यक है।

"विवेक द्वारा यह बात तुम पहिले ही जान चुके हो कि वैभव

और सत्ता जैसी वस्तुयें जिनकी कामना अधिकांश मनुष्य करते हैं, प्राप्त करने योग्य वस्तुयें नहीं हैं। केवल कथन से ही नहीं, वरन् जब इस बात का वास्तविक अनुभव हो जायेगा तब इन वस्तुओं के लिये तुम्हारी सारी इच्छायें समाप्त हो जायेंगी।"

ऐनीबिसेंट—वैभव और सत्ता की इच्छायें केवल धन से एवं सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव से ही सम्बन्धित नहीं हैं वरन् इसके अनेक रूप हैं। वैभव एक ऐसी वस्तु है जिसकी कामना अधिकांश लोग सबसे अधिक करते हैं। किन्तु यह कोई प्राप्त करने योग्य उत्तम वस्तु नहीं, क्योंकि यह इच्छाओं का पोषण करती है और सुख प्रदान नहीं करती, जैसा कि कदाचित् धनी मनुष्यों को देखने से प्रतीत हो, जो वास्तव में कदापि सुखी नहीं कहे जा सकते। सामाजिक और राजनैतिक सत्ता के विषय में भी यह बात है; यह भी वस्तुयें चमकीली किंतु बनावटी तड़क-भड़क वाली और घटियाँ हैं, खरा सोना नहीं। गीता का कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य को जो कुछ प्राप्त है, उसी से ही वह सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् जो कुछ उसे प्राप्त होता है उसका वह प्रसन्नता से उपभोग करता है, किंतु उसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की लालसा करने में वह अपना समय और शक्ति व्यर्थ नष्ट नहीं करता।

सामाजिक और राजनैतिक उच्च स्थिति तो बहुत थोड़े से लोगों को प्राप्त होती है, किन्तु सत्ता का प्रलोभन बहुधा इसके बिना भी वर्तमान रहता है। अपने काम से काम रखने के स्थान पर दूसरों पर अधिकार जमाना, उनके कार्यों में हस्तक्षेप करते रहना एवं उन्हें उनका कर्त्तव्य सुझाना आदि सभी कार्यों का समावेश इस सत्ता

प्राप्त करने की इच्छा में ही होता है। संभव है कि किसी
को सामाजिक या राजनैतिक सत्ता के लिये विशेष इच्छा
न हो, किन्तु यह छोटी इच्छा तो बहुधा वर्तमान ही रहती
है कि दूसरे भी वही कार्य करें, जिसे हम ठीक
समझते हैं। यदि हम उन्नति करना चाहते हैं तो हमारे
में यह इच्छा नहीं रहनी चाहिये। जिन्हें उन्नति की
सच्ची लगन है उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो जायेगा—जैसा
हममें से बहुतों को हुआ है—कि पराये कार्यों में हस्तक्षेप
किये बिना ही, हमारे अपने पर अनुशासन करने का ही
हमारे सामने यथेष्ट कार्य है। दूसरों में भी वही आत्मा
है, जो हममें है, और वह आत्मा दूसरों द्वारा किस
प्रकार व्यक्त होती है, इससे हमारा कोई सरोकार नहीं।

जब तक यह आपका अपना कर्त्तव्य न हो, तब तक
दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करने का आपको कोई
अधिकार नहीं है; और यह कर्त्तव्य तभी होता है जब
आपको किसी व्यक्ति पर विधाताद्वारा जैसे आपकी
सन्तान, अथवा प्रारब्ध कर्मों द्वारा जैसे आपके नौकर
चाकर एवं कार्यकर्त्ता इत्यादि का भार आप पर सौंपा गया
हो। बालक के ऊपर आप का अधिकार एक संरक्षक के
रूप में ही होना चाहिये, और उस अधिकार का उपयोग
तब तक ही करना चाहिये जब तक वह दुर्बल है और
उसे रक्षा की आवश्यकता है; जब उसको जीवात्मा अपनी
उपाधियों का भार उठाने के योग्य हो जाये, तब क्रमशः
यह अधिकार लुप्त हो जाना चाहिये। अपने बराबर वालों
के—मैं इस शब्द का उपयोग व्यापक अर्थ में करती हूँ—
कार्यों में हस्तक्षेप करने का तो आपको स्पष्टतः कोई भी
अधिकार नहीं है।

लेडवीटर—लोग दूसरों के कामों में बहुधा इसीलिये हस्तक्षेप किया करते हैं क्योंकि उनके विचार में उन कामों की व्यवस्था वे अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। किन्तु वस्तुतः वे इसे समझते नहीं। प्रत्येक मनुष्यद्वारा दैवी शक्ति ही कार्य कर रही है, और हमारे लिये यही उत्तम है कि हम उसे उसकी अपनी ही विधि से कार्य करने दें। याद होगा कि महात्मा क्राइस्ट ने यहूदियों को उनके धर्मग्रन्थों का यह वाक्य याद दिलाया था कि "तुम्हीं ईश्वर हो," और कहा था कि वे सब परमात्मा के ही बालक हैं। यह संभव है कि दूसरा व्यक्ति अपने कार्य को सर्वोत्तम रीति से न करता हो अथवा कुछ भूलें कर रहा हो, किन्तु जब तक वह उसे यथाशक्ति सचाई एवं उत्साह-पूर्वक कर रहा है, तब तक वही ठीक है। यदि वह आपकी भाँति एक अच्छा खिलाड़ी न भी हो, तब भी उसे अपना दाँव तो लेने दो। कभी-कभी मनुष्य अति चतुरता से, आदर से, एवं मधुर वचन से अपना परामर्श किसी के सामने रख भी सकता है, किन्तु बहुत स्थानों पर तो यह भी एक धृष्टता ही होगी। कभी किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को अपनी राय दूसरों पर बलात् लादने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह है कि हम अपने ही कार्यों को सुचारु रूप से करें, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने लिये ही उत्तरदायी है।

———

चौदहवाँ परिच्छेद

एक श्रेष्ठ इच्छा

"यहां तक जो कहा गया वह सब सरल है; इसे केवल तुम्हारे समझ लेने मात्र की ही आवश्यकता है। किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो स्वर्ग-प्राप्ति के अथवा व्यक्तिगत रूप से आवागमन के चक्र से मुक्त होने के उद्देश्य से ही सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ना छोड़ते हैं; तुम्हें इस भूल में कभी नहीं पड़ना चाहिये।"

लेडबीटर—आवागमन के चक्र से व्यक्तिगत मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा मुख्यतः भारतवर्ष में पाई जाती है, क्योंकि यहां के अधिकांश मनुष्य पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। एक साधारण ईसाई के लिये भी स्वर्ग एक पृथिवी से छुटकारा दिलाने वाली वस्तु ही होता है। इस पुस्तक की शिक्षा एक भारतीय बालक को दी गई थी, अतः सर्व प्रथम एवं सबसे अधिक इसमें भारतवर्ष की स्थितियों पर ही लक्ष्य रखा गया है, यद्यपि इन विचारों को पश्चिमीय देशों पर भी उसी प्रकार लागू किया जा सकता है। हम थियोसोफ़िस्टों के लिये यह संभव नहीं कि हम उस स्वर्ग की प्राप्ति के लिये जहां मनुष्य पुनर्जन्म लेने से पहिले सैकड़ों हज़ारों वर्ष व्यतीत करता है, कठिन प्रयत्न करें। हम में से बहुत से तो इस स्वर्गसुख का संपूर्णतया त्याग करके सेवा करने के उद्देश्य से इस पृथिवी पर शीघ्र ही पुनः जन्म लेने की इच्छा करेंगे। और जिनकी ऐसी इच्छा होती है उनके लिये ऐसा करना सम्भव भी होता है।

तथापि इस प्रकार शीघ्र ही पुनर्जन्म लेने के लिये शक्ति की आवश्यकता विशेष परिमाण में रहती है, क्योंकि तब हमें अपने इसी वासनाशरीर और मनशरीर को नवीन स्थूल शरीर में ले जाना पड़ता है।

यह बात नहीं है कि मस्तिष्क (Physical Brain) की भांति हमारे मनशरीर अथवा वासना-शरीर को भी थकान या क्लान्ति होती हो। तथापि इसका एक दूसरा विवेचन है। जो वासना-शरीर और मनशरीर हमें इस जन्म में प्राप्त हैं, वे हमारे पूर्व जन्म के अन्त में हम जैसे भी थे, उसी की अभिव्यक्ति है। जैसे-जैसे हम जीवन व्यतीत करते हैं, तैसे तैसे हम उनमें समुचित परिवर्तन करते जाते हैं; किन्तु यह परिवर्तन एक विशेष निर्धारित सीमा से आगे नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, एक पुरानी मोटर कार एक विशेष सीमा तक ही मरम्मत या सुधार के योग्य हो सकती है। और, बहुत बार तो उसे सुधारने की चेष्टा करने की अपेक्षा नई खरीदना ही अच्छा होता है। वासनाशरीर और मनशरीर के लिये भी कुछ कुछ यही बात लागू होती है। उनमें मौलिक परिवर्तन करने में बहुत समय लगेगा और फिर भी कदाचित् कुछ अंशों में ही परिवर्तन किया जा सकेगा। यदि इस जन्म में मनुष्य की सामर्थ्य में अतिशय वृद्धि हुई है, तो उसकी उन्नति के लिये यही उत्तम हो सकता है कि वह अपने पुराने वासना-शरीर और मनशरीर पर पैवन्द लगा कर उसका जीर्णोद्धार करने के स्थान पर अपनी अभिव्यक्ति के लिये नवीन शरीरों को धारण करे। यही कारण है कि शीघ्र ही पुनर्जन्म लेना सदा सम्भाव्य नहीं होता। तथापि श्री जगद्गुरू

के आगमन के कारण पृथिवी पर कार्यकर्त्ताओं की विशेष आवश्यकता होने पर—जैसा कि इस समय है-हम ऐसा कर सकते हैं। जिस व्यक्ति ने इस जन्म में सेवा के श्रेष्ठ कार्य किये हैं और वैसे ही सेवाकार्यों में संलग्न रहने के उद्देश्य से शीघ्र पुनर्जन्म लेने के लिये उत्साहपूर्वक इच्छुक है, वह अपनी इस इच्छा की पूर्ति करने में समर्थ हो सकता है।

मनुष्यमात्र के लिये पारलौकिक जीवन का एक साधारण क्रम निश्चित है, और जो इस क्रम के अनुसार जाते हैं उनके लिये कोई विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक नहीं। किन्तु यदि कोई मनुष्य उस क्रम के अतिरिक्त अन्य क्रम को ग्रहण करने की इच्छा करता है, उसे इसके लिये आवेदन करने की आवश्यकता होती है या उसके लिये किसी को इस परिवर्तन का प्रबन्ध करना पड़ता है। उनकी यह प्रार्थना उच्च अधिकृत देव के आगे रखी जाती है, जो यदि वांछनीय समझें तो इसके लिये आज्ञा प्रदान कर सकते हैं; किन्तु यदि वे इसको उस व्यक्ति के लिये उपयोगी न समझें तो निश्चय ही अस्वीकार कर देंगे। तथापि, जो लोग इस विषय में चिन्तित हैं वे मेरी समझ में अपने मन को धीरज दे सकते हैं, क्योंकि जिन्होंने इस जन्म में सेवा के श्रेष्ठ कार्य को भली प्रकार किया है उन्हें निश्चय ही इस कार्य को चालू रखने के लिये भविष्य में भी अवसर मिलते रहेंगे। जो मनुष्य शीघ्र ही पुनर्जन्म लेना चाहता है, उसे अपने आपको अनिवार्य बना लेना चाहिये, ताकि उसके बारे में यही जाना जाये कि उसका तुरन्त पृथिवी पर लौट आना ही उपयोगी सिद्ध होगा। प्रासंगिक रूप से, वासनाशरीर

और मनशरीर को वांछित स्थिति में लाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

“यदि तुम अपने आपको सर्वथा भूल जाओ तो तुम यह सोच ही नहीं सकते कि तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति कब होगी, अथवा तुम किस प्रकार स्वर्ग को प्राप्त करोगे। यह याद रखो कि सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाये बन्धन में डालने वाली होती हैं, चाहे वे इच्छाये किसी उच्च लक्ष्य के लिये ही क्यों न हों। और इनसे सर्वथा मुक्त हुये बिना गुरुदेव के कार्य के लिये आत्म-समर्पण करने के योग्य नहीं बन सकते।”

ऐनी बेसेंट—हमें यह याद रखना चाहिये कि यद्यपि स्थूललोक की अपेक्षा भूवर्लोक तथा मनोलोक अधिक सूक्ष्म पदार्थों से निर्मित हैं, तथापि वे भी पदार्थ ही हैं; वे भी वस्तुतत्व (Objective) हैं एवं विषयों से परिपूर्ण हैं। मनोलोक के निम्न विभाग में स्थित स्वर्ग की जो इच्छा मनुष्य को रहती है, वह भी भौतिक विषयों की इच्छा के समान देहाभिमानी व्यक्तित्व की ही इच्छा होती है। अन्तर इतना ही है कि यह इच्छा अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष सुख के लिये होती है। स्थूल जगत् के विषयों की इच्छा की अपेक्षा स्वर्ग की इच्छा का एक यह लाभ है कि इससे आपकी इच्छा-प्रकृति का संयम होता है, क्योंकि वह इच्छा तुरन्त ही पूर्ण नहीं की जा सकती। अतः इसके द्वारा मनुष्य को साधारण इच्छाओं से छूटने में सहायता मिलती है और इसीके कारण वह उच्च श्रेणी के विमल सुखों की कामना करने लगता है और अपने विचारों में निकृष्ट सुखों के स्थान पर इन्हीं का अधिक ध्यान करता है। ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जिन्हें यह कहना कि “अपनी

इच्छाओं का हनन करो", स्पष्टतः ही निरर्थक होगा। यदि आप किसी ऐसे मनुष्य की सहायता करना चाहते हैं जो खाने, पीने और स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सुखों में ही लिप्त हो, तो उसे इन निकृष्ट इच्छाओं के नाश करने में सहायता देने के लिये आप उसके समक्ष स्वर्ग की कामना को रख सकते हैं। इसी कारण प्रत्येक धर्म में स्वर्ग-नरक संबन्धी इतनी शिक्षायें पाई जाती हैं। भगवान बुद्ध ने भी साधारण जनता को संबोधन करते समय इनका वर्णन किया है।

जिसे इस मार्ग पर अग्रसर होने की अभिलाषा है, उसे मोक्ष की अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्त होने की इच्छा का भी परित्याग कर देना चाहिये। कारण बिल्कुल साधारण है, जिसे श्री गुरुदेव यहाँ बतलाते हैं। यदि आप अपने को पूर्णतया भूल गये हैं तो आप अपने से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं का विचार ही नहीं कर सकते। यदि आप श्री गुरुदेव के कार्य के लिये आत्म-समर्पण करना चाहते हैं तो आपको इन सब इच्छाओं से मुक्त होना चाहिये।

ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो सेवा का कोई न कोई कार्य करने के इच्छुक रहते हैं। किन्तु एक शिष्य को श्री गुरुदेव की सेवा का कार्य उन्हीं की इच्छानुसार एवं जहाँ वे आवश्यक समझते हों वहीं करने की इच्छा रखनी चाहिये। जब तक हृदय में किसी भी प्रकार का बंधन शेष है, तब तक इस प्रकार की निष्काम सेवा करना सम्भव नहीं; जैसा कि एक उपनिषद् में कहा गया है:—"जब तक हृदय की ग्रन्थियाँ न टूट जायें तब तक मनुष्य अमरत्व

प्राप्त नहीं कर सकता।" यदि हम हृदय के इन बन्धनों में प्रेम के गुणों का भी, जिन्हें हम अत्यन्त अमूल्य समझते हैं, समावेश कर लें, तो यह बात कठोर प्रतीत होती है। तथापि यहाँ इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें हृदयहीन हो जाना चाहिये, वरन् यह है कि हृदय के बन्धन टूट जाने चाहिये ताकि हृदय का प्रेम असीम हो सके। इस बात से यह भ्रान्त धारणा नहीं होनी चाहिये कि मैंने प्रेम करना अवांछनीय बताया है। प्रेम कभी बन्धन में नहीं डालता, वरन् इसमें स्वार्थ का जो अंश बहुधा ही मिश्रित है, वही बन्धनकारी होता है। एक मनुष्य की आत्मा का दूसरे मनुष्य की आत्मा से प्रेम करना स्वभावतः ही चिरस्थायी होता है, हम यदि चाहें भी तो इसे बदल नहीं सकते; किन्तु इस आत्मिक प्रेम में जब बाहरी रूप के प्रेम का मिश्रण हो जाता है, तब यह बन्धन का कारण बन जाता है, और इस प्रकार से स्वयं प्रेम भी एक बन्धन बन सकता है।

स्वतंत्र होकर श्री गुरुदेव का कार्य करने का केवल एक ही साधन है कि आप सतत प्रयत्न करके उस कार्य में बाधा डालने वाले प्रत्येक बन्धन को काट डालिये। यदि आपको अपने प्रेम में कोई ऐसी बात दिखाई देती है जो कि आपको दुखी कर सकती है, तो समझिये कि उसमें स्वार्थ विद्यमान है, जिसे अवश्य दूर कर देना चाहिये। इस स्वार्थ से मुक्त हो जाइये, और फिर आपका प्रेम शक्तिशाली, श्रेष्ठ, और पवित्र बन जायेगा, और इस प्रकार का प्रेम श्री गुरुदेव के कार्य में बाधक नहीं हो सकता। मान लीजिये कि आप कहीं ऐसे जगह जाना चाहते हैं

जहाँ कोई ऐसा व्यक्ति है जिसका संग आप चाहते हैं; तो वहाँ जाने का विचार छोड़ दीजिये। जिन विशेष व्यक्तियों और वस्तुओं से आपका स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, उन बन्धनों को निश्चयपूर्वक तोड़ने के उपाय का यह एक दृष्टान्त है। ऐसे बन्धनों को काट फेंकिये।

यह बात मैं उनके लिये नहीं कहती जो उन्नति के मार्ग पर धीरे धीरे और चुपचाप चलते जाना चाहते हैं, वरन् उनके लिये कहती हूं जिन्हें शीघ्र उन्नति की उत्कट लगन है। परन्तु ध्यान रखिये कि धीरे धीरे उन्नति करने वाले कोई दोष के पात्र नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपने पसन्द के अनुसार धीरे धीरे अथवा शीघ्रतापूर्वक प्रगति करने के लिये स्वतंत्र है। किंतु अभी मैं उन मनुष्यों के लिये कह रही हूं जो वास्तव में ही शीघ्र उन्नति करना चाहते हैं, और जिन्हें इसकी सच्ची लगन है। इस प्रकार की लगन रखने वालों को श्री गुरुदेव सदैव खोजते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति उन्हें अधिक नहीं मिलते। यह बात भी मैं अपने अनुभव से ही कह रही हूं, क्योंकि मेरे मार्ग में यह कठिनाई आती रही है। तब मैंने आत्म-संवरण सीखना प्रारम्भ किया। जब जब मुझे किसी के साथ रहने की प्रबल इच्छा होती थी, तब तब मैं उस व्यक्ति से दूर रहने की ही चेष्टा करती थी। यदि आपमें कौशल और शक्ति है, तो आप भीतर से—अर्थात् दूसरे को इसका आभास दिये बिना ही बन्धनमुक्त हो सकते हैं। और बन्धनमुक्त होकर भी आप पूर्व की भांति ही प्रेम शील बने रहते हैं और आपके बाहरी व्यवहार में कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु भीतर से आप अपने हृदय के बन्धनों को ढीला

करते जाते हैं। इस प्रकार से अपने कर्त्तव्य का स्पष्ट ज्ञान रखते हुये उसकी निश्चयपूर्वक पालन करके ही हममें से कुछ व्यक्तियों ने दूसरों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर ली है। यदि इस सत्य को आप ध्यान में रखें कि आपको बंधन में डालने वाली एक भी वस्तु के रहते हुये आप श्री गुरुदेव के कार्य के लिये पूर्णरूप से आत्मसमर्पण नहीं कर सकते, तो यह प्रयत्न करना आपके लिये सुगम हो जायेगा।

लेडबीटर—इन वाक्यों से हमें प्रतीत होता है कि स्वर्ग की कामना करने वाला भी हमारा देहाभिमानी व्यक्तित्व (personality) ही है। तथापि, शिष्य की श्रेणी तक पहुँचने से पहिले की श्रेणियों में उन्नति करने के लिये ऐसी इच्छा करना किसी भी प्रकार बुरा नहीं। विकास की योजना में इसका भी एक स्थान है। विकास की प्रारंभिक श्रेणी के मनुष्य खान-पान सदृश सुखों के विचारों से ही परिपूर्ण रहते हैं। उनके सामने वैराग्य की बात कहना सर्वथा निरर्थक होगी, क्योंकि उन्हें पहिले उच्च और विशुद्ध इच्छा रखने वालों की श्रेणी में आना चाहिये। ऐसे लोगों को तो हम केवल यही कह सकते हैं कि "अपनी इच्छाओं को विशुद्ध करने का यत्न करो; जिन वस्तुओं का विचार तुम कर रहे हो, उनसे भी महान् वस्तुएं विद्यमान हैं, और जब तक तुम अपनी भावनाओं के वेग पर निरोध करने के लिये उद्यत न हो जाओ, तब तक भविष्य में उन उच्च वस्तुओं तक नहीं पहुँच सकते।" साधारण मनुष्य एक एक सीढ़ी करके ही उन्नति कर सकता है। केवल जो अमित शक्तिशाली हैं वे ही इस दुर्गम पथपर शीघ्रतापूर्वक उन्नति करके विकास की सर्वोच्च श्रेणी को प्राप्त हो सकते

हैं। तथापि जो लोग इस पुस्तक को पढ़ते हैं, और अलिकयोनी के समान ही उन्नति करना चाहते हैं, उन्हें अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से मुक्त होने का निश्चय तुरन्त कर लेना चाहिये, क्योंकि यह वन्धन-कारक होती हैं। जैसा कि मैंने कहा, प्रेम में स्वार्थ का एक कण भी विद्यमान हो तो वह प्रेम भी हृदय का एक वन्धन ही वन जाता है, किन्तु स्वार्थ के प्रत्येक विचार से रहित हो जाने पर यही प्रेम हृदय की शक्ति वन जाता है। जब तक वन्धन नहीं टूटते, और स्वार्थ का नाश नहीं होता, तबतक वह प्रेम सहायक और बाधक दोनों ही वन सकता है।

भारतवर्ष तथा दूसरे अन्य देशों में भी, स्वार्थपूर्ण इच्छा में निःस्वार्थ प्रेम की भ्रांति रहने के कारण वहुत मिथ्या धारणा रही है। कुछ दार्शनिक लोग प्रत्यक घटना के प्रति उदासीन वनने के लिये एवं प्रेम का परित्याग करके कष्टों से वचने के लिये अपने आप को कठोर वनाने की चेष्टा करते हैं। पर यह उपाय ठीक नहीं; इससे मनुष्य अर्ध-उन्नत अर्थात् बुद्धिमान किन्तु हृदयहीन वन जाते हैं। हममें अपनी भावनाओं के वड़े वड़े वेगों को भी व्यक्त कर सकने की शक्ति होनी चाहिये, किन्तु वे भावनायें काम-एलीमेन्टल (Desire elemental) की इच्छा से हमको वहा ले जानेवाली लहरें नहीं होनी चाहिये। उन्हें हमारी आत्मा की उच्च भावनाओं का ही प्रतिविम्ब होना चाहिये, जिन पर हमें पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो। भावनाओं को नष्ट करके उन पर निग्रह करने का विचार कुछ उसी प्रकार का है जैसे कि अशुभ कर्मों से बचने के लिये अकर्मण्य वन जाना। श्री गुरुदेव ने हमारे लिये यही मार्ग बताया

है कि हमें अपने कर्म, विचार और भावनाओं द्वारा मनुष्य जाति के लिये उत्तरोत्तर उपयोगी बनते जाना चाहिये। हम इस प्रकार से जितना ही अधिक कार्य कर सकेंगे, उतना ही सबके लिये अच्छा होगा।

"जब अपने लिये कोई भी इच्छा शेष नहीं रहती, तब भी अपने कार्यों का परिणाम देखने की इच्छा रह सकती है। यदि तुम किसी की सहायता करते हो, तो तुम यह देखना चाहते हो कि तुमने उसकी कितनी सहायता की है; कदाचित् तुम यह भी चाहते हो कि वह व्यक्ति भी इसे देखे और तुम्हारा कृतज्ञ बने। किन्तु यह भी एक इच्छा ही है और इससे विश्वास की कमी भी प्रकट होती है।"

एनी बेसेंट—यह वही बात है जिसे श्रीमद्भगवद् गीता में फल के लिये काम न करना कहा गया है। परिणाम ही फल है। यदि आप वास्तव में ही कार्य कर रहे हैं तो आपके पास परिणाम पर ध्यान देने एवं बीच में ठहर कर कितना काम पूरा हुआ है यह देखने के लिये कोई समय नहीं। एक काम के समाप्त होते ही दूसरा काम करने को रहता है। यदि आप परिणाम को देखते रहते हैं तो समय को व्यर्थ खोते हैं। समाप्त हुये काम को ही देखते रहने से दूसरे कार्य को कैसे कर सकेंगे? और, जब किसी को व्यक्तिगत सहायता देने की बात आती है, जो सबसे अधिक प्रसन्नतादायक है, क्योंकि इसके पीछे व्यक्तिगत प्रेम रहता है, तब यह मत देखिये कि आपसे सहायता पाने वाला व्यक्ति आपकी प्रशंसा करता है या नहीं। यह तो वैसे ही है जैसे कि किसी को उपहार देकर यह देखने के लिये कि वह व्यक्ति हमारा कृतज्ञ है या नहीं, एवं उससे धन्यवाद की मांग करने के लिये हम

उसके पीछे पीछे फिरें। जो इस प्रकार करता है उसने कुछ भी नहीं दिया है, उसने केवल विक्रय किया है—इतनी सहायता के बदले इतनी कृतज्ञता लेकर परस्पर विनिमय कर लिया है, दिया नहीं। आपको इस प्रकार से सौदा नहीं करना चाहिये। याद रखिये कि महात्मा क्राइस्ट ने उन लोगों को जो मन्दिर में विक्री कर रहे थे, यद्यपि वे पूजा-सामग्री ही बेच रहे थे, यह कह कर मंदिर से निकाल दिया था कि "मेरे पिता के घर को हाट (बाज़ार) मत बनाओ।"

लेडवीटर—आध्यात्म-विद्याभ्यासी (Occultist) के समान कोई उद्यमी नहीं होता। एक कार्य के समाप्त होते ही वह दूसरे कार्य को आरंभ कर देता है और अपने पूर्व कार्य के परिणाम को देखने के लिये खड़ा नहीं रहता। मान लीजिये कि आप युद्धक्षेत्र में सहायक के रूप में या नर्स के समान घायलों की सुश्रुषा करने का कार्य करते हैं, उस समय आपको यथाशक्ति एक का सर्वोत्तम उपचार करके तुरन्त ही दूसरे की दशा पर ध्यान देना होगा। वहाँ आपके पास इतना समय कहाँ कि आप अपनी सुश्रुषा के परिणाम को देखने के लिये आध घंटे तक प्रतीक्षा करें। आप तो यह भी देखने के लिये नहीं रुक सकते कि वह मनुष्य अच्छा भी होगा या नहीं। श्री गुरुदेव के कार्य के लिये भी ठीक यही बात है। प्रथम तो उसके परिणाम को सोचने और ठहरने के लिये हमारे पास समय ही नहीं, उसके उपरान्त यह सोचने का अवसर तो तनिक भी नहीं कि उन कार्यों के परिणाम से हमारा निज का संसर्ग

कितना रहा। अपने प्रयत्नों की सफलता की कामना करना एवं उस सफलता की प्राप्ति पर उल्लसित होना साधारण मानव-प्रकृति है, किंतु हमें इन मानवीय-दुर्बलताओं से ऊपर उठना चाहिये, क्योंकि जिस ध्येय को हम लक्ष्य करते हैं वह मानव-श्रेणी से ऊपर अर्थात् दैवी है। यदि एक कार्य भली प्रकार किया गया है तो उस विचार पर हम प्रसन्न हो सकते हैं, किंतु दूसरे की सफलता को भी अपनी ही मान कर उस पर भी उतना ही प्रसन्न होना चाहिये।

यहां पर यह कहा गया है कि यदि आप किसी व्यक्ति को सहायता करते हैं तो आप यह चाहते हैं वह व्यक्ति उसे जाने और आपका कृतज्ञ हो। परन्तु यदि देते समय किसी मनुष्य की इस प्रकार की भावना रहती है तो वह देता नहीं वरन् विक्रय करता है। आध्यात्मज्ञान में तो ईश्वर के समान देने को ही सचमुच का देना बतलाया है, जहां से कि सूर्य से प्राणों के समान स्वभावतः ही प्रेम प्रवाहित होता रहता है।

"जब तुम अपनी शक्ति को सहायता करने में लगाते हो तो उसका परिणाम भी अवश्य ही होगा, चाहें तुम देख सको या नहीं; यदि तुम ईश्वरीय नियम को जानते हो, तो इस बात की सत्यता को भी जानना चाहिये।"

ऐनी बेसेंट—"क्राइस्ट अनुकरण" (Imitation of Christ) नामक पुस्तक में यह प्रश्न किया गया है कि "ईश्वर की निष्काम सेवा कौन करेगा!" शिष्य को काम के लिये ही काम करना चाहिये, न कि उसका फल देखने के लिये।

यहां तक कि, 'मैं सेवा करता हूं' इस विचार से संतोष मान कर भी उसे प्रसन्न नहीं होना चाहिये। उसे जगत् की सेवा इस लिय करनी चाहिये, क्योंकि वह जगत से प्रेम करता है। हम इस नियमवद्ध जगत में निवास करते हैं, जिसमें कार्यों का फल होना अवश्यम्भावी है; इस लिये हमें इसे अपना विषय नहीं बना लेना चाहिये। वहुत वार हमारा कार्य इस प्रकार का होता है कि उसका परिणाम स्थूललोक में शीघ्र दृष्टिगोचर तो नहीं होता, किन्तु वह कार्य लगभग सम्पूर्णता के निकट आ जाता है; कोई दूसरा व्यक्ति आकर उस कार्य को परिपूर्ण कर देगा, किन्तु जिन व्यक्तियों ने पहिले कठिन परिश्रम किया है और उसके परिणाम को नहीं देखा है, उनके विना संभवतः वह कार्य नहीं किया जा सकता था।

ईश्वरीय नियम पर विश्वास हुये विना आप महत्वपूर्ण कार्यों को नहीं कर सकते, क्योंकि समस्त महत्वपूर्ण कार्यों की प्रगति धीमी होती है। उदाहरण के लिये मनु के कार्य पर विचार कीजिये, इस कार्य में जिसे आप परिणाम कहेंगे उसके तो चिह्न भी दृष्टिगोचर होने से पहिले हज़ारों वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। एक वड़ा मकान वनाने में भी यही नियम लागू पड़ता है, क्योंकि उसमें गहरी नींव का होना आवश्यक है। हमारा कार्य अधिकांश में नींव डालने के समान ही है जो दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु भविष्य में हमारे पश्चात् कोई और आयेगा, और इसकी तह पर ईंटों की पंक्ति लगा देगा, जो कि तुरन्त ही दीख पड़ेगी। तव क्या नींव डालना निरर्थक है?

परिणाम अनिवार्य है। अतः शान्त एवं वैज्ञानिक विधि

से कार्य कीजिये और आप कभी निराश न होंगे। समस्त निराशाओं का कारण फल की कामना ही है। परिणाम पर दृष्टि डाले बिना ही आप एक लंबी अवधि तक उद्यम के साथ कार्य करते चले जाइये और एक दिन उसका परिणाम अचानक दृष्टिगोचर होगा। जैसे एक रसायन-कार पूर्णतया मिश्रित घोल (Saturated solution) तैयार करने के लिये लवण (Salt) को पानी में डालता चला जाता है, और कुछ समय तक उस तरल पदार्थ (Liquid) पर कोई बाह्य प्रभाव नहीं दिखाई देता, तब उस घोल में जब अंतिम मात्रा डाली जाती है, तो वह तरल पदार्थ अचानक ठोस बन जाता है। हमारे कार्य के लिये भी ठीक यही बात है; किसी दिन अचानक ही कार्य की पूर्णता व्यक्त हो जायेगी। हम श्री जगद्गुरू के आगमन की तैयारी कर रहे हैं। हमें अपनी समस्त शक्ति शांतिपूर्वक, निश्चय पूर्वक, और धैर्य पूर्वक इसी कार्य में लगा कर अपने को इसी के निमित्त पूर्णतया अर्पण कर देना चाहिये। जब भगवान् मैत्रेय का आगमन होगा, तब वे हमारे किये हुये कार्यों को संभाल लेंगे और तभी इनका फल जगत् को दृष्टिगोचर होगा।

लेडबीटर—बहुधा एक के बाद एक, बहुत से मनुष्यों के प्रयत्नों से ही एक महान् परिणाम की प्राप्ति होती है। जब संसार में किसी बड़े सुधार का प्रारम्भ करना होता है, तब प्रायः यही होता है कि कोई एक मनुष्य अथवा मनुष्यों का कोई एक दल उसकी आवश्यकता का अनुभव करेगा और उसके प्रचार के लिये कहना अथवा लिखना प्रारंभ कर देगा। जगत् उसका उपहास करेगा और

उस समय उसका प्रयत्न असफल ही प्रतीत होगा। किंतु कुछ थोड़े से लोग उनके मतानुयायी हो जायेंगे, जो पीछे से उनके कार्य को चालू रखेंगे, जब तक कि अन्त में समाज उस सुधार को स्वीकार न कर ले। इन पिछले व्यक्तियों द्वारा जो काम किया गया, वह उन अग्रगामी व्यक्तियों के असफल प्रतीत होने वाले कार्य के बिना पूर्ण होना संभव न था।

बहुत वार हमारा कार्य कुछ इस प्रकार का होता है कि वह लगभग सम्पूर्ण होने के ही निकट पहुँच जाता है, किन्तु फिर कोई अन्य व्यक्ति आयेगा और उसे पूर्ण करने का श्रेय प्राप्त कर लेगा; उसके प्रयत्नों को संसार में प्रसिद्धि होगी और वही उस सम्पूर्ण कार्य को करने वाला माना जायेगा। किन्तु इसकी कोई बात नहीं, कौन श्रेयभागी हुआ इसकी हमें परवाह नहीं करनी चाहिये, वरन् हमें तो इस बात की प्रसन्नता होनी चाहिये कि हमें कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। यह नहीं सोचना चाहिये कि "यह तो मेरे प्रति अत्यन्त कठोरता है; हमारे कार्यों का फलाफल हमारे कर्मों पर निर्भर है" वर्तमान में संसार इस विषय पर क्या कहता और करता है इसका कुछ महत्व नहीं। जो मनुष्य वैज्ञानिक रीति से, समझ बूझ कर, फल की कामना से रहित होकर कार्य करता है और जिसे यह दृढ़ निश्चय होता है कि श्रेष्ठ कार्यों से किसी न किसी तरह कहीं न कहीं भलाई अवश्य होती है, वह निराश होना कभी नहीं जानेगा।

जब भगवान् मैत्रेय का आगमन होगा तब वे हमारा किया हुआ समस्त कार्य संभाल लेंगे और उसे चालू रखते

हुये सम्पूर्ण कर देंगे। उस समय वह कार्य उन्हीं का किया हुआ प्रतीत होगा। एक प्रकार से तो सब कुछ उनका ही है, क्योंकि हमें उन्हीं से प्रेरणा मिली है; तथापि उनके कार्यका अधिकांश भाग उन पहिले के विनम्र कार्य-कर्त्ताओं के असफल प्रतीत होने वाले प्रयत्नों से ही संभव होगा। हमें उन कार्यकर्त्ताओं में से ही एक बनने का अवसर मिला है, यह निश्चय ही हमारे लिये इतना बड़ा सौभाग्य है, जिसकी हम आकांक्षा कर सकते हैं।

जब मनुष्य प्रकृति के नियम को जान लेता है, तो वह सभी बातों में उनका उपयोग कर सकता है। जो कार्य हम लगातार अन्तर्लोकों (inner planes) में कर रहे हैं उनके लिये भी यह बात उतना ही सत्य है जितना कि हमारे स्थूल लोक के कार्यों के लिये सत्य है। हमारा प्रत्येक विचार भूवर्लोक और मनोलोक पर एक सूक्ष्म-रूप का निर्माण करता है, और यह विचार-रूप उस व्यक्ति अथवा वस्तु के जिसका कि हम विचार कर रहे थे, पास जाकर अपने गुण-स्वभाव के अनुसार भलाई अथवा बुराई के लिये या तो उसके चारों ओर मडराता रहता है, अथवा अपने को उस पर बिखेर देता है। बुरे विचार-रूपों का निर्माण करने की अपेक्षा सहायता पहुँचाने वाले विचार-रूपों का निर्माण करने में कोई अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती, यह तो मन की वृत्ति पर निर्भर है। मनुष्य ऐसा सोच सकता है कि "मेरे मन की वृत्ति का तो केवल मुझसे ही सम्बन्ध है और वह भी केवल वर्तमान के लिये;" किन्तु बात ऐसी नहीं, क्योंकि इसका सम्बन्ध दूसरों से भी होता है, और आप पर भी इसका प्रभाव दूसरे दिन, दूसरे मास, यहां

पंद्रहवाँ परिच्छेद

आध्यात्मिक शक्तियाँ (सिद्धियाँ)

तुम सिद्धियों की इच्छा मत करो ; जब श्री गुरुदेव उन्हें तुम्हारे लिये उपयोगी समझेंगे, तब वे तुम्हें स्वतः ही प्राप्त हो जायेगी।"

ऐनी बेसेंट—'सिद्धियाँ" (आध्यात्मिक शक्ति) शब्द के अर्थ में वस्तुतः चेतनता (consciousness) की उन सब शक्तियों का समावेश है, जो स्थूल शरीर, वासना शरीर, अथवा मनशरीर के संगठित पदार्थों द्वारा प्राप्त होती हैं। अतः बुद्धि की समस्त शक्तियाँ आध्यात्मिक शक्तियाँ कही जाती हैं। मस्तिष्क द्वारा प्रदर्शित होने वाले मनस् की साधारण शक्तियों में, नाना प्रकार की दिव्य दृष्टियों में, और इसी प्रकार की अन्य शक्तियों में जो इतना भेद बढ़ गया है, यह एक दुर्भाग्य की बात है। बहुत से लोग इन आध्यात्मिक शक्तियों (सिद्धियों) की प्राप्ति का विरोध करते हैं जब कि वे स्वयं स्थूल शरीर के द्वारा उन शक्तियों का उपयोग प्रति क्षण करते रहते हैं। वे लोग अपने इन स्थूल नेत्रों से तो काम लेते हैं, किन्तु सूक्ष्म लोकों की दृष्टि की जाग्रति की निंदा करते हैं। जब तक आप उन भारतीय योगियों की तर्क संगत युक्ति को ग्रहण करने के लिये उद्यत न हों, जो स्थूल-लोक और सूक्ष्मलोक दोनों में ही इंद्रियों को बाधा रूप मानते हैं, तब तक केवल सूक्ष्मलोकों की दृष्टि की निंदा करना तर्कविहीन बात है। उपरोक्त योगियों का तर्क

करना ठीक है क्योंकि वे किसी भी प्रकार की इंद्रियों को सारयुक्त नहीं समझते और सोचते हैं कि ये इंद्रियां ही उनको, संसार के उस मायाजाल में, जिससे कि वे बचना चाहते हैं, फंसाने का कारण बनती हैं। किन्तु मैं इन व्यक्तियों से सहमत नहीं हूं। मेरे विचार में तो स्वस्थ रहते हुये सब लोकों में अपनी शक्तियों का उपयोग करना ही उत्तम है; किन्तु जब तक आप उनका पूर्णतया सदुपयोग करने में समर्थ न हों, तब तक सिद्धियों (आध्यात्मिक शक्तियों) की प्राप्ति की बात करना मूर्खता है।

सत्य तो यह है कि काम लोक की चेतनता समय से पूर्व प्राप्त करने से मनुष्य को धोखा खाने की संभावना रहती है। किन्तु मनुष्य की स्थूल इन्द्रियाँ भी तो उसे धोखा दे सकती हैं। उदाहरणार्थ, पाचन शक्ति की ख़राबी या यकृत के अव्यवस्थित होने से कुछ दृष्टि-भ्रम उत्पन्न हो जाते हैं। तथापि, साधारण डाक्टरों की भाँति उन सभी घटनाओं, को जो वास्तव में ईथरिक या काम लोक की सूक्ष्म दृष्टि की घटनायें हैं, दृष्टिभ्रम की श्रेणी में मैं न रखूंगी। हमारी स्थूल दृष्टि भी हमें किस प्रकार भ्रम में डालती है इसका अति सामान्य दृष्टांत सूर्योदय है; आप जानते हैं कि सूर्य उदय नहीं होता, किंतु आप नित्य उसे उदय होता हुआ ही देखते हैं।

अतः, सब ज्ञानेन्द्रियों से उच्च होने के कारण इनकी यथार्थता का निर्णय बुद्धि द्वारा ही करना चाहिये। जब आप सूक्ष्म लोकों की दृष्टि का अभ्यास करते हैं, तो वह दृष्टि पहिले आपको लगातार धोखा देती है। इसी

लिये जिस व्यक्ति की शिक्षा श्री गुरूदेव द्वारा होती है, वे उसे इसका क्रमानुसार निश्चित अभ्यास करवाते हैं। उससे पूछा जाता है कि उसे क्या दिखाई देता है और आरंभ में उसका उत्तर प्रायः ही गलत होता है; तब उसकी भूलें उसे बताई जाती हैं और उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

मान लीजिये कि किसी मनुष्य को शिक्षा श्री गुरुदेव द्वारा तो नहीं हुआ है, किंतु उसे यह दृष्टि प्राप्त हो गई है; बहुधा ऐसा होता भी है, क्योंकि विकास के क्रमानुसार सूक्ष्म लोकों की चेतना प्राकृतिक रूप से ही प्रकट हो रही है, जिससे बहुत से मनुष्य इसे प्राप्त करते जा रहे हैं। ऐसे व्यक्ति की स्थिति भुवर्लोक पर वही होती है जो यहाँ एक बालक की है। आप जानते हैं कि कैसे एक बालक कमरे के दूसरे कोने में रखी हुई बत्ती को उठाने के लिये वहीं से हाथ बढ़ा देगा। बालक की भूल का सुधार स्वाभावतः ही उसके बड़ों द्वारा किया जाता है; ऐसी जो भी वस्तुयें बालक को आकृष्ट करती हैं, उनके पास उसे ले जाये जाने पर वह जान जायेगा कि ये वस्तुयें उससे कुछ दूरी पर हैं। अतः भुवर्लोक का यह तथा-कथित बालक भी—जिस व्यक्ति ने भुवर्लोक पर चैतन्य होना अभी आरम्भ किया है, बहुत सी भूलें करता है, किंतु यदि वह अपने से बड़ों के मध्य में हो, तो इससे कुछ भी हरज़ न होगा। यदि लोगों को साधारण बुद्धि ही हो, तब भी इसमें विशेष कष्ट की बात नहीं। किन्तु दुर्भाग्य से जो व्यक्ति भुवर्लोक का कुछ अनुभव प्राप्त करने लगता है अथवा वहाँ की दृश्य देखने लगता है, वह अपने को संसार

से पृथक् एवं ईश्वरप्रदत्त दिव्य शक्तियों से सम्पन्न कोई विशेष पात्र समझने लगता है। जिस प्रकार बालक गुरुजनों द्वारा शिक्षा ग्रहण करने को प्रस्तुत रहते हैं, उस प्रकार इन व्यक्तियों की अपने बड़ों द्वारा उस ज्ञान को सीखने की मनोवृत्ति नहीं होती और इसीलिये बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

लेडबीटर—जो व्यक्ति श्री गुरुदेव के शिष्य बनते हैं उन्हें उच्च लोकों की दृष्टि और उनके अनुभव के विषय की शिक्षा प्रायः क्रमानुसार ही दी जाती है। मैं सोचता हूं कि यह शिक्षा बहुतों के लिये बहुत श्रमसाध्य होगा। कोई उन्नत शिष्य एक नये शिष्य को भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत से दृश्यों को दिखलाकर पूछता है कि उसने क्या देखा ? नया शिष्य पहिले पहल प्रायः गलत ही उत्तर देता है, क्योंकि वे वस्तुयें उसके दृष्टिकेन्द्र में यथोचित रूप से नहीं आ पातीं। वह मृतक मनुष्य तथा जीवित मनुष्य के वासना शरीर में भी भेद पहचानना नहीं जानता और स्वयं मनुष्य में तथा उसके किसी मित्र द्वारा बनाये गये उसके विचार रूप में भी भेद नहीं पहचान सकता। इस प्रकार बहुत तरह से एक बिना सीखे हुये शिष्य के धोखा खाने की संभावना रहती है। एक शिक्षक धैर्यपूर्वक बारम्बार इन वस्तुओं को उसे दिखलायेगा और उनके छोटे से छोटे भेद को समझाते हुये उन्हें पहचानना सिखलायेगा।

किसी को ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि इस शिक्षा के आवश्यक होने के कारण भुवर्लोक की चेतना विशेष रूप से अविश्वस्यनीय होती हैं। बिना शिक्षा प्राप्त किये

और शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी यदि उसका उपयोग विचारयुक्त बुद्धि द्वारा न किया जाये, तो प्रत्येक इन्द्रिय का अनुभव अविश्वस्त है। प्रातःकाल यदि हम सूर्योदय से पहिले जागें और आकाश साफ हो तो सूर्य को उदय होते हुये देख सकते हैं; यद्यपि हम जानते हैं कि सूर्य उदय नहीं होता, तौ भी हम इसे उदय होता देखते हैं। जो बात अधिकांश मनुष्यों के अनुभव से कुछ भिन्न होती है, उसके लिये तर्क विहीन मनुष्य यह कहते हैं कि जिस वस्तु को वे देख नहीं सकते उस पर वे विश्वास नहीं करेंगे। किन्तु यदि वे उसे देख सकें तो विश्वास कर लेंगे। कुछ लोग थोड़ा और आगे जाते हैं और कहते हैं कि उन्हें यदि इसका स्पर्श भी हो जाये तब भी वे उसपर प्रतीति कर लेंगे। एक साधारण परीक्षा से ही इस बात की भूल प्रकट हो जायेगी। तीन प्याले लीजिये और उनमें भिन्न-भिन्न तापमान का पानी डालिये, अति उष्ण, अति शीत और सम-शीतोष्ण। अब एक हाथ ठंडे पानी में डालिये और एक गर्म में; कुछ मिनटों तक हाथों को उसमें डूबा रहने दीजिये और तब दोनों हाथों को सम-शीतोष्ण पानी में डालिये; जो हाथ गर्म पानी में था उससे आपको प्रतीत होगा कि इस प्याले का पानी बहुत ठंडा है, और दूसरे हाथ से यह प्रतीत होगा कि यह पानी बहुत गर्म है। इससे यह प्रमाणित होता है कि इन्द्रियां सदा निःशंक होकर विश्वास करने योग्य नहीं होतीं। उनके यथार्थ होने का निर्णय बुद्धि द्वारा करना चाहिये। और यह बात जैसे स्थूल इन्द्रियों के विषय में होनी चाहिये वैसे ही भुवर्लोक और मनोलोक की इन्द्रियों के विषय में भी होनी चाहिये।

यदि किसी मनुष्य को आध्यात्मिक शक्तियों की इच्छा है तो उसे इनके विकास का प्रयत्न करना चाहिये; 'सभी बातों में वास्तविकता को पूर्ण रूप से ठीक ठीक जान लिया है' इसका विश्वास होने की श्रेणी तक पहुंचने में वर्षों ही लग जाते हैं। यह जानना कठिन है कि उसकी दिव्य दृष्टि का क्षेत्र कितना बड़ा है। केवल एक उदाहरण लीजिये— भुवर्लोक में दो हज़ार चार सौ एक प्रकार के भिन्न भिन्न भौतिक तत्व (Elemental essence) है; यदि मनुष्य अपनी उस दृष्टि के संबध में विश्वस्त होना और अपने कार्य को सुचारू रूप से एवं शीघ्र करना चाहता है तो उसे इन सबका अलग अलग भेद पहचानना और उनका उपयोग कब करना चाहिये, यह सीखना चाहिये। कार्य तो इन सब बातों को सीखे बिना भी किया जा सकता है। किंतु वह व्यर्थ ही जायेगा, जैसा कि किसी मनुष्य की उंगली को धोने के लिये पूरे बाल्टी का पानी उस पर उंडेल दिया जावे।

तौभी, हमें यह बताया गया है कि शक्ति के अपव्यय से हमें बचना चाहिये। शक्ति हमारा मूलधन है, और इसका हम अधिक से अधिक उपयोग कर सकते हैं। इसके अपव्यय के लिये भी हम उतने ही उत्तरदायी हैं, जितने इसे काम में न लेके व्यर्थ खोने के लिये।

श्री गुरुदेव के शिष्य के लिये यह कहना निरर्थक है कि "इस बात को तो मैं पहिले से ही जानता हूं;" ऐसी मनोवृत्ति से इन वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती। अपने ज्ञानवृद्धि के लिये हम सदा उत्सुक व उत्कंठित रहते हैं। किंतु यह उत्कंठा इसी लिये रहती है कि हम लोकसेवा के लिये अधिक

उपयोगी सिद्ध हों। यही महत्त्व की बात है, और जो काम हम करते हैं उसमें हमारा प्राप्त किया हुआ किसी भी विषय का ज्ञान वास्तव में कभी कभी निरर्थक नहीं होता। योग-विद्या के साधक की प्राप्त की हुई सब प्रकार की विद्यायें उसे उन सब बातों को देखने और समझने में सहायक होती हैं जो अन्यथा उस के लिये स्पष्ट नहीं हो सकती थीं। ऐसा कहा जाता है कि इस विकासक्रम के पूरा होने पर हम समस्त ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और अज्ञान से मुक्त हो जायेंगे। हमारे सब कार्यों का लक्ष्य उस ओर ही है। समय आने पर, उच्च कोटि के कामों को करने के लिये, हमें आश्चर्यजनक रूपसे सुशिक्षित होने की निश्चय ही आवश्यकता होगी। इस बीच में बुद्धिमत्ता यही है कि जो शक्ति हमें प्राप्त है उसका पूर्ण उपयोग करें, और जब तक श्री गुरुदेव हमें इस योग्य न समझें तब तक आध्यात्मिक शक्तियों के विकास की इच्छा ही न करें।

"यत्न करके बहुत शीघ्र ही उन्हे प्राप्त करने से उनके साथ बहुत सी विपत्तियाँ भी आती हैं। इनको प्राप्त करने वाला मनुष्य बहुधा भुवर्लोक के छली काम रूप देवों (Nature spirits) द्वारा पथभ्रष्ट कर दिया जाता है, अथवा मिथ्यागर्व में पड़ जाता है और सोचने लगता है कि उससे कोई भूल नहीं हो सकती। साथ ही जो समय और शक्ति इनके प्राप्त करने में व्यय होती है, वह तो निश्चय ही परोपकार के कार्यों में लगायी जा सकती है।"

लेडबीटर—ये छली कामरूप देवगण (deceitful Nature Spirits) जो कि नाना प्रकार के होते हैं, इस विषय में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनमें से अधिकांश बहुत ही छोटे-छोटे जीव हैं, और वे इतने बड़े-बड़े आदमियों

से अपनी आज्ञापालन करवाना एक बड़े मनोरंजन का विषय समझते हैं। बहुधा वे अपने को, झूठ-मूठ ही जूलियस सीज़र, नेपोलियन बोनापार्ट, (भारतवर्ष में ऋषि, मुनि, भिन्न २ देवी, देवता कोई महान् आत्मा बनकर) अथवा ऐसा ही कोई और महान् व्यक्ति जिसका नाम संयोग से वे सुन चुके हों, बता कर ऐसा करते हैं और यह उनके लिये एक बड़े मनोरंजन का विषय हो जाता है कि इतने बड़े-बड़े मनुष्य जो उनकी अपेक्षा विकास की अधिक उच्च श्रेणी पर हैं, उनके आदेश के अनुसार कार्य कर रहे हैं। इन बातों का समझना लोगों के लिये कठिन तो है, किन्तु इन सूक्ष्म दृश्यों को समझने के लिये तर्क और सामान्य बुद्धि से काम लेना चाहिये।

यदि आपको भुवर्लोक की कोई ध्वनि सुनाई पड़े, तो तुरन्त ही यह निर्णय मत कर लीजिये कि यह श्री गुरुदेव की वाणी अथवा किसी महान देवता की वाणी है। मृतात्मायें बहुधा अपना संदेशा भेजने और परामर्श देने की कोशिश करती हैं ? और कामरूपदेव भी लगातार अपनी छोटी-छोटी चालाकियां करते रहते हैं, अतः अधिकतर ध्वनियाँ इन्हीं दोनों में से किसी एक की होती हैं। अस्तु, ऐसी ध्वनि को शांतिपूर्वक सुन लीजिये। यह एक मनोरंजक घटना है, इसलिये नहीं कि आप इससे क्या प्राप्त कर सकते हैं, बल्कि इसलिये कि किसी बात में साधारणता से तनिक भी विशेषता का होना मनोरंजक होता ही है, और इसके विषय में भी प्रायः कुछ न कुछ सीखने को तो रहता ही है। किन्तु इस प्रकार के सम्वाद को पहिले से ही अस्वीकार मत कीजिये, क्योंकि ऐसा करना भी बुद्धिमानी नहीं है। मनुष्य किसी बात

को असम्भाव्य तो सोच सकता है, पर उसे असम्भव कहना उचित नहीं। उस दैवीवाणी को ध्यानपूर्वक सुनिये, किंतु यथेष्ट प्रमाण के विना उसका प्रभाव अपने व्यवहार पर मत पड़ने दीजिये। मनुष्य को अपना कार्य अपने युक्ति-युक्त विचारों के परिणामस्वरूप ही करना चाहिये, न कि किसी सर्वथा अपरिचित प्राणी के कथन से।

वहुत से व्यक्तियों ने ऐसी दैवीवाणियाँ सुनी हैं जो उनके विचार के अनुसार संसार का काया पलट कर देंगी। यद्यपि वे वातें वहुत वार ठीक भी होती हैं, तो भी उनमें कोई विशेषता नहीं रहती और उस शिक्षा का रूप भी कुछ उद्देश्यहीन और अनिश्चित सा ही होता है। जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, वहाँ तक तो वह शिक्षा प्रायः सीमित और संकुचित सिद्धांतों की अपेक्षा उन्नत ही होती है। वे वातें यद्यपि ब्रह्मविद्या एवं नवीन विचारधारा की प्रणाली पर ही कही गई होती हैं, तथापि उनमें सार वातों की जगह असार वातों की ही प्रधानता होती है। जिन मृत व्यक्तियों ने 'मृत्यु के पश्चात् जीवन' के कुछ विस्तृत सत्यों का अनुभव कर पाया है, वे उन सत्यों का प्रभाव उन पर भी डालना चाहते हैं जिन्हें वे पीछे स्थूललोक में छोड़ आये हैं। इसी सद्भावना से प्रेरित हो कर वहुधा वे इन आदेशों को दिया करते हैं। वे सोचते हैं कि यदि लोग इन उच्च अदर्शों को स्वीकार कर लें, तो संसार एक अधिक उन्नत स्थान हो जाये। ईसाइयों की 'दृष्टांत कथायें (Parable)' नामक पुस्तक में वर्णित डाइव्स नामक मृत व्यक्ति के उस सिद्धांत के अनुसार ही वे भी मनुष्यों के मन को प्रभावित करना चाहते हैं, कि यदि कोई मृत व्यक्ति आकर

लोगों को दुष्कर्मों के अनिवार्य फल के विषय में बता दे, तो लोग अवश्य पश्चात्ताप करेंगे। किन्तु ये मृतात्मायें डाइव्स को दिये गये अब्राहम के उस पांडित्यपूर्ण उत्तर को सचमुच ही भूल जाती हैं कि "यदि लोग हज़रत मूसा (यूहूदियों के पैगम्बर) एवं दूसरे पैगम्बरों के ही उपदेश को नहीं सुनते, तो फिर चाहे कोई भी मृतात्मा उठ कर क्यों न आ जाये, वे उसकी भी न सुनेंगे।"

ऐसा व्यक्ति मरने के पश्चात् यह भूल जाता है कि जब वह स्वयं जीवित था तब उसने भी प्रेतात्माओं के संदेश पर कोई ध्यान नहीं दिया था। अस्तु, यदि संयोग से कभी हमारे सामने ऐसा अवसर आये—और जिसका आना निश्चित है अगर हमारे में थोड़ी बहुत भी सूक्ष्म दृष्टि जाग्रत हो जाये —तो हमें अनावश्यक उत्तेजना दिखाये बिना ही आदर पूर्वक उनका स्वागत करना चाहिये। जिन्हें ऐसे संदेश प्राप्त होते हैं वे सोचने लगते हैं कि वे पृथिवी पर क्रांति ला रहे हैं। किन्तु ऐसा करना सुगम नहीं। ऐसे संदेशों को सुनने पर यदि आवश्यक हो तो हम उनकी सत्यता और प्रामाणिकता की जांच करने का उपाय करते हैं। बहुत से लोगों को तुरन्त ही ऐसा कोई साधन नहीं मिलता, किन्तु, यदि सूक्ष्मलोकों के अपने इन अनुभवों को वे स्पष्ट सामान्य-बुद्धि द्वारा जाचें तो अधिकांश बातें सरल हो जायेंगी। ऐसे अवसरों पर मनुष्य दो प्रकार की मनोवृत्तियों से काम लेते हैं, या तो वे इन बातों को आँख मूंद कर मान लेते हैं अथवा इनका तिरस्कार करके, इन्हें हँस के उड़ा देते हैं। ये दोनो ही सीमायें मूर्खतापूर्ण हैं। जिसने इन

बातों का अध्ययन किया है वह जानता है कि ऐसे संदेश ऐसे ही लोगों द्वारा प्राप्त होते हैं जो हमें कोई भी नवीन या यथार्थ बातें नहीं बतला सकते। एक मृतात्मा, यदि उसमें पर्याप्त बुद्धि हो तो, कुछ ऐसी बातें सीख सकता है जिन्हें वह अपने जीवन-काल में नहीं सीख सका था। किन्तु लग-भग सभी मृत व्यक्ति इस अवसर की उपेक्षा ही करते हैं और स्थूल लोक के अपने जीवन के समान ही यहाँ भी अपनी संकीर्णता और पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति (Prejudices) से संतुष्ट रहते हैं।

सूक्ष्मलोकों के अनुभव इस समय वृद्धि पर हैं, क्योंकि श्री जगद्गुरु के आगमन का समय निकट आ रहा है और यह सत्य सभी लोकों में विस्तृत रूप से ज्ञात है। थिऑसोफिकल क्षेत्र के बाहर संसार के अन्य स्थानों पर भी श्री जगद्गुरु के आगमन की एक प्रबल प्रतीक्षा है। अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो उनके आगमन की निकटता का अनुभव करते हैं। फलतः इस प्रकार के संदेशों के प्राप्त करने की संभावना पहिले से अधिक हो गई है। लोग अपनी प्रतीक्षा की मनोवृत्तिद्वारा मानों उन सन्देशों को आमंत्रित करते हैं। इसलिये यह सम्भव है कि श्री जगद्गुरु के आगमन-संबंधी अनेक झूठे-सच्चे समाचार फैल जायें। बहुत समय पहिले उन्होंने स्वयं भी एक बार कहा था कि आगे चल कर संसार में बहुत से झूठे क्राइस्ट (अवतार) प्रकट होंगे। साधारण ईसाई संभवतः झूठे क्राईस्ट (अवतार) का अर्थ क्राइस्ट के विपक्षी लोगों (शैतानो) से लेते हैं, जो जानबूझ कर दुनिया को धोखा दिया करते हैं। अपने को अवतार कह कर प्रकट होने

वाले व्यक्तियों में अधिकांश भले उद्देश्य वाले ही होंगे, जिन्होंने यह विश्वास मन में जमा लिया होगा कि उनमें दैवी प्रादुर्भाव हुआ है। उनकी यह नेकनीयती ही उन्हें ख़तरनाक बना देने वाली होगी, क्योंकि लोग उनके निष्कपट उत्साह को देखकर उनके प्रभाव में शीघ्र आ जायेंगे।

क्राइष्ट के इन झूठे अवतारों के प्रति एक थिऑसोफिष्ट की मनोवृत्ति का वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है: "यह एक शोचनीय बात है कि लोग किसी के कहने से किसी अत्यन्त साधारण मनुष्य को जगद्गुरु मानने के भ्रम में पड़ जाते हैं।" तथापि, यदि उसके उपदेश उत्तम हों और लोग उनका अनुसरण भली प्रकार सच्चे हृदय से करें तो उनका जीवन सुधर जायगा। कुछ विशेष विषयों पर उनके विचार मिथ्या होने के कारण उनको अपने उत्तम जीवन के कर्मों की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आयेगी। यदि वे सत्य को स्पष्ट जान लें तो अधिक उत्तम होगा, किन्तु हमें यह भी भूल नहीं करनी चाहिये कि जो लोग किसी एक महत्वपूर्ण सत्य के संबन्ध मे भूल करते हैं, उनकी सभी बातें भूल की हैं—क्योंकि बात ऐसी नहीं होती।

तौभी मैं आशा करता हूं कि हम सब जो ब्रह्मविद्या के विद्यार्थी हैं इस विशेष भूल से मुक्त रहेंगे, क्योंकि हम श्री जगद्गुरु के आगमन की आशा जिस स्पष्टता एवं निश्चय के साथ कर रहे हैं, वैसी अधिकांश संस्थायें नहीं करतीं। जैसे-जैसे समय निकट आता है, वैसे-वैसे हमें चाहिये कि हम किसी भी बात की संभावना को अस्वीकार न करें और

अपनी विवेक से काम लेते हुये अधिकाधिक सामान्य बुद्धि का उपयोग करें। हम गैमेलियल (Gamaliel) की यह मनोवृत्ति ग्रहण कर सकते हैं कि "यदि यह परामर्श और कार्य मनुष्य का है तो यह निष्फल होकर लुप्त हो जायेगा, और यदि यह ईश्वरीय है तो तुम इसे टाल नहीं सकते, चाहे संयोगवश तुम उसका विरोध ही क्यों न करो।" अस्तु, हमें उचित है कि सत्य का कोई भी अंश चाहे किसी भी स्रोत से प्राप्त हो, हम उसे ग्रहण कर लें।

जीवन्मुक्त महर्षिगण बहुत से लोगों पर अपना शुभ प्रभाव डालते हैं और यह परवाह नहीं करते कि जिन व्यक्तियों का उन्होंने अपना साधन स्वरूप उपयोग किया है वे उन्हें जानते हैं या नहीं। अतः हमें यह जानने को प्रस्तुत रहना चाहिये कि थिऑसोफ़िकल क्षेत्र से बाहर अन्य शक्तियां भी इसी महान् ध्येय के लिये कार्य कर रही हैं। और यद्यपि हम अपनी प्रणालि का अवलंबन करते हुये दृढ़तापूर्वक, निष्कपटता से, और अनुरक्तिपूर्वक अपनी सोसाइटी की सेवा करने को तत्पर हैं, क्योंकि हमारे लिये यही स्पष्ट मार्ग है, तथापि हमें सावधान रहना चाहिये कि अन्य रूपों में प्रकट होने वाली और ठीक इसी सामान्य लक्ष्य को रखने वाली अन्य शक्तियों की हम अवहेलना अथवा विरोध न करें; साथ ही यह भी आशा न करें कि यह अभिव्यक्तियां सर्वथा पवित्र और पूर्ण ही होंगी। भविष्य में श्री जगद्गुरु के आगमन तक अनेक प्रकार के उपायों द्वारा आध्यात्मिक शक्ति प्रवाहित होती रहेगी। महान ऋषि-संघ (Hierarchy) स्वयं भी संसार पर विस्तृत प्रभाव डाल रहा है। किन्तु जो मनुष्य सांसारिक विषयों में पूर्णतया लिप्त हैं उन्हें

यह प्रभाव कदाचित् ही स्पर्श कर सके। जिन लोगों की चेतना शक्ति सूक्ष्म है उनके लिये तो इसका बहुत मूल्य है। जो लोग इससे लाभ उठाने को तैयार हैं उनके लिये तो इसका अर्थ एक नवयुग और नवीन स्वर्ग का निर्माण करना होगा।

यह निश्चित है कि इस समय असाधारण घटनायें घटित होंगी। 'लाइट ऑफ़ ऐसिया' ('एशिया की ज्योति' Light of Asia) नामक पुस्तक में, जो बौद्ध ग्रन्थों का यथार्थ प्रतिलेखन है भगवान् बुद्ध के जीवन का वर्णन करते हुये यह बारम्बार बताया गया है कि मनुष्यों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अन्य प्राणियों ने भी उनके आगमन को किस प्रकार जाना और उसके लिये हर्ष मनाया. और किस प्रकार देव, यक्ष अप्सरादि जीवों ने उनके आकर्षनीय अद्भुत प्रभाव का चारों तरफ अनुभव किया और विशेष विशेष महान् अवसरों पर, जैसे उनके जन्म के समय, उनके बुद्धत्व प्राप्त करने के समय और उनके प्रथम उपदेश के समय वहां एकत्रित हुये। इस विचार में बहुत कुछ सत्यता है। जब कभी उच्च शक्तियों का कोई महान प्रकाश होने को होता है, तो विकासक्रम की अन्य शैलियों के प्राणी जो हम से अधिक सचेतन हैं, इसे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक अनुभव करते हैं, क्योंकि मनुष्यों ने अपने आप को अधिकतर नीचे के मनस् (Lower mind) का विकास करने में ही लगा रखा है। उन्हों ने वस्तुओं की अदृश्य पहलुओं की बहुत काल से उपेक्षा की है और संपूर्णतया अपने आप में ही इतने केंद्रित हो रहे हैं कि आज वे अपने से नीची श्रेणियों के कुछ प्राणियों की अपेक्षा भी प्रायः कम सचेतन हैं। मैं ऐसे कुत्तों और बिल्लियों को भी जानता हूं जो उच्च

प्रभावों के विषय में मनुष्य की अपेक्षा अधिक सचेतन थे—यह बात नहीं है कि वे उनसे कुछ लाभ उठा सकते थे, किंतु जहां मनुष्य वर्ग उन प्रभावों से सर्वथा अनभिज्ञ था वहां वे उनसे अवगत थे।

जब भगवान् मैत्रेय का आगमन होगा तो इसमें संदेह नहीं कि जो व्यक्ति उनके लिये तैयारी कर रहे हैं, उनके प्रयोग में लाये हुये समस्त कार्यों को वे संभाल कर सफल बनायेंगे। अतः उनके आगमन के समय जगत् की जो स्थिति होगी, उससे सर्वथा भिन्न स्थिति संभवतः उनके प्रस्थान के समय हो जायेगी। वे केवल अपने धर्म का ही प्रचार करेंगे, वरन् संभव है कि उनकी शिक्षाओं के फलस्वरूप अनेक प्रकार के सुधार भी जगत् में चालू हो जायें। यह बात निश्चयपूर्वक तो नहीं कही जा सकती, क्योंकि सम्भव है अब की बार भी उनका पहिले की ही भांति विरोध हो।

मेरे विचार में इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती कि श्री जगद्गुरु समस्त जगत् को अपना अनुयायी बना लेंगे। संसार में सर्व साधारण की श्रद्धा पर उनके निर्मल सिद्धांतों की विजय होने से पूर्व अनेक शिक्षकों को आना पड़ेगा। दो हज़ार वर्ष पूर्व जब वे ईसा के रूप में अवतीर्ण हुये थे, तब लोगों ने उनकी बात कठिनता से सुनी थी। श्री जगद्गुरु और उनके साथियों का जीवन चाहे जैसा भी हो पर सुखपूर्ण नहीं हो सकता। संसार के मनुष्य खोटी चर्चाओं के गढ़ने और फैलाने में सदा प्रस्तुत रहते हैं। अतः हमें यदि अधिक नहीं तो इस प्रकार की अनेक छोटी-छोटी दुःखमूलक और विघ्नकारी बातों के लिये तो

अवश्य तैयार रहना चाहिये। मनुष्यों के अनेक प्रकार के स्थित स्वार्थों (Vested interests) में, श्री जगद्गुरु द्वारा बताये हुये परिवर्तन, उन्हें अवश्य ही अरुचिकर लगेंगे। इन्ही स्थायी स्वार्थों ने पिछली बार भी केवल तीन वर्ष उपदेश देने के पश्चात् ही उनकी हत्या कर डाली थी। इस बार क्या होगा यह हम नहीं जान सकते, किंतु हम आशा करते हैं कि प्रत्येक देश में कुछ ऐसे व्यक्तियों की संस्था अवश्य रहेगीं जिससे इस बार उनका हमारे मध्य में तीन वर्ष से अधिक ठहर कर कार्य करना सरल हो। पूर्व के तारे के संघ (The order of the Star in the East) नामक संस्था ने उनकी शिक्षा के अभिप्राय को पूर्णतया जानते हुये और यह समझते हुये कि उनकी शिक्षा-प्रणाली क्या होगी, उनके लिये तैयारी करने का एक निश्चित कार्य हाथ में लिया है। संभव है कि और भी अनेक लोग या संस्थायें इस कार्य को करने के लिये प्रेरित हुई हों, किन्तु उनके पास कदाचित् इन बातों को जानने के लिये वह साधन न हों जो हमें प्राप्त हैं। हमें आशा है कि हमारी सेवाओं के कारण पहिले असंभव लगने वाली बातें भी अब संभव हो जायेंगी। हम केवल आशा कर सकते हैं, कुछ कह नहीं सकते; हम तो केवल शक्ति भर प्रयत्न कर सकते हैं।

जिनके प्रारब्ध में प्रेम के मूर्तिमान स्वरूप भगवान् श्री जगत्गुरु के साथ कार्य करने का सौभाग्य बदा है, वे स्वतः ही अब जन्म ले रहे हैं। इसीलिये हम बहुधा असाधारण बालकों के जन्म लेने की बातें सुना करते हैं। उन्हें अब जन्म लेना ही चाहिये, ताकि श्री जगद्गुरु के

अवतीर्ण होने के समय वे अपनी पूर्ण युवावस्था में हों। ऐसे वालक संभवतः अन्य वालकों की अपेक्षा कुछ असाधारण प्रतीत होंगे। अस्तु, यदि आप कुछ बालकों को अपने पूर्व जन्म की स्मृति होने की अथवा उनके किसी आध्यात्मिक अनुभव की बात सुनें तो विस्मित न हों। जिस विशिष्ट समय में हम रह रहे हैं उसमें यह सब बातें सर्वथा प्राकृतिक और प्रत्याशित हैं। एक बार श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कुछ आदेश दिये थे कि यदि ऐसी घटनायें किसी के सामने आयें तो उन्हें कैसा वर्ताव करना चाहिये। उन्होंने कहा था कि "ऐसी बातों के लिये उत्सुकता प्रदर्शित मत कीजिये, और ऐसे वालकों द्वारा वर्णित पूर्व स्मृति की बातों को तुरन्त ही मत मान लीजिये, क्योंकि पूर्व जन्म में वे कौन थे इसे बहुत ही थोड़े लोग जानते हैं। ध्यान रखिये कि वालकों की चेतनाशक्ति असाधारण तीव्र होती है। अतः उनके साथ अत्यन्त नम्रता और सौजन्यतापूर्वक वर्ताव करना चाहिये। उन्हें कभी कोई कठोर वचन नहीं कहना चाहिये, और न इस प्रकार का कोई भाव ही प्रकट करना-चाहिये। आपको उन्हें कभी भयभीत या चकित भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे अन्य वालकों की अपेक्षा सब बातों का अनुभव बहुत सूक्ष्मता से करते हैं। आपको उन्हें भीड़ से और अवांछनीय व्यक्तियों की संगति से भी बचाना चाहिये, उनका परिचय बहुत थोड़े लोगों से होने देना चाहिये और उन्हें अनुकूल आकर्षणशक्ति के वातावरण में रखना चाहिये, जिसमें बार बार परिवर्तन भी न किया जाये। उन्हें स्कूल न भेज कर विशेष प्रेमपूर्ण घरेलू वातावरण में रखना चाहिये।"

ऐनी बेसेंट—यहाँ श्री गुरुदेव एक और कारण बतलाते हैं कि क्यों मनुष्य को आध्यात्मिक शक्तियों (यौगिक सिद्धियों) को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। जो समय और शक्ति इन्हें प्राप्त करने में व्यय होती है, उसे लोक सेवा के कार्य में लगाया जा सकता है। ध्यान दीजिये कि किस प्रकार श्री गुरुदेव के परामर्श का लक्ष्य लगातार सेवा करना एवं स्वार्थ के प्रत्येक रूप से मुक्ति पाना ही है। अपने समय और शक्ति को अपने लिये आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करने में व्यय करने के स्थान पर उन्हें लोक सेवा के कार्य में लगाइये। यदि श्री गुरुदेव यह देखते हैं कि जो शक्ति आपके पास पहिले से है, उसे आप दूसरों की सेवा के उपयोग में ही लगाते हैं, तो आपको अधिक शक्ति भी सौंपी जा सकती है, क्योंकि तब उन्हें निश्चय हो जाता है कि आप उसका भी निःस्वार्थ उपयोग ही करेंगे; ऐसा होने पर ही आप गुरुदेव की सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यदि आप इमान्दारी के साथ यह कह सकते हैं कि आप अपनी शक्तियों का पूर्ण सदुपयोग कर रहे हैं, तो निश्चय जानिये कि आप नूतन शक्तियों को प्राप्त करने के अधिकारी बन चुके हैं। किन्तु बहुत थोड़े व्यक्ति हैं जो ऐसा कह सकते हैं, और यदि आप उनमें से नहीं हैं, तो वैसे ही बन जाने के उद्योग में लग जाइये।

ईसाइयों की दृष्टांत-कथाओं में टेलेंट (Talent गुण अथवा धन की तोल) की कहानी का यही अर्थ है। चाहे आप टेलेंट शब्द का वर्तमान अर्थ "गुण" से लीजिये, अथवा इसे प्राचीन काल की एक धन की तोल समझिये,

इस कहानी में दोनों ही अर्थ समान रूप से लागू होते हैं। एक मनुष्य अपने नौकरों को कुछ धन सौंपकर कहीं यात्रा करने के लिये गया। एक नौकर को उसने पाँच मुद्रायें सौंपी, दूसरे को दो, और तीसरे को एक। वापिस लौटने पर उनके स्वामी ने उनसे पूछा कि उन्होंने उस धन का उपयोग किस प्रकार किया। जिन नौकरों को पांच और दो मुद्रायें मिली थीं, उन्होंने उनसे व्यापार किया था, अतः उन्हें व्याज सहित लौटाने में वे समर्थ हुये। किन्तु जिस नौकर को एक मुद्रा मिली थी, उसने उसे कहीं छिपा दिया था और उसे लाकर जैसा का तैसा लौटा दिया। तब उसके स्वामी ने उस मुद्रा को उससे ले लिया, परन्तु दूसरे सेवकों को, जो इन छोटी बातों में विश्वसपात्र सिद्ध हुए उन्हें और भी अनेक बड़े कार्यों का शाशन अधिकार दे दिया और कहा कि "जिसके पास है उसे और भी दिया जायेगा, और तब उसके पास उसकी प्रचुरता हो जायेगी; किन्तु जिसके पास नहीं है उससे वह भी ले लिया जायगा जो पहिले उसके पास है।" इस बात में विरोधाभास प्रतीत होता है, किन्तु इन शब्दों का गूढ़ अर्थ स्पष्ट है। जो अपनी शक्तियों का पूर्ण उपयोग करता है उसे और भी अधिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, और जो उन्हें उपयोग में नहीं लाता—अतः जिसका आध्यात्मिक दृष्टि से उन पर अधिकार भी नहीं होता—वह उन्हें उपयोग करने की आशा भी खो देगा, क्योंकि बिना अभ्यास के वे सभी शक्तियाँ क्षय हो जायेंगी।

किसी को इस बात की शिकायत नहीं होनी चाहिये कि श्री गुरुदेव द्वारा उसे वे सब सहायतायें नहीं मिलतीं जिनका

अधिकारी वह अपने को समझता है। इन महान् गुरुदेवों के सम्पर्क में आने की इच्छा आप केवल एक ही उपाय-द्वारा पूर्ण कर सकते हैं, और वह है मनुष्य-जाति के लिये उपयोगी सिद्ध होना। ये गुरुदेव केवल इसी स्वत्व को स्वीकार करते हैं। वे किसी व्यक्ति की योग्यता को नहीं वरन् उसकी उपयोगिता को देखते हैं। इस जन्म में मैं श्री गुरुदेव के सम्पर्क में उससमय आई जब कि मैं उनके अस्तित्व को जानती तक न थी, अतः यह स्पष्ट है कि मुझे उन तक पहुँचने का कोई विचार ही नहीं था। यह सत्य है कि अनेक जन्मों में मैं उनकी शिष्य रही हूँ। किंतु इस कारण से वे मेरे सामने प्रकट नहीं हुये। वे इसलिये प्रकट हुये कि मैं ग़रीब, दुखी, और दलित जनों की सहायता का भरपूर उद्योग कर रही थी, और क्योंकि मेरे द्वारा उनकी शक्ति और भी सहस्रों मनुष्यों में वितरित होती थी, अतः मुझे और भी शक्ति प्रदान करना उनके लिये यथार्थ ही था।

अतः अपने ध्यान के समय श्री गुरुदेव के सामने उनके प्रकट होने के लिये रोने चिल्लाने के स्थान पर अपने नगर या गाँव में जाकर देखिये कि वहाँ ऐसा क्या लोकोपकारी काम है जिसे करना चाहिये और उसे जाकर कीजिये। श्री गुरुदेव के लिये इस बात का कोई महत्व नहीं कि जिसे वे अपना साधन स्वरूप उपयोग कर रहे हैं वह उन्हें जानता है या नहीं। संसार में ऐसे अनेकों ही सहायक फैले हुए हैं जो श्री गुरुदेव द्वारा प्रेरित होकर और सहायता पाकर कार्य कर रहे हैं। थिऑसोफ़िकल सोसायटी से बाहर ऐसे अनेक व्यक्तियों को प्रेरणा मिली है।

"आपके विकास के साथ २ वे (सिद्धियां) अवश्य प्राप्त हो जायेंगी; और यदि गुरुदेव देखेंगे कि उनका शीघ्र प्राप्त करना तुम्हारे लिये उपयोगी सिद्ध होगा, तो वे उन्हें जाग्रत करने का निरापद उपाय भी तुम्हें बता देंगे। तब तक तुम्हारा उनसे रहित रहना ही उत्तम होगा।"

लेडबीटर—लोग बहुधा कहा करते हैं कि "मैंने इन अद्भुत शक्तियों के विषय में सुना है जो मनुष्य को बहुत अधिक उपयोगी बना देती हैं, और क्योंकि मैं भी उपयोगी बनना चाहता हूं, अतः मैं उन्हें प्राप्त करना चाहूँगा।" इसमें कुछ बुराई नहीं, केवल यहां पर दिये हुये परामर्श के अनुसार चलना अधिक उत्तम होगा और उनके स्वतः ही प्राप्त होने तक अथवा उन्हें जाग्रत करने का उपाय श्री गुरुदेव के द्वारा बताये जाने तक, प्रतीक्षा करनी चाहिये। क्या श्री गुरुदेव के ऐसा करने की संभावना है? हाँ, जब कि आप इसके अधिकारी होजायेंगे। मेरा अपना अनुभव भी यही बताता है। मुझमें ये कोई शक्तियां नहीं थीं; और न मैं उनके लिये विचार ही करता था, क्योंकि अपने कार्य के प्रारंभ में हम यह सोचते थे कि ये शक्तियां उन्हीं में जाग्रत की जा सकती हैं जिन्हें कुछ अंशों में जन्म से ही आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो, और मेरे में यह नहीं थीं। तौभी एक दिन जब श्री गुरुदेव अडियार पधारे तो उन्होंने मुझे इस दिशा में संकेत किया; उन्होंने मुझे एक विशेष प्रकार से ध्यान करने की अनुमति दी और कहा कि "मैं समझता हूँ कि इस उपाय से तुम्हें लाभ होगा;" मैंने प्रयत्न किया और लाभ भी हुआ। जो लोग श्री गुरुदेव के लिये कार्य कर रहे हैं, उन्हें भी उपयुक्त समय आने पर ऐसा ही कहा जायेगा। हम इस बात को सर्वथा निश्चित मान

सकते हैं। वे अपनी इच्छा किस रूप में प्रकट करेंगे, यह तो पहिले से नहीं कहा जा सकता, किंतु किसी न किसी रूप में वे ऐसा करेंगे अवश्य।

अपने को इसका पात्र बनाने का सर्वोत्तम उपाय निःसन्देह यही है कि जो शक्ति आपको पहिले से ही प्राप्त है उसका यथासंभव पूर्ण उपयोग सेवाकार्यों में ही करें। जो भी मनुष्य स्वार्थ कामना से रहित होकर ऐसा करते हैं, उन्हें और भी नूतन शक्तियां प्राप्त होनी सम्भव है।

यहां फिर टेलेंट (गुण) की वही पुरानी दृष्टांतकथा आती है। आपको याद होगा कि जिन्होंने अपने गुणों (Talents) का सदुपयोग किया था, वे उन्हें फिर भी अपने पास रख सके थे एवं उनके स्वामी ने उन्हें अन्य महत्वपूर्ण कार्यों का भार भी सौंप दिया था। उन्हें कहा गया था कि 'तुम इन थोड़ी सी वस्तुओं के सम्बन्ध में विश्वसनीय प्रमाणित हुये हो, अतः मैं तुम्हें और भी अनेक वस्तुओं का अधिकारी बना दूंगा, अब तुम अपने स्वामी के आनन्द में प्रवेश करो।" ईश्वरीय आनन्द या गुरुदेवों के चरण का आनन्द क्या है उसे कम लोग सोचने की चेष्टा करते हैं। यह आनंद कोई अनिश्चित सुख या स्वर्ग का प्रवेश नहीं है। सृष्टि का निर्माण करना प्रभु के एक आनन्द का विषय है; ग्रीक रहस्य वाद में (ग्रीक देवता) बख़ुस (Bacchus) की एवं हिन्दुओं में श्रीकृष्ण की यह एक लीला कही गई है। परमात्मा ने विकासक्रम की इस महत् योजना को संचालित करने का निश्चय किया। ब्रह्मांड पर अपने प्रेम की वर्षा करते हुये इसे संचालन करना उनके एक आनन्द का विषय है; यदि आप प्रभु के इस आनंद में सम्मिलित होना चाहते

हैं तो इस कार्य में भाग लेकर और फिर उसमें जो आनंद प्राप्त हो उसे ग्रहण कीजिये। जो शक्ति हमें प्राप्त हैं उसका यदि हम पूर्ण उपयोग नहीं करते तो श्री-गुरुदेव हमें अन्य शक्तियों की प्राप्ति में सहायता नहीं देंगे। तब तक वे प्रतीक्षा करेंगे जब तक वे यह न देख लेंगे कि हम अपनी प्राप्त शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर रहे हैं। लोग सदा इस बात को समझते नहीं। 'वे अदृष्य सहायक' (invisible helpers) बनना चाहते हैं; हम उन्हें सदा यही उत्तर देते हैं कि "आपको पहिले 'दृश्य सहायक' बनना चाहिये; यदि स्थूललोक में जहाँ आपको पूर्ण चेतना प्राप्त है, आपका जीवन सेवामय है, तो निश्चय ही अन्य लोकों में भी आप उपयोगी सिद्ध होंगे।"

———
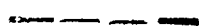
सोलहवां परिच्छेद

छोटी छोटी इच्छायें

"दैनिक जीवन की जो छोटी छोटी सामान्य इच्छायें होती हैं, तुम्हें उनमें से भी कुछ के प्रति सावधान रहना चाहिये। कभी भी अपना बड़प्पन दिखाने की अथवा चतुर प्रकट होने की इच्छा मत करो।"

लेडबीटर—बहुत से मनुष्य अपनी अधिक से अधिक सुविधाओं के लिये चतुर प्रकट होना चाहते हैं। किंतु जिस मनुष्य ने श्री गुरुदेव का साक्षात्कार कर लिया है उसे अपने बड़प्पन का कभी विचार ही नहीं आसकता। जब वह श्री गुरुदेव की महानता को देख लेता है तो तत्क्षण ही यह अनुभव करने लगता है कि उसका तेज तो उस सूर्य की तुलना में एक छोटे से दीपक के समान है। अतः इस प्रकार का विचार उसे आता ही नहीं, और पहिले यदि आता भी था तो लुप्त हो जाता है। जिस मनुष्य ने अभी उच्च कोटि के प्रकाश को देखा ही नहीं और जिसके पास तुलना करने योग्य कोई साधन ही नहीं, वही यह सोच सकता है कि मेरे प्रकाश द्वारा संसार पर गहरा प्रभाव पड़ने वाला है।

तथापि श्री गुरुदेव की सेवा में हम को अपने प्रत्येक गुण का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिये। जो भी प्रकाश हमें प्राप्त हुआ है, वह किसी आड़ में छिपा कर रखने के लिये नहीं है। यह बात नहीं है कि केवल श्री गुरुदेव के उस

बृहद् मशाल की ज्योति ही संसार में पर्याप्त है, इन छोटे छोटे दीपकों को भी किनारे पर झिलमिलाने दीजिये। उन मशालों का प्रकाश तो इतना प्रखर होता है कि कुछ लोग तो उनकी ओर देखने से ही चौंधिया जाते हैं और कुछ उस ओर दृष्टिपात करते ही नहीं। अतः उनके अस्तित्व से ही अनभिज्ञ रहते हैं। ऐसे लोगों का चित्त उन्हीं छोटे छोटे दीपकों की ओर आकर्षित हो सकता है जो उनके दृष्टिगम्य हों। ऐसे अनेक मनुष्य हो सकते हैं जिनकी सहायता हमीं कर सकते हैं और जो अभी तक महापुरुषों की सहायता प्राप्त करने योग्य नहीं हुये हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य का अपना अपना स्थान अवश्य होता है, किन्तु कभी भी चमत्कार दिखलाने के लिये चमत्कारी बनने की इच्छा मत करो यह मूर्खता होगी।

"बोलने की इच्छा मत रक्खो। थोड़ा बोलना अच्छा है; मौन रहना तो उससे भी अच्छा है, जब तक तुम्हे यह निश्चय न हो जाये कि जो कुछ तुम कहना चाहते हो वह सत्य, प्रिय, और हितकर है। बोलने से पहिले सावधान होकर सोच लो कि तुम्हारे कथन में उपरोक्त तीनो गुण हैं या नहीं, यदि नहीं हैं तो उस बात को मत कहो।"

ऐनी बेसेंट—जिन मनुष्यों की निरन्तर बातें करने की इच्छा रहती है, उनके पास विचारपूर्ण वार्तालाप करने के लिये कोई विषय तो सदा रहता नहीं, अतः वे निरर्थक बातें ही करते रहते हैं और इस प्रकार जगत् में प्रवाहित दारुण मिथ्या भाषण की स्रोत की वृद्धि करते है! इस प्रकार वे लोग जो वाणी पर अपना संयम न रखकर स्वयं वाणी के वश में हो जाते हैं, एक असीम हानि पहुंचाते हैं। तब उस शिक्षा की याद आती है जो श्री गुरुदेव के मुख से मैंने

बहुधा सुनी है;" बोलने से पहिले सोच लीजिये कि जो कुछ आप कहने जा रहे हैं वह सत्य, प्रिय, और हितकर है या नहीं, और यदि उस कथन में यह तीनों गुण न हों तो उसे मत कहिये। इससे आपके वार्तालाप की गति मन्द बन जायेगी और धीरे-धीरे आप मित-भाषी बन जायेंगे जो एक श्रेष्ठ गुण है।

वातूनी मनुष्य अपनी उन शक्तियों को वृथा ही नष्ट कर देते हैं जिन्हे उपयोगी कार्यों में लगाना चाहिये। अधिक बातें करने वाला मनुष्य प्रायः ही अच्छा कार्यकर्त्ता नहीं होता। कदाचित् आप सोचें कि बोलने के संबंध में ये सब बातें स्वयं मुझपर ही घटित हो सकती हैं, क्योंकि मैं लगातार भाषण देती रहती हूं। किन्तु मैं अपने कार्यक्षेत्र के अतिरिक्त कभी अधिक नहीं बोलती; यहां तक कि मैंने छोटे-छोटे विषयों पर बातें करने की तो क्षमता ही खो दी है जिससे कि बहुधा लोग मुझ में मौन रहने का दोषारोपण करते हैं। पश्चिमीय देशों में तो मुझे बहुधा अपने को बोलने के लिये बाध्य करना पड़ता था, क्योंकि वहां मौन-वृत्ति को बहुधा रूखापन, अभिमान, अथवा सर्वप्रिय बनने की अनिच्छा समझ लेने की भूल की जाती है। अतः स्वभावतः ही 'यदि मेरे पास बोलने के लिये कोई निश्चित या उपयोगी विषय न हो तो अधिक बातें करना मेरे लिये सहज नहीं होता। जब आपके पास बोलने का कोई उत्तम कारण हो, कहने योग्य कोई ऐसा विषय हो जो महत्व का हो, तो अवश्य बोलिये, क्योंकि ऐसे भाषण पर प्रतिबंध नहीं है; बन्द तो निरर्थक वार्तालाप ही होना चाहिये। प्रत्येक निर्थक शब्द मानों श्री गुरूदेव से पृथक

कर देने वाली दीवार में चुनी जाने वाली एक एक ईंट के समान है; और जो उन तक पहुँचना चाहते हैं, उन्हें इसपर गम्भीर विचार करना चहिये।

वहुत बोलने वाला व्यक्ति कभी सत्यवादी नहीं होसकता। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि वह जानबूझ कर अथवा यथेच्छा से असत्यवादी बनता है। किन्तु उसका कथन सदा सर्वथा ठीक नहीं हो सकता, और जो सर्वथा ठीक न हो वही असत्य है। इससे बुरी बात कदाचित् ही कोई होगी कि आप के चारो ओर का वातावरण इस प्रकार की मिथ्या बातों से उत्पन्न असत्यतापूर्ण हो। उदाहरण के लिये; मुझे वहुधा ऐसे पत्र मिला करते हैं जिनमें शब्दों का तो बाहुल्य होता है किन्तु वास्तविकता का केवल अल्पांश ही होता है। परन्तु जीवन की सभी सामान्य बातों में अत्युक्तियों को पृथक करना हम सीख जाते हैं; अस्तु जब कभी मुझे ऐसा पत्र मिलता है जिसमें दूसरों के विरुद्ध बातें लिखी हों—और ऐसे पत्र अनेकों ही मिलते रहते हैं—तो मैं उस पत्र की सत्यता का निर्णय अधिक करके पत्र लेखक के चरित्र की जानकारी द्वारा एवं पत्र लिखते समय उसकी क्या भावना रही होगी इसकी कल्पना करके ही किया करता हूँ।

मनु ने कहा है कि जिसने वाणी को वश में कर लिया उसने सब कुछ जीत लिया। एक ईसाई शिक्षक ने कहा है कि "जिह्वा एक छोटा सा अंग है, किन्तु यह बड़ी बड़ी [illegible] बघारती है। देखो, थोड़ी सी अग्नि कितने बड़े बड़े [illegible]यों को जला देती है! यह वाणी एक अग्नि है, यह बुराइयों की खान है, यह हमारे सब अंगों में से ऐसा अंग

है जो सारे शरीर को कलुषित कर देती है। वाणी का निग्रह करना अपनी निम्न प्रकृति का निग्रह करना है। मनुष्यों के छोटे-छोटे कष्ट उनके वृथा बकवाद के ही परिणाम होते हैं जो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में आते हैं। छोटी-छोटी बीमारियाँ, सिर दर्द, अस्वस्थता और उदासपन इत्यादि इसी कारण उत्पन्न होते हैं। जिन लोगों को ये कष्ट हों, वे यदि मौन वृत्ति ग्रहण करना सीख लें तो उनके स्वास्थ्य में उन्नति होगी। कुछ तो इस कारण कि बहुत बोलने से जो उनकी नाड़ियों की शक्ति (Nerve energy) क्षीण होती है वह बंद हो जायेगी और कुछ इस कारण कि वे वृथा बकवाद के कर्मविपाक से बच जायेंगे। यह याद होगा कि पाइथोगोरस (Pythagoras-एक यूनानी दार्शनिक) ने अपने शिष्यों के लिये दो वर्ष का मौन व्रत निर्दिष्ट किया था। यह बात हमारे लिये महत्वपूर्ण होना चाहिये क्योंकि अलिकयोनी एवं विशप लेडबीटर के गुरूदेव महात्मा कुथुमि ही उस जन्म में पाइथगोरस थे।

भारतवर्ष में बहुत से ऐसे योगी होते हैं जो मुनि कहे जाते हैं। यह लोग मौन की प्रतिज्ञा ले लेते हैं जैसा कि मुनि शब्द से व्यक्त होता है। इस देश में मौन का महत्व सदा ही समझा गया है। मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती हूँ जिसने दस वर्ष तक मौन व्रत का पालन किया, जिससे उसे असीम शांति और महत्ता प्राप्त हुई। इसी के फल-स्वरूप वह इतना उच्च आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहा है जो अन्यथा सम्भव न था। यह सत्य है कि हममें से अधिकांश व्यक्ति ऐसी प्रतिज्ञा नहीं ले सकते, क्योंकि हमें जगत् के भीतर रहकर ही अनेक प्रकार के कार्य

करने पड़ते हैं। किन्तु इतना अवश्य कर सकते हैं कि जहां संभव हो वहाँ, दूसरों को अप्रसन्न किये बिना ही, इसके भाव को ग्रहण करलें, और करना भी चाहिये।

निरन्तर सावधान रहना और विवेक शक्ति का प्रयोग करते रहना भी आत्म-निरीक्षण शक्ति की प्राप्ति की शिक्षा के लिये बहुत मूल्यवान है—सूक्ष्म आत्म-निरीक्षण को सीखने के लिये उपयोगी है। आपको कुछ बोलना तो अवश्य ही चाहिये। किन्तु यह निश्चय कर लीजिये कि योग-विद्या के गूढ़ नियम का पालन करने के लिये आप प्रिय और उपयोगी वचनों के अतिरिक्त अधिक नहीं बोलेंगे। बीच बीच में इस बात का व्रत लेना एक अच्छा अभ्यास है; प्रातःकाल ही यह निर्णय कर लीजिये कि आज आप कोई वृथा शब्द न बोलेंगे। कम से कम वह एक दिन तो सफल होगा। हमारे जैन भाई सचेतता और आत्म-निरीक्षण सीखने के लिये इस प्रकार के अभ्यास किया करते हैं। वे प्रातःकाल ही यह निश्चय कर लेते हैं कि उस दिन अमुक काम नहीं करेंगे, चाहे उस काम का महत्व कुछ भी न हो; और वे उसे नहीं करते। इस प्रकार सचेत रहने का स्वभाव उत्पन्न होने से असावधानता की प्रकृति नष्ट हो जाती है। भगवान् बुद्ध ने भी असावधानता के, अर्थात् विचारशीलता के अभाव के विषय में, जिससे कि मनुष्य अनेक भूलें करता है, बहुत ज़ोर देकर कहा है।

लेडबीटर—जो लोग हमेशा बकबक करते रहते हैं वे सदा विचारपूर्ण या हितकर बात नहीं कह सकते, इसके अतिरिक्त उनका कथन सत्य भी नहीं हो सकता। यदि मनुष्य निरन्तर निरर्थक बातें करता रहता है तो यह

निश्चय है कि उसके उद्देश्यहीन कथन की अधिकांश बातें ऐसी होती हैं जो सत्य नहीं हो सकतीं, चाहे उसकी झूठ कहने की इच्छा न भी हो। ऐसे मनुष्य अनेक प्रकार की गलत बातें कह चुकने के पश्चात् यह कहने लगते हैं कि "मेरा गलत कहने का अभिप्राय न था, अतः इसकी चिंता करने की आवश्यकता नहीं।" किन्तु यहाँपर आपका अभिप्राय नहीं वरन् आपका आचरण फलमूलक होता है। यदि आप कोई मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं, तो उस कार्य के करने में चाहे आपका अभिप्राय अच्छा ही क्यों न हो, परन्तु कार्य के लक्षण में आप कोई परिवर्तन नहीं कर सकते और न उसके कर्म विपाक से आपको मुक्ति मिल सकती है। आपकी सद्भावना का—यदि वह निश्चित रूप से है—आपको उत्तम फल अवश्य मिलेगा, किन्तु उस मूर्खतापूर्ण कार्य के बुरे कर्म फल को भी स्थूल शरीर द्वारा भोगना ही होगा। एक मनुष्य पहिले तो कोई ऐसी बात कह देता है और पीछे यह कहकर अपनी भूल सुधारने लगता है कि "मैं देखता हूं यह मेरी भूल थी और मैंने जो कहा है वह ठीक नहीं।" उस मनुष्य ने एक झूठ बात कही। यह ठीक है कि उसका ऐसा आशय न था। किन्तु फिर भी उसने ऐसी बात निश्चय ही कही जो कि सत्य नहीं। कहने के पश्चात् यह कहना कि मेरा ऐसा आशय न था, उसी प्रकार है जैसे किसी मनुष्य के हाथ से अकस्मात् किसी को गोली लग जाये और पीछे वह यह बहाना दे कि "मुझे ज्ञात न था कि बन्दूक भरी हुई है।" किन्तु उसे तबतक बन्दूक भरी होने का ही अनुमान करना उचित था जब तक कि उसे बन्दूक खाली होने का निश्चय न हो जाता।

यदि हम एक दिन के लिये भी ऐसी बात न कहने का निश्चय करलें जो सत्य, प्रिय, और हितकर न हो तो उत्तम होगा। यद्यपि वह दिन हमारे लिये एक मौन दिवस के समान ही हो जायेगा। किंतु इससे संसार की कोई हानि न होगी और हमारा तो बहुत ही लाभ होगा। अवश्य ही तब हम चपल और उल्लासपूर्ण वार्तालाप नहीं कर सकेंगे क्योंकि विचार करने के लिये हमें ठहरना होगा। यह नियम आध्यात्मिक जीवन के सिद्धांतों के आधार पर बने हैं। जिस मनुष्य को शीघ्र उन्नति करने की आकांक्षा है, उसे इनका पालन करने का प्रयत्न करना ही चाहिये। इनके अनुकूल बनने के लिये उसे अपने को बदल देना चाहिये, चाहे इससे उसके सामान्य जीवन और जीवन की प्रणाली में द्वंदका होना ही क्यों न प्रतीत हो। कदाचित् यह कठिन प्रतीत हो, किंतु यदि सावधानी से विचार करने के पश्चात् भी उसे यही जान पड़े कि आध्यात्मिक जीवन के कर्तव्यों का पालन करना उसके लिये बहुत कठिन है, तो फिर वास्तविक उन्नति करने से पहिले उसे एक या दो जन्म तक और प्रतीक्षा कर लेने दीजिये। उद्योग और परिश्रम से रहित जीवन व्यतीत करना और शीघ्र उन्नति करना यह दोनों बातें एक साथ सम्भव नहीं। इन दो में से हम केवल एक को ही चुन सकते हैं। और यदि कोई मनुष्य अभी तक अपने को इस कठिनाई को झेलने में असमर्थ समझता है तो यह कोई दोष की बात नहीं।

"बोलने से पूर्व सावधानी से विचार करने के लिये अभी से अभ्यस्त होना अच्छा है, क्योंकि दीक्षा की श्रेणी तक पहुंचने पर तुम्हें अपने प्रत्येक शब्द पर ध्यान देना होगा ताकि कोई भी अकथनीय बात न कही जाये।"

लेडबीटर—दीक्षा संबंधी सत्य को न समझने पर इस बात से मिथ्या बोध उत्पन्न हो सकता है। यदि कोई मनुष्य दीक्षा के वास्तविक रहस्य को प्रकट करने का विचार करता है तो बोलने से पहिले ही वह उस रहस्य को जिसका वह अनधिकार उद्घाटन करना चाहता है, भूल जायगा। वास्तविक रहस्य की बातें तो पूर्णतः सुरक्षित रहती हैं; वे न तो कभी प्रकट हुई हैं और न हो सकती हैं। तौभी, यदि कोई दीक्षार्थी असावधान रहे तो उसके लिये बहुत आशंका की संभावना है। मुझे स्वयं ऐसी कितनी ही बातें ज्ञात हैं जो यदि दैनिक समाचार पत्रों में भी प्रकाशित कर दी जायें तो कोई विशेष हानि नहीं दिखाई पड़ती। किंतु मुझे इन्हें प्रकट न करने का आदेश दिया गया है अतः मैं इन्हें प्रकट नहीं करता; इसका कारण मुझे ज्ञात नहीं, किंतु प्रतिज्ञा एक प्रतिज्ञा है और हमें एक पवित्र वस्तु मान कर ही इसका पालन करना चाहिये। जो लोग इस संबंध में ठीक इसी प्रकार नहीं सोच सकते उनके लिये आध्यात्मिक उन्नति के समस्त विचार त्याग देना ही ठीक है।

"साधारण वार्तालाप भी बहुत अधिक करना अनावश्यक और मूर्खता है, किन्तु जब यह वार्तालाप पराई निन्दा का रूप धारण कर लेता है, तब तो यह एक दुष्टता ही बन जाती है।"

लेडबीटर—जिसे अनावश्यक वार्तालाप कहना चाहिये वह बहुधा किसी के प्रसन्नता पूर्वक समय बिताने में सहायक बनने के उद्देश्य से भी किया जाता है। कदाचित् यह आधुनिक समय का एक हानिकारक रिवाज है कि हमारा बहुत सा समय जो वास्तव में ही अधिक हितकर विचारों

में लगाया जा सकता था, बातें करने में खो दिया जाता है। जो लोग हमारे चुप रहने का मिथ्या अर्थ लगा लेते हैं, उन्हें प्रसन्न करने के लिये कभी कभी ऐसी बातें भी करनी पड़ जाती हैं जो सर्वथा आवश्यक नहीं; किन्तु इसके अतिरिक्त भी इतनी अधिक अनावश्यक बातें की जाती हैं जिन्हें उपरोक्त सूची में कदापि नहीं रखा जा सकता और जो केवल कुछ न कुछ बोलने के लिये ही कही जाती हैं। यह एक भूल की बात है। सच्चे मित्र चुप रहते हुये भी एक दूसरे के समागम का पूरा आनंद ले सकते हैं और विचारों के स्तर पर परस्पर घनिष्ठता का अनुभव करते हैं। किंतु यदि मनुष्य ऐसी स्थिति में हो जहां उनके न बोलने से बात चीत में अन्तर पड़ जाने का भय हो और इस लिये उसे बोलते ही रहना चाहिये, तभी दुर्भाग्य से ऐसी बहुत सी बातें कही जाती हैं जिनका न कहना ही उत्तम होता। वाचाल मनुष्य बुद्धिमान नहीं होते और इसी लिये वे विचारशीलों को गिनती में भी नहीं आते।

"अतः बोलने की अपेक्षा सुनने का ही आदी बनो; बिना मांगे किसी को अपनी सम्मति देने को प्रस्तुत मत हो।"

लेडबीटर—कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो कथन उन्हें गलत और अपूर्ण जान पड़ता है उसका तुरंत विरोध करके वादविवाद द्वारा अशांति उत्पन्न किये बिना वे रह ही नहीं सकते। हमें यह समझना चाहिये कि दूसरों के मत को संशोधित करने का अथवा प्रत्येक मनुष्य के भूलों के सुधारने का कार्य हमारा नहीं। हमारा कार्य तो चुपचाप यथाशक्ति दूसरों की सहायता करना है; और यदि किसी विषय पर हमारी सम्मति पूछी जाये तो हमें शांति और संयम पूर्वक अपनी

सम्मति देनी चाहिये, विरोध के भाव से नहीं। हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि हमारी सम्मति प्रत्येक मनुष्य के लिये रुचिकर ही होगी। कभी कभी ऐसा नहीं भी होता, और तब इसे दूसरों पर बलात् लादना भूल की बात होती है। संभव है कि एक मनुष्य को किसी बात का पूरा विश्वास है और हम जानते हैं कि वह बात वैसी नहीं, किंतु हमें चाहिये कि हम उसे अपनी बात कहने दें। इससे संभवतः वह तो प्रसन्न होगा और हमारी इससे कोई हानि न होगी। वह इस विश्वास को ग्रहण कर सकता है कि पृथिवी समतल है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। यह विषय उसका अपना है। किंतु, यदि कोई मनुष्य अध्यापक है और वह कतिपय लड़कों को शिक्षा देने के लिये नियुक्त किया गया है, तब उसे मृदुता और शांति पूर्वक उनके भूल का सुधार कर देना चाहिये, क्योंकि यह उनका कर्त्तव्य हो जाता है। किंतु ध्यान रखिये कि जन साधारण के लिये कोई भी मनुष्य शिक्षक के रूप में नियुक्त नहीं किया गया है।

यदि हम किसी पर मिथ्या कलंक लगते हुये सुनें तो अवश्य ही ऐसा कहने का हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि "क्षमा कीजिये, आप ठीक नहीं कह रहे हैं, यह बात सत्य नहीं है;" और फिर यथासम्भव लोगों के सामने यथार्थ बात को रक्खें। यह घटना भी किसी निःसहाय मनुष्य पर आक्रमण होने के समान ही है, जिसकी रक्षा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

"इस एक ही वाक्य में इन गुणों पर दी गई शिक्षा का सारांश आजाता है कि ज्ञान प्राप्त करो, साहसी बनो, दृढ़ संकल्प रखो और

मौन रहो ; और इन चारों में से अंतिम बात पर आचरण करना सबसे कठिन है ।"

लेडबीटर—रोज़ीक्रूशियन (Rosicrucians) सम्प्रदाय के अनुयायियों का यह विश्वास था कि जिसे आध्यात्मिक उन्नति करनी हो उसे ज्ञान प्राप्त करने, साहसी बनने, दृढ़संकल्प करने और मौन रखने का दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम प्रकृति के सत्यों का ज्ञान प्राप्त करें और फिर उन्हें उपयोग में लाने का साहस करें। इस मार्ग पर चलते हुये हमें फिर जो महान् शक्तियाँ प्राप्त होंगी उन पर एवं स्वयं अपने पर नियंत्रण रखने के लिये दृढ़ संकल्प रक्खें और इसके पश्चात् उनके सम्बन्ध में मौन रहने का भी हमें काफ़ी ज्ञान होना चाहिये।

सतरहवां परिच्छेद

अपने काम से काम रक्खो

"एक अन्य सामान्य इच्छा जिसका तुम्हे दृढ़ता से निरोध करना चाहिये है दूसरों के कामों में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति। अन्य मनुष्य जो कुछ कहता, करता, या विश्वास करता है, उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं, तुम्हे उसकी बात को पूर्णतया उसी की इच्छा पर छोड़ देना सीख लेना चाहिये। उसे अपने विचार, भाषण, और कार्यों में स्वतंत्र रहने का पूर्ण अधिकार है, जब तक कि वह दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता। तुम स्वयं अपने कार्यों में जिस स्वतंत्रता की इच्छा करते हो, वही दूसरों को भी देनी चाहिये। और दूसरे जब उस स्वतंत्रता का उपयोग करते है तो उसकी चर्चा करने का तुमको कोई अधिकार नहीं।"

लेडवीटर--मनुष्य को पराये कार्यों और विश्वासों में कोई हस्तक्षेप न करना चाहिये जब तक कि उनके किन्हीं कार्यों से सर्वसाधारण की प्रत्यक्ष हानि न होती हो। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार का व्यवहार करता है जिससे कि वह अपने पड़ोसियों के लिये दुखदायी बन जाता है, तो उसे भली सम्मति देना कभी कभी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है, किंतु ऐसे स्थानों पर भी बहुधा चुपचाप रह कर ही उसे अपने आपही सुधरने देना अच्छा होता है।

हम अंग्रेज लोग स्वतंत्रता की बड़ी बड़ी डींगें हाँकते हैं, किंतु वास्तव में हम तनिक भी स्वतंत्र नहीं, क्योंकि हम एक अकल्पित सीमा तक रिवाजों के बन्धन में जकड़े हुये

हैं। हम न तो अपनी रुचि के अनुसार वस्त्र धारण कर सकते हैं और न कहीं आ जा ही सकते हैं। यदि एक मनुष्य को पुरानी ग्रीक पोशाक अच्छी लगती है—जो कि संभवतः संसार की सर्व पोशाकों में सुन्दर है—और वह इसे पहिन कर सड़क पर निकल जाता है तो लोगों की भीड़ उसे घेर लेगी और संभव है कि भीड़ इकट्ठा कर रास्ता रोक रखने के अपराध में वह गिरफ़्तार भी कर लिया जाये। किंतु किसी वास्तविक स्वतंत्र देश में वह अपनी रुचि के अनुकूल वस्त्र धारण करने व कार्य करने के लिये पूर्ण स्वाधीन होता जब तक कि वह स्वयं दूसरों के लिये कष्ट का कारण न बन जाता। किन्तु सच्ची स्वतंत्रता तो कहीं है ही नहीं; जिस प्रणाली पर सब लोग चलते हैं उससे यदि किंचित मात्र भी अलग हो जायें तो अत्यधिक कष्ट और उपद्रव उत्पन्न हो जाता है। यह एक शोचनीय बात है, क्योंकि सच्ची स्वतंत्रता सब के ही लिये, और विशेष कर उनके लिये जो दूसरों के बीच में हस्तक्षेप करना चाहते हैं, बहुत अच्छी होती।

एनी बेसेंट—मेरा अनुमान है कि हममें से जो उद्यमी और उत्साही व्यक्ति हैं, उन्हें अपने उस ज्ञान पर, जिसे उन्होंने प्राप्त किया है, उसके अतीव महत्वपूर्णता पर इतना विश्वास है, जो ठीक भी है, कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग भी वैसा ही अनुभव करें और कभी कभी, हम प्रायः ऐसा भी चाहते हैं कि वे उसे उसी प्रकार मानने के लिये मजबूर हों जैसा हम मानते हैं। लगभग प्रत्येक उत्साही प्रकृति के मनुष्य में यह दोष रहता है। परन्तु कोई भी मनुष्य सहर्ष उतनी ही बात ग्रहण कर सकता है जितनी

कि बातों का ज्ञान उसके अन्तर हृदय पर आया रहता है। हालाँ कि उतनी बातें भी उसके मस्तिष्क में अभी नहीं आई रहतीं और इस लिये वह उन्हें अपने निकट स्पष्ट नहीं कर पाता। जब तक प्रारंभिक श्रेणी तक न पहुंच जाये तब तक मनुष्य केवल बाहर से जाना हुआ सत्य ग्रहण करने की स्थिति में नहीं रहता, और हम उसे उस पर बलात् लादने की चेष्टा करके लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुंचाते हैं।

इसी प्रकार अन्तःकरण की शक्ति (Conscience) भी बाहर से उत्पन्न नहीं की जा सकती, यह तो पूर्व अनुभवों के फलस्वरूप प्राप्त होती है। इस लिये यदि कोई मनुष्य समस्त शिक्षा और उपदेश को ग्रहण कर लेता है तो उससे यह प्रगट होता है कि वह ज्ञान उसके अन्तर में पहिले से ही विद्यमान था, इस बाहरी संदेश ने उसे केवल जाग्रित कर दिया है और अब वह उसके मस्तिष्क में भी सहसा स्पष्ट हो गया है। अतः इस दिशा में एक शिक्षक केवल यही कर सकता है कि जो ज्ञान मनुष्य को सूक्ष्म लोकों में प्राप्त होता है उसे स्थूल लोक में भी उसके सन्मुख रख दे। एक आचार्य का यह कथन है कि बहुत से मनुष्यों को ब्रह्मविद्या की बहुत कुछ शिक्षा उस समय दी जाती है जब कि वे निद्रावस्था में अपने स्थूलशरीर से बाहर रहते हैं। सच्चा मनुष्य अर्थात् जीवात्मा उस समय उस ज्ञान को सीखता है और इस प्रकार प्राप्त किये हुये ज्ञान की शिक्षा उसे जब स्थूललोक में किसी शिक्षक द्वारा फिर दी जाती है तो उसके शब्दों द्वारा उस ज्ञान को अपने मस्तिष्क में लाने में उसे सहायता मिलती है। एक स्थूललोक का शिक्षक केवल इतना ही कर सकता है।

वारंवार होने वाली निराशाओं से हम सब को यह शिक्षा मिलती है कि हम किसी भी मनुष्य को उस मार्ग पर चलने में सहायता नहीं दे सकते, जिस पर चलने के लिये वह पहिले से ही तय्यार न हो चुका हो; इस प्रकार हम अपेक्षाकृत अधिक शांति धारण कर लेते हैं—जहां सहायता उपयोगी हो सकती हो वहां सहायता देने को तैयार रहते हैं, और जहां हमारी सहायता कुछ भी काम न आये अर्थात् जहां वह व्यक्ति हमारी बात से कोई लाभ न उठा सके वहां हम तटस्त रहने को भी प्रस्तुत रहते हैं। इस मनोवृत्ति से बहुधा अज्ञानी लोग यह धारणा कर लेते हैं कि हम उनसे उदासीन हैं, किंतु सत्य यह है कि एक अधिक उन्नत व्यक्त इस बात को भली भांति जानता है कि उसकी सहायता की उपयोगिता कहां हो सकती है और कहां नहीं।

जो यह बात स्पष्टतया नहीं समझ सकते कि उनकी सहायता कहां उपयोगी हो सकती है, उन्हें परीक्षा द्वारा अनुभव करके देखने की युक्ति समझनी चाहिये। किसी बात पर अपना प्रस्ताव दीजिये, यदि उस प्रस्ताव के प्रति उदासीनता प्रकट की जाये अथवा उसका विरोध हो तो समझ लीजिये कि जिस व्यक्ति को आप संबोधित कर रहे हैं, उसे आप उस विशेष प्रणाली द्वारा सहायता नहीं कर सकते। तब आपको जैसी भी परिस्थिति हो उसके अनुसार या तो प्रतीक्षा करनी चाहिये अथवा किसी दूसरे उपाय द्वारा यत्न करना चाहिये। जो कुछ आप जानते हैं उसे दूसरों पर बलात् लादने की अपेक्षा यह बात कहीं उत्तम है। अपने समस्त ज्ञान का बोझ उस पर लाद कर और

उस ज्ञान को उसमें बलपूर्वक ठूंसने की चेष्टा करके उसके मस्तिष्क को स्तब्ध मत बनाइये। लोग बहुधा अपने लिये तो स्वतंत्रता की मांग करने को बहुत ही प्रस्तुत रहते हैं किंतु इसे दूसरों को देने में आश्चर्यजनक रूप से परांमुख रहते हैं। यह एक बड़ा दोष है, क्योंकि दूसरों को भी अपने विचार तथा उसे प्रकट करने का उतना ही अधिकार है जितना कि हमको।

कभी कभी इस दोष का दूसरा रूप भी होता है। यह विचार कर कि आपको अन्य लोगों के मन्तव्य को स्वीकार करना ही चाहिये, इस की दूसरी पराकाष्ठा पर मत जाइये। आपको अपनी असम्मति प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है। आप यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि "नहीं, मैं इससे सहमत नहीं हूं," अथवा यदि चाहें तो चुप भी रह सकते हैं। किंतु जो बात आपको नहीं करनी चाहिये वह यह है कि दूसरों को अपने स्वतंत्र विचारों के लिये दोषी मत ठहराइये। जब आप किसी को कोई बात कहते हुये सुनते हैं तो सब से पहिले अपनी सामान्य बुद्धि का उपयोग करके उसकी प्रत्येक बात पर अपनी विचार शक्ति का उपयोग कीजिये। दूसरों को स्वाधीन रहने दीजिये, पर अपने को दूसरों का दास मत बनाइये।

"यदि तुम्हारे विचार में वह भूल कर रहा है और तुम उसे एकान्त में यह बताने का अवसर ढूंढ सकते हो कि "आप ऐसा क्यों सोचते हैं," तो संभव है कि तुम उसे विश्वास दिला सको; किंतु अनेक स्थानों पर तो ऐसा करना भी अनुचित रूप से हस्ताक्षेप ही होगा। तुम्हें उस विषय की चर्चा तीसरे मनुष्य के सामने तो किसी भी कारण से नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह एक अतिशय दुष्ट कर्म है।"

एनी बेसेंट—आप कभी कभी किसी ऐसे मनुष्य की सहायता कर सकते हैं जिसके लिये आपको ज्ञान हो कि वह कोई नैतिक भूल कर रहा है। किंतु यहां भी अत्यंत सावधानी की आवश्यकता होती है, क्योंकि ऐसे स्थानों पर लाभ की अपेक्षा हानि कर देना अधिक सहज है। इस प्रकार से जो सहायता दी जाये वह निश्चय ही एकान्त में एवं मित्रतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत की जानी चाहिये, जैसा कि श्री गुरुदेव बताते हैं। यदि वह व्यक्ति हठी विचारों वाला है तो हम उसे अनुभवों द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के लिये छोड़ सकते हैं, क्योंकि सौभाग्य से अनुभव एक बड़ा शिक्षक है।

यदि एक मनुष्य ने कोई मिथ्या विचार ग्रहण कर लिया है और वह आपके पास अपने विचार को प्रकट करता है तो उसके विचार को ग़लत बताना आवश्यक नहीं, जब तक कि आपको यह निश्चय न हो कि वह व्यक्ति आपके निर्णय में अपने निज के निर्णय की अपेक्षा अधिक आस्था रखता है, अथवा कम से कम आपके कथन पर गंभीरता पूर्वक विचार करने के लिये प्रस्तुत है। बहुत बार तो वह अपनी भूलों को स्वयं ही ढूंढ लेगा और उस समय उसको ऐसा ही करने देना अच्छा है। लोग बहुधा मेरे पास आते हैं और अपने विश्वास के अनुसार भविष्य में होने वाली बड़ी बड़ी घटनाओं की घोषणा कर जाते हैं; मैं प्रायः उनकी बात को शांति पूर्वक सुन लेती हूं और उस पर अपना कोई मत प्रगट नहीं करती। जब उनकी भविष्द्वाणी सिद्ध नहीं होती, तब वह घोषणा करने वाला व्यक्ति अपनी भूल को समझ लेता है; किंतु हम यह निष्कर्ष

निकालने का काम उसी पर छोड़ देते हैं। ऐसी बातें होनी अनिवार्य है, क्योंकि लोग आध्यात्मज्ञान के सम्पर्क में आने लग गये हैं। कभी कभी वे भ्रम में पड़ जाते हैं, क्योंकि उनके निर्णय करने के बहुत से पूर्व सिद्धांत नष्ट हो जाते हैं और वे विस्मय करने लगते हैं कि विचार-क्रांति रूपी इस भूकंप में उनके कितने सिद्धांत खंड खंड हो जायेंगे। इन परिस्थियों में उतावला हो कर शांत, शीतल, और स्थिर रहना चाहिये; क्रमशः सब बातें स्वयं ही स्पष्ट हो जायेंगी—जो कुछ मिथ्या और भ्रमात्मक है वह बीत जायेगी और जो वास्तविक है वही शेष रहेगी।

"यदि तुम किसी बालक अथवा किसी पशु के प्रति क्रूरता होते हुये देखो, तो वहां हस्तक्षेप करना तुम्हारा कर्त्तव्य हो जाता है।"

एनी बेसेंट—जहां किसी बालक अथवा पशु के प्रति क्रूरता होती हो वहां हस्तक्षेप करना कर्त्तव्य है, क्योंकि वहां शक्ति दुर्बलता का अनुचित लाभ उठा रही है, जिसकी सदा रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि दुर्बलता अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती। इस लिये जब कभी भी एक बालक अथवा पशु के साथ दुर्व्यवहार होता हो तो शक्तिशाली मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसके बीच में पड़े, और न तो किसी के अधिकारों का खण्डन होने दे और न किसी की स्वतंत्रता छीनी जाने दे। अस्तु, जब कभी भी आप किसी बालक के प्रति क्रूरता होती हुई देखें तो वहां आप को हस्तक्षेप करना चाहिये और अपने हस्तक्षेप को प्रभावोत्पादक बनाने का यत्न करना चाहिये।

"यदि तुम किसी को देश का कानून भंग करते हुये देखो तो तुम्हें अधिकारियों को सूचित कर देना चाहिये।"

लेडवीटर—इस वाक्य के विषय में बहुत कुछ कहा गया है और इस पर अनेक मनुष्यों ने आपत्ति की है। यह एक विचित्र बात है, क्योंकि, वास्तव में, यदि आप किसी अपराध को छिपाते हैं तो अपराध करने से पूर्व अथवा उसके पश्चात् जैसी भी घटना हो, आप उस अपराध के सहायक बन जाते हैं, और कानून भी आपको उसी प्रकार दोषी ठहराता है। लोग कहते है कि "क्या हम दूसरों पर यह जासूसी करते फिरें कि लोग कानून भंग कर रहे हैं या नहीं ?" कदापि नहीं; लोग कानून भंग कर रहे हैं या नहीं यह ढूंढने के लिये आप जासूस नियुक्त नहीं किये गये हैं।

कानून से देश संगठित रहता है और कानून ही सर्व-हित के लिये व्यवस्थाय स्थापित करता है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इसका पालन करे। तो भी, मनुष्य को अपनी सामान्य बुद्धि का उपयोग करना चाहिये। अप्रचलित कानूनों का पालन करने की आशा किसी से भी नहीं की जाती, चाहे वे कानून की पुस्तक में लिखे हों; चाहे किसी की छोटी छोटी चूकों की सूचना करने की ही आवश्यकता है। दृष्टांत के लिये, किसी की जगह में अनाधिकार प्रवेश करने के कानून को ही लीजिये। अब यदि आप किसी को दूसरे के उद्यान में से कोना काट कर जाते हुए देखें तो मेरे विचार में आप इसकी सूचना देने को वाध्य नहीं। हाँ, इस विषय में प्रश्न किये जाने पर अवश्य आप ऐसा कह सकते हैं। अथवा कानून के विरुद्ध चुंगी के माल की चोरी को ही लीजिये। मैं कहता हूँ कि प्रत्येक भला नागरिक उस कानून के अनुसार ही चलेगा

और किसी भी प्रकार के माल पर चुंगी की चोरी करने का साहस न करेगा। किंतु साथ ही मुझे यह भी प्रतीत होता है कि यदि कोई सहयात्री सिगरेट अथवा ऐसी ही किसी वस्तु की चुंगी वचाने का प्रयत्न करता है तो अधिकारियों को सूचित करने का काम मेरा नहीं, क्योंकि यह विषय किसी ऐसे कानून भंग का नहीं है जिससे किसी दूसरे का अनिष्ट होता है।

मैं स्वयं इसे कभी भंग न करूँगा, क्योंकि मेरे विचार में जब एक कानून बना दिया गया है तो उसका पालन होना ही चाहिये; और यदि यह एक बुरा कानून है तो इसे परिवर्तन करने के लिये हमें व्यवस्थित उपायों से काम लेना चाहिये। कुछ कानून ऐसे भी होते हैं जिनका पालन करना सचमुच ही कठिन होता है। कुछ स्थानों पर कानूनी रूप से चेचक का टीका लगवाना अनिवार्य है। व्यक्तिगत रूप से मैं चेचक का टीका लगवाने में आपत्ति करूँगा और बिना बलप्रयोग के इसके लिये अपने को सौंपना अस्वीकार कर दूँगा; इस टीके को लगवाने की अपेक्षा यदि आवश्यक हो तो मैं जेल जाना भी स्वीकार करूँगा, क्योंकि यह एक बुराई है। यह सब विषय ऐसे हैं जिनके संबंध में प्रत्येक मनुष्य को अपना स्वतंत्र निर्णय करना चाहिये।

भारतवर्ष में यह बात विशेष रूप से बताई गई है कि कौन कौन से अपराधों को देखने पर उनकी सूचना अवश्य कर देनी चाहिये। ये अपराध जिनके विषय में सूचना देना आवश्यक है बहुत गंभीर होते हैं। यदि कोई किसी हत्या अथवा डकैती को देखे तो उसकी सूचना करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है, किंतु भारतवर्ष में बहुत सी छोटी

छोटी बातों के संबन्ध में सूचना न करने के लिये कानूनी रूप से उस दोष में सहायक होने का अपराध नहीं लगाया जाता।

ऐनी बेसेंट—प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि जब कभी वह किसी कानून को भंग होते हुये देखे, तो उसे रोके। यह नागरिकता के प्रथम कर्त्तव्यों में से है। तथापि कुछ दिन हुए इस शिक्षा पर आपत्ति उठाई गई थी। एक विद्यार्थी मेरे पास आया और बोला कि इस पुस्तक में यह एक, ऐसी बात है जिसे वह स्वीकार नहीं कर सकता। उसे यह बात सामान्यतः भेद लेते रहने अर्थात् अन्य लोगों की बातों पर जासूसी करते रहने को अनुमति जान पड़ी। अवश्य ही इसका आशय इस प्रकार का नहीं है किंतु जहां आप कानून भंग होते हुये देखें वहां आपको अवश्य दखल देना चाहिये। क्योंकि कानून से ही देश की व्यवस्था कायम रहती है ओर यही उस व्यवस्था को स्थापित करके एवं उसकी रक्षा करके उस देश की जनता को सुव्यवस्थित रखता है। अतएव इसका पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। किसी अपराध के किये जाने की जानकारी होने पर उसे छिपाने का अधिकार किसी को भी नहीं है। और जो ऐसा करता है वह उस अपराध में भागीदार हो जाता है। यह बात इतनी सामान्य रूप से प्रचलित है कि जो व्यक्ति किसी अपराध के विषय में जानते हुए भी उसकी सूचना करने में चूकता है तो कानून उसे अपराधी का सहायक मानकर दंडित करता है। मैं केवल इतना अनुमान लगा सकी कि आपत्ति करने वाले व्यक्ति ने अपने कथन पर कभी गंभीरता पूर्वक विचार नहीं किया, क्योंकि जिस देश के नागरिक अपने इस साधारण कर्त्तव्य को भी

नहीं पहचानते और उसके अनुसार कार्य नहीं करते, तो सार्वजनिक भाव के इस ह्रास के कारण उस देश का पतन हो जाता है।

"यदि तुम किसी अन्य व्यक्ति को शिक्षा देने के लिये नियुक्त किये गये हो तो उसके दोषों को मीठे वचन से बताना तुम्हारा कर्त्तव्य हो जाता है"

लेडबीटर—यह बात स्पष्ट है। एक बालक, एक शिष्य, अथवा एक नौकर का भार हम पर सौंपा जाता है, क्योंकि हम उनसे आयु या बुद्धि में बड़े होते हैं। यदि हम उसके दोषों को, जो कि वह कर रहा है, न बतायें तो हमारी बुद्धि और अनुभवों से लाभ उठाने से वह वंचित रह जाता है; यहां हम उसके प्रति अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं, और जिस कार्य के लिये हम नियुक्त हैं उसकी उपेक्षा करते हैं।

"केवल ऐसी परिस्थितियों के अतिरिक्त अपने काम से काम रखो और मौन के गुण को सीखो।"

ऐनी बेसेंट—विचार कीजिये कि यदि इस शिक्षा पर आचरण किया जावे तो समाज का रूप कितना बदल जाय। अपने पड़ोसियों के कार्यों से सदा होशियार रहने की अपेक्षा एक मनुष्य अपना जीवन स्वतंत्रता और स्वच्छंदता से व्यतीत कर सकेगा क्योंकि लोग एक दूसरे को अपने अपने विचारों के अनुसार जो सर्व श्रेष्ठ प्रतीत हो वही करने देने के लिये स्वतंत्र छोड़ देंगे. एवं हस्तक्षेप तथा आलोचना के स्थान पर पारस्परिक सहिष्णुता और सद्-भावना आजायेगी। हमारी पाँचवीं मूल (आर्य) जाति, जो आज संसार की एक प्रधान जाति है, आक्रमणकारी,

झगड़ालू एवं आलोचनात्मक गुण प्रधान जाति है; किंतु हमें तो वह जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करना चाहिये जो भविष्य में छठी मूलजाति का होगा और जिसे सहिष्णुता एवं कार्यशील सद्भावना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह बात हमें भ्रातृभाव के उस विचार की ओर ले जायगी जिस पर कि छठी मूलजाति की स्थापना होगी।

लेडबीटर—अपने काम से काम रखना यद्यपि बहुत कठिन बात नहीं है; किंतु बहुत ही थोड़े लोग ऐसा करते हैं। जो यहाँ कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि हस्तक्षेप और आलोचना की जो मनोवृत्ति आजकल इस खेदजनक रूप से फैली हुई है, उसके स्थान पर सहिष्णुता एवं सद्भावना की सामान्य प्रवृत्ति, को ग्रहण करना चाहिये। यदि एक व्यक्ति कोई नितान्त असाधारण कार्य करता है तो अनेक मनुष्य इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं कि उसके ऐसा करने का कोई न कोई दुष्ट प्रयोजन है। किंतु इसका निसकर्ष ऐसा नहीं हो सकता। उसके ऐसा करने का कोई व्यक्तिगत अप्रकट कारण हो सकता है। तब भी, जब तक वह स्पष्टतया ही कोई बुराई न कर रहा हो और दूसरों के लिये बाधक रूप न हो, तब तक हमें चाहिये कि उसे अपने ही मार्ग द्वारा चलने देकर अपनी ही इच्छानुसार कार्य करने दें।

आजकल के अन्य सामान्य दोषों के समान वह दोष भी हमारी पांचवीं मूलजाति एवं पाँचवीं उपजाति के स्वाभाविक गुण का अतिक्रमण होने से ही उत्पन्न होता है। हमारी यह जाति नीचे के मनस् की आलोचनात्मक शक्ति का विकास कर रही है और इसी शक्ति का अतिक्रमण

होने से हमारा आक्रमणकारी, झगड़ालू एवं तर्कवादी हो जाना संभव बन जाता है। तौभी, जिन लोगों का लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति करने का है उन्हें मनस् से परे अपनी बुद्धि का जो एकता-प्रधान है अर्थात् जो परिच्छेद के स्थान पर संकलन करती है, विकास करना चाहिये। इस बुद्धि का विकास करना छठी मूलजाति का कार्य होगा और कुछ अंशों में यह कार्य छठी उपजाति का भी होगा जिसके चिह्न अमेरिका, आस्ट्रेलिया एवं अन्य कुछ स्थानों में प्रकट हो रहे हैं।

थिऑसॉफ़िकल सोसायटी में हम भ्रातृभाव के विचार का समर्थन करते हैं, और इस गुण पर अभ्यास करने की यह एक विधि है कि दूसरों में प्रशंसनीय बातों को ढूंढना चाहिये, दोषपूर्ण बातों को नहीं। यदि आप खोजेंगे तो प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ प्रशंसा योग्य एवं दोषपूर्ण बातें अवश्य मिलेंगी। इसी कारण यह आवश्यक है कि हम सद्गुण एवं अच्छी बातों पर ही ध्यान दें, अवगुण और बुरी बातों पर नहीं। इस तरह हम दोनों ही बातों का समीकरण कर सकते हैं। छिद्रान्वेषण करने का कार्य हम संसार के अन्य लोगों पर छोड़ दे सकते हैं जो कि निश्चय ही इसे चालू रक्खेंगे और दोषारोपण करने का कार्य हमसे अधिक रुचि पूर्वक करेंगे। अच्छी बातों को चुन लेना एक महत्वपूर्ण अभ्यास है, क्योंकि जब तक हम उन्हें देखना आरंभ न करेंगे तब तक इस बात को वास्तविक रूप में न समझ पायेंगे कि प्रत्येक मनुष्य में कितनी अधिक अच्छी बातें होती हैं। जब हम ऐसा करते हैं तो जिन लोगों के प्रति हम अन्यायपूर्ण विचार रखते

थे, उनमें भी सब प्रकार के सुंदर गुणों को देखना प्रारंभ कर देंगे। जिन लोगों को हम भली भांति नहीं जानते, उनके विषय में एक या दो बातों द्वारा ही मत स्थिर कर लेना बहुत सहज है। हमने उन्हें कभी क्रोधित अवस्था में देखा था और इसी कारण उन्हें चिड़चिड़े स्वभाव वाला मान लेते हैं; अथवा हमने किसी दिन उन्हें असंतुष्ट दशा में देखा था, अस्तु उनकी गणना उसी प्रकार के मनुष्यों में कर लेते हैं। संभव है हमारे और उनके मिलन का संयोग किसी ऐसी ही असमंजस की घड़ी में हुआ हो, और सामान्यतः उनका जीवन हमारी कल्पना के अनुरूप न हो।

यदि हमें जब तब इस प्रकार की भूलें करनी ही हैं' तो अच्छे पक्ष में ही क्यों न करें; किसी मनुष्य को उसके पावने से कुछ अधिक श्रेय दे दीजिये, इससे 'न तो उसकी ही कुछ हानि होगी और ना हमारी ही। एक बार एक महात्मा ने कहा था, कि "प्रत्येक मनुष्य में भलाई का अंश भी होता है और बुराई का भी;" किसी भी मनुष्य को केवल बुरा ही मान लेने से सावधान रहिये, क्योंकि आप उससे बुराई की आशा करते हैं और उसके वैसा न करने पर आप निराश हो सकते हैं। क्योंकि इससे आपके निर्णय की भूल प्रकट हो जाती है। किसी एक मनुष्य में बहुत बुरी बातें सोचने की अपेक्षा सैंकड़ों मनुष्यों के विषय में बहुत अच्छी बातें सोचना कहीं उत्तम है। कम से कम इस सीमा तक तो हमें बुद्धिक जीवन व्यतीत करना ही चाहिये कि हम अच्छी बातों की ओर ही ध्यान दें, बुरी बातो की ओर नहीं;। केवल सत्य और न्याय के नाम पर ही नहीं, किंतु इस लिये भी कि हम जानते हैं कि हमारे विचारों

में अपार शक्ति है और दूसरे में बुराई की कल्पना करने
से उसके वैसा ही बन जाने की संभावना रहती है; किंतु
यदि हम उसमें भलाई को देखें तो उसमें से वह बुराई लुप्त
हो कर भलाई उत्पन्न होने में सहायता मिलती है।

एक मुख्य बात जो हमें सीखनी चाहिये वह यह है कि
हमें नीचे के मनस् को अपने नियंत्रण से बाहर नहीं होने
देना चाहिये, क्योंकि यह हमसे दूसरों पर अनुचित दोषा-
रोपण करवाता है। मनुष्य से भूलें होती हैं और वह सदा
निःस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर ही कार्य नहीं करता।
मनुष्य की इस प्रकृति को जानते हुये स्वाभावतः ही लोगों
की प्रवृत्ति दूसरों के कार्यों में कोई उच्च उद्देश्य ढूँढ़ने के
स्थान पर किसी न किसी स्वार्थ को ढूँढ़ने की ओर ही
रहती है। किंतु हमें संदेह और कठोरता की इस श्रेणी तक
अपना पतन नहीं होने देना चाहिये। केवल हमारे अपने
लिये ही नहीं वरन् दूसरों के हित के लिये भी यह आवश्यक
है कि हम सर्वप्रथम दूसरों के उच्च उद्देश्य की ओर ही ध्यान
दें, और यदि ऐसा कोई उद्देश्य हमें न भी दिखाई दे, तो
भी उस व्यक्ति का भला आशय रखने का श्रेय दे दें। जब
हम किसी के बुरे उद्देश्य का विचार करते हैं तो अपने
विचार द्वारा उसे और भी पुष्ट कर देते हैं, क्योंकि मन बड़ा
ही ग्रहणशील होता है। एक मनुष्य के अपने लक्ष्य से
थोड़ा गिरजाने पर भी यदि हम उसे उसके भले उद्देश्य का
श्रेय दे देते हैं, तो वह शीघ्र ही लज्जित होकर अपने निकृष्ट
उद्देश्य के स्थान पर उच्च उद्देश्य को ग्रहण कर लेगा।
इसके अतिरिक्त यह हम अपने सब मित्रों में यथासंभव
सर्वश्रेष्ठ उद्देश्यों के होने की ही कल्पना करें तो यह निश्चित

है कि दस में से नौ स्थानों पर हमारा निर्णय यथार्थ होगा। यह ठीक है कि बाह्यजगत् ऐसे मनुष्य को व्यंगपूर्वक यही कहेगा कि "तुम बहुत भोले हो!" किंतु इस रीति से भलाई करने वाला भोला व्यक्ति होना उस चालाक व्यक्ति होने की अपेक्षा कहीं अच्छा है जो कभी किसी के विषय में अच्छी कल्पना कर ही नहीं सकता।

प्रायः कोई भी मनुष्य स्वेच्छा से बुरा नहीं बनता। अतः मनुष्य को यह सोचने की इस सामान्य भूल में नहीं पड़ना चाहिये कि हमारे विचारों के अनुसार जो लोग गलती करते हैं, वे बुरे उद्देश्य से ही करते हैं। हमें सावधान रहना चाहिये कि इस प्रकार की कल्पनाओं द्वारा किसी के प्रति अन्याय न करें। जैसे, हम सोचते हैं कि मांसाहारी मनुष्य मांस भक्षण को अनुचित समझते हुये ही इसे खाते हैं। किंतु वे लोग यह काम अपनी श्रेष्ठ भावना के विरुद्ध कदापि नहीं करते; वे तो इस विषय में कुछ विचार किये बिना ही केवल प्रचलित प्रथा का अनुकरण करते है। साधारणतः ऐसे व्यक्ति भले होते हैं; यह ठीक है कि मध्यकाल के भले लोगों ने बिना विचारे ही एक दूसरे को जला दिया था। किन्तु एक महात्मा ऋषि ने कहा है कि "हमारा हेतु भले आदमी निर्माण करना नहीं है, वरन् जगत् के कल्याण के लिये प्रबल आध्यात्मिक शक्तियों का सृजन करना है।

———

चतुर्थ खण्ड

सदाचार

अठारहवाँ परिच्छेद

मनोनिग्रह

सदाचार के जो छः नियम विशेष रूप से अपेक्षित हैं उन्हे श्री गुरुदेव ने इस प्रकार बताये हैं:—

१—मनोनिग्रह (Self Control as to the Mind)
२—इंद्रिय-निग्रह (Self Control in Action)
३—सहिष्णुता (Tolerance)
४—प्रसन्नता (Cheerfulness)
५—एकनिष्ठा (One-pointedness)
६—श्रद्धा (Confidence)

[मुझे विदित है कि इन गुणों में से कुछ नामों का अनुवाद भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है, किंतु मैं यहाँ पर उन्हीं नामों का उपयोग कर रहा हूँ जिनका श्री गुरुदेव ने मुझे समझाते समय किया था]

ऐनी बेसेंट—जैसा कि अल्कियोनी कहते हैं, श्री गुरुदेव ने इन गुणों में से कुछ का अनुवाद हमारे पूर्व प्रचलित अनुवाद से कुछ भिन्नता से किया है। प्रथम तीन का अनुवाद जो अनुवाद मैं वर्षों से करती आई हूं उससे कोई

भिन्न नहीं है, किंतु अंतिम तीन के अनुवाद कुछ भिन्न हैं तथापि उसके तात्विक अर्थ अपरिवर्तित हैं। सदाचार के तीसरे नियम का अनुवाद मैं सदा Tolerance अर्थात् 'सहिष्णुता' ही करती आई हूं, जैसा कि यहाँ श्री गुरुदेव ने भी किया है, किंतु मैं जानती हूं कि यह अनुवाद बहुत से लोगों को मान्य नहीं है। इसका संस्कृत शब्द उपरति है, जिसका शब्दार्थ Cessation अर्थात् विरति है; हम विरति का अर्थ आलोचना एवं असंतोष जैसे दोषों से विरत होने से ही लेते हैं, अतः इस गुण का वास्तविक रूप सहिष्णुता ही है।

चौथे गुण तितिक्षा को मैं सदा endurance अर्थात् सहनशीलता कहती आई हूं; अवश्य ही प्रसन्नता (Cheerfulness) का अभिप्राय भी तद्दश ही है, क्योंकि जो व्यक्ति सहनशील है वह अवश्य ही प्रसन्न भी रहेगा। यहाँ पर यह कहने का साहस यदि अनुचित न हो तो मैं कहूँगी कि इस कारण से कि गुरुदेव विशेषरूप से प्रसन्न वदन हैं। इसलिये इस गुण का विशेषरूप जो "प्रसन्नता" है उसपर ज़ोर देने के लिये वे यह अनुवाद देते हैं। इसलिये यही अच्छा है कि सब लोग इस गुण के इस अर्थ पर मनन (Meditation) करें इसके बाद एकनिष्ठा (एकाग्रता) आती है। इसे संस्कृत में समाधान कहा है, जिसे मैं 'संतुलन' (Balance) समता कहती आई हूँ, यहाँ भी दोनों का भावार्थ एक ही है। क्योंकि एकनिष्ठ मनुष्य ही समत्ववान होता है और समत्ववान ही एकनिष्ठ। अंत में श्रद्धा आती है, जिसमें सदा विश्वास (faith) कहती रही हूँ। यहां इसे "पूर्ण भरोसा रखने" के अर्थ में (Confidence) कहा है।

इनके भावार्थ में तो यहाँ पर भी परिवर्तन नहीं है, क्योंकि मैंने विश्वास का अर्थ सदा अन्तर्स्थित ईश्वर में एवं श्री गुरुदेव में अखंड विश्वास का होना ही बताया है। शब्दों की समानता और असमानता को ध्यान में रखना अच्छा है, क्योंकि इससे हमें अर्थ को भलीभाँति समझने में सहायता मिलती है।

"मन का निग्रह—वैराग्य का गुण हमें यह बताता है कि वासना शरीर पर हमारा निग्रह अवश्य होना चाहिये और यही बात मनशरीर के लिये भी लागू होती है। इसका अर्थ है अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करना, ताकि तुम्हें तनिक भी क्रोध और अधीरता का भाव न हो; मन पर निग्रह होना, ताकि तुम्हारे विचार सदा शांत और स्थिर रह सके; और (मन के द्वारा) शरीर की स्नायुयों पर नियंत्रण रखना, ताकि वे यथासंभव कम उत्तेजित होने पाये।"

लेडवीटर—स्वभाव पर विजय प्राप्त करना अवश्य ही हमारे लिये एक कठिन बात है, क्योंकि विकास के क्रम में उन्नति करने के लिये सांसारिक जीवन के मध्य में रहते हुये ही हम नवीन प्रयोग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। (जिसका अर्थ है अपने सब शरीरों को निर्मल बना कर उनकी चेतना शक्ति को अधिकाधिक सूक्ष्म बनायें)। इन सब कठिनाइयों के ही कारण हमारी विजय अधिक महान् होगी, क्योंकि इन कठिनाइयों को पार करना यह प्रकट करता है कि हमने अपनी इच्छा शक्ति की वृद्धि करने में साधु या सन्यासियों से भी अधिक उन्नति की है।

कभी कभी लोग क्रोध के भाव को तो निर्मूल कर देते हैं, फिर भी बाह्य शरीरों पर पूर्णरूप से नियंत्रण करना

उन्हें कठिन जान पड़ता है; उनमें अभी भी अधीरता की अस्थिरता बनी रह सकती है चाहे उनके भीतर की वह भावना जो उनके अधीरता की आधार है सचमुच में सर्वथा नष्ट भी हो चुकी हो। यह उतना बुरा नहीं है जितना यह कि वैसी भावना तो रहे पर प्रकट न हो; किंतु हमें तो इस प्रकार इसे प्रकट करना भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि यह दूसरों को भ्रांति में डाल देती है। यदि आप एक सड़क पर जाने वाले सामान्य श्रेणी के मनुष्य के वासनाशरीर को दिव्यदृष्टि द्वारा देखें, तो आपको प्रतीत होगा कि उसका समस्त वासनाशरीर एक आन्दोलित पिंड है और इसमें निश्चित आकार, स्पष्ट रंग और उसके उस शरीर में यथोचित प्रसार होने के स्थान पर वासना शरीर के ऊपरी सतह पर पचास या साठ छोटे छोटे चक्कर या भंवर प्रबल वेग से चलते रहते हैं, और प्रत्येक भंवर अपनी गति के वेग के कारण एक उभरी हुई गांठ के समान दिखाई देता है। यदि आप इन छोटे छोटे चक्करों की परीक्षा करें तो आपको विदित होगा कि यह सब क्रोध के उबाल से, छोटी छोटी चिंताओं की उद्विग्नता से, अथवा रोष, ईर्ष्या, स्पृहा और घृणा की भावनाओं से भी, जो पिछले अँड़तालीस घंटों के भीतर मनुष्य के मन में आई हों, उत्पन्न होते हैं। बड़े बड़े भंवर, जो कि अधिक देर तक बने रहते हैं, किसी एक ही व्यक्ति के विषय में एक ही बात को बारंबार सोचते रहने के कारण उत्पन्न होते हैं।

जब तक मनुष्य ऐसी दशा में रहता है उसे स्पष्टता पूर्वक स्थिरता से विचार करना जो अन्यथा सम्भव होता सर्वथा असम्भव हो जाता है। यदि वह किसी विषय

पर सोचना या लिखना चाहता है, तो उसके विचार अवश्य ही इन भंवरियों के कारण बेबस तथा विकृत हो जायेंगे; चाहे वह उन भावनाओं को भूल ही चुका हो जो इनकी उत्पत्ति का कारण बनीं थीं। मनुष्य अपनी इन उद्विग्नतामूलक भावनाओं को तो भूल जाता है और यह नहीं जानता कि उनका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। बहुत से लोग अपने उन भंवरियों के समूह को उसी परिमाण में सदा बनाये रखते हैं।

पक्षपात पूर्ण अन्ध धारणायें भी इसी प्रकार वासना लोक और मनोलोक सम्बन्धी दिव्यदृष्टि द्वारा स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। मानसिक शरीर का पदार्थ सब अंशों में तो नहीं परन्तु मानसिक शरीर के किसी किसी खंड या क्षेत्र में तीव्र गति से घूमता रहना चाहिये। बहुधा अपने घनेपन के अनुसार यह अपने को एकत्रित कर लेता है, जिससे यह गाढ़ा पदार्थ कुछ सीमा तक चारों ओर चक्कर लगाता हुआ इस अंडाकार मनशरीर के निम्न भाग की ओर आकर्षित होता रहता है। अतः जिन मनुष्यों में स्वार्थपूर्ण विचार और भावनायें अधिक मात्रा में रहती हैं, वे तो चौड़े भाग पर खड़े हुये एक अंडे के समान दिखाई देते हैं, और जो लोग निःस्वार्थी और आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत होते हैं वे नोकिले भाग पर खड़े हुये अंडे के समान दीख पड़ते हैं। मस्तिष्क के चार विभागों की भाँति मनशरीर के भी चार खंड होते हैं, जो विशेष प्रकार के विचारों से सम्बन्ध रखते हैं।

एक अत्यन्त अनुदार धार्मिक विचार वाले मनुष्य की कल्पना कीजिये। उसके मानसिक शरीर का पदार्थ उस

विशेष भाग में स्वतंत्रतापूर्वक चक्कर लगाने के स्थान पर एक ही जगह इकट्ठा होता जाता है, यहाँ तक कि वह एक ऊँचा ढेर सा बन जाता है, और तब यह सड़ कर नष्ट होने लगता है। क्योंकि उसके धार्मिक विषय के विचार को मानसिक शरीर के इस भाग में से गुज़रना ही पड़ता है। अतः वह कभी यथार्थ नहीं रह सकता, क्योंकि इसके कंपन मनशरीर को जकड़ें रहने वाली उस व्याधि द्वारा जिसे हम ठीक मानसिक रोग कहकर ही पुकार सकते हैं, प्रभावित हुये विना नहीं रहते। जब तक कि वह मनुष्य चेष्टा करके विचारपूर्वक संयम और मन की पवित्रता द्वारा अपनी चिकित्सा न करले, तबतक उसके विचारों में दुराग्रह पूर्ण पक्षपात का आना निश्चित है। केवल तभी वह सत्य विचार करना सीख सकता है, अर्थात अपनी संपूर्ण योजना को पूर्णतया जानने वाले ईश्वर के समान ही सब वस्तुओं को देखना सीख-लेता है।

यह आवश्यक नहीं कि यह दुराग्रहपूर्ण पक्षपात सदा किसी व्यक्ति या वस्तु के विरुद्ध ही हो, वल्कि बहुधा तो यह उनके पक्ष में ही हुआ करता है। तब भी यह असत्य का ही एक रूप है, और मनुष्य के तेजस (aura) में वैसी ही मलीनता प्रकट करता है। इसका अतिसाधारण उदाहरण वह माँ है जो यह विश्वास कर ही नहीं सकती कि उसके बालक जैसा कोई और बालक भी सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आजतक कभी हुआ है। दूसरा उदाहरण उस कलाकार का है जो अपनी कला के अतिरिक्त अन्य किसी की भी कला में कोई अच्छाई देखने में असमर्थ रहता है।

आध्यात्मिक शक्ति के दृष्टिबिंदु से विचार करें तो ये सब बातें उस खुले हुये घावके समान हैं जिसमें से मनुष्य की इच्छाशक्ति निरन्तर व्यर्थ ही टपकती रहती है। यह स्थिति तो एक साधारण मनुष्य की होती है, किंतु जब आप को कोई ऐसी प्रकृति का मनुष्य मिलता है, जो स्वभावतः ही छोटी २ चिंताओं से उद्विग्न होता है, तो उसकी दशा तो आपको और भी हीन मिलेगी। ऐसा मनुष्य तो सम्पूर्णतया एक घाव ही है, जिसकी समस्त शक्ति नष्ट हो चुकी है, तनिक भी शेष नहीं रही। यदि हम अपनी शक्ति को बचाये रख कर उसके द्वारा भले कार्य करना चाहते हैं—और यदि हमको आध्यात्मज्ञानी बनना है, और हमारी यही भावना होनी भी चाहिये—तो हमारा प्रथम कार्य यह होना चाहिये कि हम अपनी शक्ति नष्ट होने के सभी स्रोतों पर अवरोध लगादें। मान लीजिये कि हम कहीं पर लगी हुई अग्नि को बुझाना चाहते हैं, तो हमारे पास पानी का फव्वारा अवश्य होना चाहिये, हमें इस फव्वारे को इसके सम्पूर्ण वेग से छोड़ना होगा, किंतु इसके साथ ही पानी की टोंटी और और नल में भी कोई छेद न होना चाहिये। इसका दृष्टान्त हमारे लिये है, "स्थिरता एवं मनोनिग्रह।"

एक साधारण मनुष्य में या तो बहुत थोड़ी इच्छाशक्ति होती है अथवा बिल्कुल नहीं होती। जब कोई संकट आता है तो वह दृढ़ संकल्प से निश्चयपूर्वक उसका सामना न करके उससे हार मानकर रोने चिल्लाने लगता है। इस दुर्बलता के दो कारण हैं। प्रत्येक मनुष्य में शक्ति उतने ही अंशों में आती है, जिस सीमा तक उसने आत्मा-

नुभव किया हो, अर्थात् ब्रह्म को अपने अन्तर में प्रत्यक्ष किया हो। हमारी मूल प्रकृति में तो हम सभी में एक समान शक्ति है, किंतु मनुष्य में भिन्नता उसी सीमा तक होती है जहाँ तक उसने अपने भीतर दैवी शक्ति को प्रत्यक्ष किया है। साधारण मनुष्य ने उस शक्ति की अधिक वृद्धि नहीं की, बल्कि जो शक्ति उसमें है उसे भी व्यर्थ गँवाता रहता है।

हममें से बहुत से लोग श्री गुरुदेव के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये एवं अन्य बहुत से कल्याणप्रद प्रभावों को अपने स्थूल मस्तिष्क के द्वारा अनुभव करने के लिये और अधिक पूर्णता से इच्छुक होंगे। ऐसा प्रभाव हमारे भिन्न-भिन्न शरीरों द्वारा ही नीचे के लोकों में उतरना चाहिये, और एक के द्वारा दूसरे शरीर में प्रतिबिंबित होना चाहिये। एक झील या नदी के किनारे पर के वृक्षों को देखिये, यदि जल पूर्णतया शान्त है तो हम उसमें उनके पूरे प्रतिबिम्ब को देखते हैं जिसका एक-एक पत्ता तक दिखाई देता है। किंतु जल की एक तनिक सी लहर भी उस चित्र को नितान्त विकृत कर देती है। और यदि इसमें तूफान आजाये तब तो यह सर्वथा नष्ट ही हो जाती है। यही बात वासना शरीर और मन शरीर के लिये भी सत्य है। यदि हम चाहते हैं कि इनके द्वारा उत्तम और उपयोगी शक्तियाँ अपने में प्रवाहित हों, तो उन्हें शान्त और स्थिर रखना ही चाहिये। लोग लगातार पूछते ही रहते हैं कि "हम उन सब बातों को याद क्यों नहीं रख सकते जो हम निद्रावस्था में करते हैं।" इसका एक कारण यह भी है कि हमारे सब शरीर यथेष्ठ शान्त अवस्था में नहीं रहते। संभव है यह थोड़ी बहुत

शक्ति प्रवाहित करने के लिये यदा कदा कुछ शान्त बन जाये, किंतु तब भी प्रायः उनका अनुभव कुछ न कुछ विकृत ही रहता है, क्योंकि उनके साधनयन्त्र (शरीर) पूर्ण रूप से स्वच्छ नहीं हैं। यह तो वैसा ही है जैसे किसी वस्तु को बढ़िया चैारस शीशे में से देखने के स्थान पर बोतल के गोल कांच में से देखा जाये, जिसमें कि उन वस्तुओं का अनुपात सर्वथा बदल जाता है।

जब हम शान्त प्रकृति के बन जाते हैं तो उपद्रवों और कष्टों के बीच में भी रहकर कार्य कर सकते हैं। अवश्य ही ऐसी परिस्थितियों में शरीरों को शान्त बनाये रखना एक भारी श्रम का काम होता है। और यह श्रम इतना कड़ा होता है कि कुछ लोग तो ऐसा कर ही नहीं सकते। किंतु उन्हें यह शक्ति क्रमशः अवश्य प्राप्त करनी चाहिये।

एक योगी (occultist) आत्म-निग्रह द्वारा एक ही साथ दो लोकों में कार्य करना सीख लेता है, अर्थात् स्थूल लोक में कार्यशील रहते हुए अंशतः इस शरीर से विलग भी हो सकता है और इस प्रकार स्थूल शरीर द्वारा लिखते या बोलते समय अपने वासना शरीर द्वारा अन्य कार्य भी कर सकता है। उदाहरणार्थ, मैंने लोगों से सुना है कि मैं जब भाषण करता रहता हूँ तो उस समय अनेक श्रोताओं ने काम-लोक के प्राणियों को मँच पर आकर खड़े हुए और मुझसे बात करते हुये देखा है। यह सच भी है; कभी कभी भाषण होते समय ये प्राणी अपने कुछ प्रश्नों के उत्तर की कामना से अथवा किसी कार्य को करवाने की आकांक्षा से इस प्रकार आया करते हैं। यह तो एक छोटा सा और क्षणिक उदाहरण है। किंतु बहुत बार ऐसे बड़े और

महत्व पूर्ण कार्य करने को होते हैं जिनके करने के लिये एक योगी (Occultist) इस विलक्षण विधि द्वारा अपनी चेतना का उपयोग करता है।

एक साथ दो कामों में मन को एकाग्र करने का यह प्रयोग किसी अंश तक कभी-कभी साधारण जीवन में भी किया जाता है। अनेक स्त्रियाँ बात करते हुये ही बुनाई का काम भी कर सकती हैं, क्योंकि बुनाई को वे यन्त्रवत् करती रहती हैं। लंडन के एक बहुत बड़े बैंक से मेरा बहुत काम पड़ा करता था। वहां मैंने बहुत से ऐसे मनुष्य देखे हैं जो शीघ्रता और सावधानी पूर्वक लम्बे-लम्बे अंकों के जोड़ भी करते जाते थे और साथ ही साथ अपने साथियों के मनोरंजन के लिये गाते भी जाते थे और वे इस कार्य में अभ्यस्त हो गये थे। मुझे स्वीकार करना चाहिये कि मेरे लिये ऐसा करना असम्भव होगा, किंतु मैंने ऐसा किये जाते हुये बारम्बार देखा है।

ऐनी बेसेंट—'वैराग्य' खण्ड में श्री गुरुदेव ने वासना-शरीर और इसकी अनेक प्रकार की इच्छाओं के निरोध का वर्णन किया है, और 'विवेक खण्ड में उन्हों ने सत्य पर बहुत जोर दिया है जिसके अन्तर्गत मनसशरीर की पवित्रता भी है। अब वे मनोनिग्रह एवं भावनाओं के निरोध का और भी वर्णन करते हैं। भावना विचार और इच्छा का ही संयोग है। विचार के तत्व द्वारा परियाप्त इच्छायें ही भावनायें होती हैं। दूसरे शब्दों में विचार मिश्रित इच्छायें ही भावनायें कहलाती हैं। यहाँ पर जब श्री गुरुदेव स्वभाव को वश में करने की बात कहते हैं तो उनका आशय भावनाओं से ही है, क्योंकि अधीरता इत्यादि

भावनाओं की उत्पत्ति अंशतः तो वासनाशरीर से होती है और अंशतः मानसिक शरीर से। जिसे योगी (Occultist) बनना है उसे अपने को भावनाओं के वेग में नहीं बहने देना चाहिये। क्योंकि जब तक स्वभाव पर विजय प्राप्त नहीं होगी—ताकि उसकी भावनायें अस्थिर न हों, तब तक वह स्थिरता और स्पष्टता पूर्वक विचार करने में समर्थ नहीं होगा। भावनाओं के कंपन मनसशरीर के अमिश्रित पदार्थ में अपने अनुरूप उत्तेजना उत्पन्न कर देंगे और मनुष्य के समस्त विचार उद्विग्न और विकृत हो जायेंगे। अतः वह वस्तुओं का शुद्ध रूप देखने में असमर्थ होगा।

तत्पश्चात् श्री गुरुदेव कहते हैं कि विचार भी शान्त और स्थिर होना चाहिये। यह आवश्यक है, क्योंकि इस प्रकार की स्थितियों में ही उच्च मनोलोक का प्रभाव नीचे के मनस् पर डाला जा सकता है। मेरी समझ में "आध्यात्मजगत्" (ऑकल्ट वर्ल्ड Occult wrld) नामक पुस्तक में ही मिस्टर सिनेट ने इन्हीं गुरुदेव का एक पत्र उद्धृत किया है जिसमें श्री गुरुदेव ने उन्हें बताया है कि कि यदि वह उपयोगी लेख लिखना चाहते हैं तो उन्हें अपने मनस् को अवश्य ही शान्त रखना चाहिये, तभी उच्च मनस् के विचार नीचे के मनस् में उसी प्रकार प्रतिविम्बित होंगे, जैसे पर्वत एक शांत झील में प्रतिविम्बित होता है।

यदि आप किसी गंभीर विषय पर कोई पत्र लिखना चाहते हैं अथवा ब्रह्मविद्या जैसे किसी विषय पर लेख लिखना चाहते हैं, तो यह एक अच्छा साधन है कि कुछ मिनटों तक मौन बैठ जाइये और इस प्रकार पहिले अपने को स्थिर करके फिर कार्य आरम्भ कर दीजिये। यह

समय का अपव्यय नहीं है, क्योंकि लिखना आरम्भ करने पर आपको विदित होगा कि अपनी विचारधारा शांति पूर्वक विना किसी प्रयास के ही वही चली जा रही है। तव आपको आगे क्या लिखना है यह विचार करने के लिये वीच वीच में ठहरना न होगा; आपके उच्च मनस् का नीचे के मनस् रूपी दर्पण में प्रतिविम्वित होने के कारण से ही ऐसा होना संभव होगा। यह अभ्यास विशेष करके उनके लिये मूल्यवान है जो अभी तक इच्छानुसार वाह्य वस्तुओं को मन में आने से रोक नहीं सकते।

वाहरी विघ्न-वाधाओं को भी एकाग्रता के अभ्यास का साधन वनाया जा सकता है। जव मैं वालिका थी तो मेरे पढ़ने की व्यवस्था एक ऐसे कमरे में की गई थी जिसमें अन्य वालकों को भिन्न भिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। धीरे धीरे मुझे वह सामर्थ्य प्राप्त हो गई कि अपने चारों ओर दूसरे कार्यों के होते हुए भी मैं अपना कार्य कर सकती थी। फलतः अव मुझे अपना कार्य करने में निकट-वर्ती किसी भी घटना से वाधा नहीं पहुँचती। यद्यपि मैं स्वीकार करती हूँ कि गणना करने का काम ऐसी स्थिति में मैं अव भी नहीं कर सकती। मैं अपनी अध्यापिका मिस मैरियट के प्रति सदा ही इसके लिये कृतज्ञ रही हूँ। अभ्यास से शक्ति प्राप्त होती है और फिर वह शक्ति अनेक प्रकार के कामों में उपयोगी होती है। उदाहरणार्थ, मैंने देखा है कि जव मैं अल्कियोनी के एक जीवन का वृत्तांत लिख रही थी, तव मैं अंशतः अपने स्थूलशरीर से वाहर होकर भी इस शक्ति का उपयोग कर सकती थी।

एक भारतीय कुटुम्व में यह शक्ति अनायास ही विक-

स्थित हो जाती है क्योंकि वहाँ एक ही कमरे में नाना प्रकार के कार्य करने की चाल है। वहाँ बच्चे इधर-उधर दौड़ते फिरते रहते हैं और अन्य अनेक छोटे मोटे काम भी होते रहते हैं। गाँव के स्कूल और घर में बहुत से बालकों को एक ही समय में कई प्रकार की शिक्षायें दी जाती हैं। प्रत्येक बालक अपना-अपना विशेष विषय ज़ोर से पढ़ता है, और तिस पर भी उनका अध्यापक उन्हें बराबर सुनता है और अशुद्धियाँ करने पर उनका संशोधन भी करता रहता है। मैं यह नहीं सोचती कि किसी विशेष विषय की शिक्षा देने की यह कोई आदर्श प्रणाली है, किंतु इस प्रकार से बालक एकाग्र होना अवश्य सीख लेते हैं, जो आगे चलकर उनके लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

यदि आप इस एकाग्रता की शक्ति को प्राप्त कर सकें तो अच्छा ही है। अस्तु, यदि आपको कोलाहल के मध्य में रहना पड़े तो असंतोष प्रगट मत कीजिये। वरन् उस परिस्थिति से लाभ उठाइये। योगविद्या का विद्यार्थी इसी प्रकार कार्य करता है। मैंने विशेषरूप से इसका वर्णन इसलिये किया है कि इसी प्रकार के साधनों द्वारा मनुष्य योगी (occultist) बनता है। कठिन परि-स्थितियों के भीतर कार्य करना सीख लेने का अर्थ ही उन्नति करना है। यह भी एक कारण है जिस लिये कि हममें से कुछ ने तो उन्नति करली है और कुछ नहीं कर पाते। मैंने स्वयं भी असंतोष प्रगट करने के स्थान पर सदा परिस्थिति का सामना करने की चेष्टा की है। इस प्रकार मनुष्य प्रत्येक अवसर से लाभ उठा सकता है।

'यह अंतिम बात कठिन है, क्योंकि इस पथ पर चलने के लिये अपने को तय्यार करने की चेष्टा करते हैं तो अपने शरीर को भी शीघ्र उत्तेजनीय (sensitive) बनने से नहीं बचा सकते। इसकी स्नायू किसी भी शब्द अथवा आघात से उत्तेजित हो जाती हैं और प्रत्येक बात का प्रभाव उन पर अधिक प्रबलता से पड़ने लगता है; किंतु फिर भी तुम्हे इसका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये।"

एनीबेसैंट—श्री गुरुदेव कहते हैं कि अपनी स्नायुयें पर नियंत्रण रखना कठिन है। यह इसलिये कि इस स्थूलशरीर पर हमारे विचारों का प्रभाव सबसे कम पड़ता है। आप अपने वासना-शरीर और मनसशरीर को अपेक्षाकृत अधिक सुगमता से प्रभावित कर सकते हैं, क्योंकि वे शरीर उन सूक्ष्म पदार्थ से निर्मित हैं जिस पर विचारों का प्रभाव अधिक पड़ सकता है। परन्तु यह भारी स्थूल पदार्थ का कम अनुकूल होने के कारण नियंत्रण में रहना अधिक कठिन है। तथापि धीरे-धीरे इसे भी अपने अधीन अवश्य कर लेना चाहिये।

साधक को शीघ्र प्रभावित होने वाला (sensitive) तो होना चाहिये, किंतु साथ ही अपने शरीर और स्नायुयें पर भी पूर्ण नियंत्रण रखना चाहिये। यह प्रभावित होने की शक्ति जितनी ही अधिक होगी, कार्य भी उतना ही कठिन होगा; ऐसे ऐसे बहुत से शोरगुल होते हैं जिन पर एक साधारण मनुष्य का तो ध्यान हो नहीं जाता, किंतु शीघ्र उत्तेजनीय (sensitive) व्यक्ति के लिये ये यंत्रणादायक हो जाते हैं। कुछ रोग भी ऐसे होते हैं जिनसे स्नायुओं में अत्यधिक प्रभावशीलता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में मनुष्य का शरीर एक कुत्ते के भौंकने से भी कंपित हो सकता

है। यह उदाहरण यह बताने के लिये परियाप्त है कि स्नायू की चेतनता किस सीमा तक तीक्ष्ण बन सकती है।

योगविद्या के विद्यार्थी की स्नायू रोगग्रस्त नहीं होतीं, यदि ऐसा होता तो वह साधना नहीं कर सकता— वरन् वह तो कसे हुये तारों के उस वाद्ययंत्र के समान हो जाता है जो तनिक से स्पर्श से ही गुंजित हो उठता है। इस प्रकार उसकी स्नायू इतनी अधिक उत्तेजनीय बन जाती हैं कि उसे अपने चिड़चिड़ेपन को रोकने के लिये विपुल इच्छाशक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इन परिस्थितियों में किसी किसी व्यक्ति के लिये शरीर की तकान इतनी अधिक हो सकती है कि—कभी २ श्रीमती ब्लावैडस्की की शरीर की तरह उसके शरीर को उसकी इच्छा के अनुसार ही चलने देने के लिये छोड़ देना अधिक बुद्धिमत्ता होती है अन्यथा अतिशय जोर पड़ने पर उसके खंड-खंड हो जायें। श्रीमती ब्लावैडस्की के लिये अपने शरीर को बनाये रखना अनिवार्य था ताकि वे अपने हाथ में लिये हुऐ कार्य को पूर्ण कर सकें। अतः उस परिश्रम के कारण वे अपने शरीर को विनष्ट नहीं होने दे सकती थीं। तौभी उनकी बात एक अपवाद रूप ही थी। जो जिज्ञासु श्री गुरुदेव की शिक्षा का अनुसरण करना चाहते हैं उन्हें तो जो कुछ यहाँ कहा गया है उसी के अनुसार चलना चाहिये और अपनी स्नायुयों पर नियंत्रण पाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। वह वारम्वार असफल हों तब भी कोई चिंता नहीं। इस विषय पर श्री गुरुदेव के अंतिम शब्द ये हैं कि "तुम्हें यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये।" वे केवल इतना ही चाहते हैं।

अतः असफलता से हतोत्साह न होकर यथाशक्ति प्रयत्न करते चले जाइये।

कभी-कभी शुद्ध विवेक और अन्तःकरण की अत्युक्ति होने के कारण मन की अशान्त अवस्था ऐसी भीतर से ही उत्पन्न हो सकती है, जिसके पंजे में उत्साही साधक आ जाते हैं। साधकों में प्रायः दो प्रकार की प्रवृत्तियां रहती हैं—एक तो असावधान रहने की, और दूसरे अपने आप को यातना पहुँचाने की। इस दूसरी प्रवृत्ति के लोगों का अन्तःकरण (Conscience) की अवस्था उस बिन्दु तक पहुँच सकती है जहाँ इसकी दशा सीमा से अधिक क्लान्तस्नायु की सी हो जाये। इस प्रकार बहुधा ऐसा होता है कि सर्वश्रेष्ठ साधक अपनी छोटी-छोटी असफलताओं को भी बहुत अधिक तूल देने लग जाते हैं। बैठे-बैठे उन बातों पर सोचते मत रहिये नहीं तो सोचते २ ये हो छोटी २ बातें गम्भीर अपराध का आकार धारण कर लेंगी। इन दो पराकाष्ठाओं के मध्यवर्ती मार्ग को अपनाइये। किसी घटना के पूर्व आप सम्भावना से अधिक विवेकशील नहीं बन सकते थे, किंतु घटना के बाद आप अपने को आसानी से बहुत अधिक दुखी बना ले सकते हैं। अपने दोषों और असफलताओं पर चिन्तन करते मत रहिये। केवल उनके कारण पर दृष्टिपात कीजिये कि आप असफल क्यों हुए और तदुपरान्त फिर से प्रयत्न करने लग जाइये। ऐसा करने से आप अपनी उन प्रवृत्तियों को नष्ट कर देंगे जो आपको उस ओर ले जाने का कारण थीं, किंतु उनके विषय में सोचते रहने से आप उन प्रवितियों को नवीन शक्ति प्रदान करेंगे।

लेडबीटर—इस स्थूल शरीर पर मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रभाव सबसे कम रहता है। लोग कहते हैं कि 'आप स्थूल शरीर द्वारा किसी काम को सीख सकते हैं अपनी भावनाओं पर भी नियन्त्रण रख सकते हैं, किंतु विचारों पर नियन्त्रण बहुत कठिन है।" मैं जानता हूं कि यह एक प्रचलित विचार है कि विचारों का नियंत्रण सबसे कठिन है, और एक प्रकार से यह बात ठीक है क्योंकि मनस-शरीर का पदार्थ अधिक सूक्ष्म और अधिक क्रियाशील है। अतः विचारों की गति और उसकी मूल उत्पत्ति का नियंत्रण अवश्य कठिन है; किन्तु दूसरी ओर मनस-शरीर जीवात्मा के अधिक समीप है, अतः उसके कहीं अधिक नियंत्रण में है; उसके पास स्थूल लोक से व्यवहार करने के लिये जितनी शक्तियां हैं उससे बहुत अधिक शक्तियां ऐसी हैं जिनसे कि मनोलोक के पदार्थों को ग्रहण करके उनसे व्यवहार कर सकता है; इसके अतिरिक्त स्थूललोक का पदार्थ होता भी कम अनुकूल है। लोग मनस-शरीर की अपेक्षा स्थूलशरीर का ही निग्रह करने के अभ्यस्त हैं, इसीसे वे इसे अधिक सहज समझते हैं।

यह बहुधा कहा जाता है कि आप शारीरिक कष्ट को तो सह ले सकते हैं, किंतु मानसिक कष्ट की अवज्ञा नहीं कर सकते। किंतु वास्तव में इससे ठीक विपरीत बात ही सत्य है। यदि मनुष्य मानसिक या भाविक वेदना को समझ ले और उसे अपने मन से निकाल दे तो उस कष्ट का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता, किंतु एक भयानक शारीरिक कष्ट की अवज्ञा करना अत्यन्त कठिन है, यद्यपि मानसिक तत्व को इससे हटा लेने पर यह बहुत अंशों

में लुप्त हो सकता है। क्रिश्चियन वैज्ञानिक दृढ़तापूर्वक यह कल्पना करके कि 'कष्ट है ही नहीं,' ऐसा किया करते हैं; इस प्रकार विचारों के संयोग के अभाव में कष्ट केवल शरीर में ही रह जाता है, जो अपेक्षाकृत तुच्छ होता है।

हमें मन का निग्रह करना सीखना चाहिये ताकि शारीरिक कष्ट में से उसके मानसिक अंश का लोप हो जाये, क्योंकि श्री गुरुदेव के शिष्यों की भांति हमें अपने को अतिशय प्रभावशील (Sensitive) बनाना है। तब एक ऐसे मनुष्य के समीप बैठना भी दुखदायक हो जाता है जो मादक द्रव्यों का सेवन करता हो, तम्बाकू पीता हो, अथवा मांस खाता हो; तब शरीर के भीतर किसी भीड़-भाड़ वाली सड़क के सब प्रकार के घोर कोलाहल में जाना भी एक वास्तविक यंत्रणा बन जाती है। यह शोरगुल मनुष्य के शरीर में जाकर उसे कंपा देता है, किंतु यदि मनुष्य उसका विचार भी करने लगे तब तो यह उसे और भी दारुण बना देता है, जब कि यदि उस पर ध्यान ही न दिया जाये तो उसका भान कम होता है। जो शिष्य उच्च लोकों में पहुँचने का प्रयत्न करता है, उसे इस कष्ट में से अपने मानसिक अंश को हटाना सीख लेना चाहिये, और अपने विचारों को इसमें नहीं जोड़ देना चाहिये जो इसे और भी प्रबल बनाते हैं।

जो लोग ध्यान करने का अभ्यास करते हैं उन्हें ज्ञात हो जायेगा कि ध्यान न करने वालों की अपेक्षा वे अधिक उत्तेजनीय हैं और इसी कारण उनके स्थूलशरीर पर कभी कभी बहुत अधिक ज़ोर पड़ता है। कभी कभी यह सुनने में आता है कि श्रीमती ब्लावैड्स्की को क्रोध का आवेग

आया करता था। निश्चय ही इसका एक स्पष्ट कारण है, क्योंकि दुर्भाग्य से उन्हें बहुत ही अस्वस्थ शरीर मिला था; संभवतः एक घंटे का समय भी ऐसा न बीतता होगा जिसमें कि वे किसी दारुण शारीरिक वेदना से रहित रही हों। उनका शरीर वृद्ध था तथा रुग्ण और जीर्ण हो गया था, किंतु उन्हें जिस विशेष कार्य को संपूर्ण करना था उसके लिये केवल वही एक शरीर प्राप्य था। अस्तु, उनको उसे सुरक्षित रखना ही था। वे उसे त्याग नहीं सकती थीं, जैसा कि हममें से बहुत से कर सकते। एक बार उन्हें ऐसा करने के लिये अवसर भी दिया गया, किंतु वे बोलीं कि "नहीं जब तक मैं 'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (गुप्त सिद्धान्त) नामक पुस्तक का लिखना समाप्त न कर लूं, तब तक इसे रखूंगी"—इसी पुस्तक के लिखने के कार्य में वे उस समय संलग्न थीं। इसका अर्थ यह था कि उनका स्थूलशरीर अत्यन्त श्रमित अवस्था में था, ओर उसे विश्राम देने के लिये वे कभी कभी उसे उसी की इच्छानुसार चलने देती थीं। अवश्य ही बहुत से लोग इसे नहीं समझते थे। किंतु हम लोग जो उनके साथ रहते थे, यह जानते थे कि इन बातों का बहुत महत्व नहीं। ऐसी बहुत सी विचित्र घटनायें हमारे सामने हुई हैं। उदाहरणार्थ, नितांत तुच्छ सी बात पर क्रोधित हो कर वे बहुत बुरा-भला कह देती थीं; किंतु उस समय जहां कि नये लोग उनसे भय-भीत होकर सहम जाते थे, वहां हमें यह ज्ञात था कि उस उत्तेजना के मध्य में यदि अचानक उनसे कोई दार्शनिक प्रश्न पूछ लिया जाता तो वह सारी स्थिति कैंची से धागा काट देने के समान ही बदल जाती थी; क्रोध तुरन्त ही लुप्त हो जाता और वे प्रश्नों के उत्तर देने लगतीं। साधारण

२०

क्रोध की अवस्था में मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। अनेक लोगों ने उन्हें गलत समझा और उनसे दूर चले गये किन्तु मैं जानता हूं कि उन्हें कभी-कभी शरीर को इस प्रकार अबाध छोड़ देना पड़ता था अन्यथा वह विनष्ट हो जाता।

"शान्त मन का अर्थ साहस से भी है, जिससे कि तुम निर्भय होकर इस पथ की परीक्षाओं और कठिनाइयों का सामना कर सको।"

एनीबेसेंट—साहस के गुण को हिन्दुशास्त्रोंने अतिशय महत्व दिया है। आत्मा की एकता का ज्ञान ही इसका मूल है। कहते हैं कि 'जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया उसके लिये भय और भ्रम कहां। इसी लिये "ब्रह्म को अभय ब्रह्म" कहा जाता है। "इन दी आउटर कोर्ट" (In the Outer Court) नामक पुस्तक में मैंने साधकों को आदर्शचरित्र के उन गुणों पर नित्य ध्यान करने की अनुमति दी है, जिनका वर्णन भगवान् श्री कृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय के आरम्भ में किया है। वहां पर भगवान् ने साहस या निर्भयता को ही प्रथम गुण बताया है।

जब यह बोध हो जाता है कि आप आत्मा हैं, यह बाह्य शरीर नहीं, और केवल यह बाह्यशरीर ही आपके ऐसे अंग हैं जो आहत हो सकते हैं, तब इस बोध के द्वारा साहस की उत्पत्ति होती है। मनुष्य के आत्मविकास की भिन्न भिन्न श्रेणियों के अनुसार ही उसकी शक्तियों में भी भेद होता है। मूल में तो हम सब एक ही समान शक्तिशाली हैं, किंतु विकासक्रम की भी श्रेणियाँ होती हैं। जब आपको यह अनुभूति हो जाती है कि आप ही आत्मा हैं तब आप यह जान लेते हैं कि दुर्बलता अथवा बल दोनों ही आपके

आत्मविकास के परिणाम पर निर्भर हैं। अस्तु, जब आपको भय प्रतीत हो तो अपने अन्तर की शक्ति का आवाहन कर के उसी का आश्रय लीजिये।

यह आत्मानुभूति आपको ध्यान के द्वारा प्राप्त करनी चाहिये। जो लोग प्रातः ध्यान करते हैं उन्हें उस समय अपना आत्म रूप पहिचानने का प्रयत्न भी करना चाहिये। उस प्रयत्न द्वारा जो शक्ति उन्हें प्राप्त होगी वह दिन भर उनके साथ रहेगी। उससे उन्हें उस अभय को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी, जो आत्मोन्नति करने के लिये एक आवश्यक वस्तु है। इस पथ पर अनेक कठिनाइयां हैं, जिनका सामना करने और जिन पर विजय पाने के लिये पौरुष और धैर्य की आवश्यकता है और ये गुण साहस के ही रूपान्तर हैं। इस पथ पर चलने में बहुत सी अद्भुत बातों का सामना करना पड़ता है जिनके लिये भी अभय या साहस की आवश्यकता है और मैं नहीं जानती कि आत्मानुभूति के अतिरिक्त इस गुण को प्राप्त करने का कोई और उपाय भी है।

लेडबीटर—योग-विद्या-शिक्षण की सभी प्रणालियों में साहस की आवश्यकता को बहुत महत्व दिया गया है। इस पथ पर अग्रसर होने पर मनुष्य को मिथ्या वर्णन, मिथ्या आक्षेप, और मिथ्या बोध का सामना करना ही पड़ता है। जिन लोगों ने जनसाधारण से ऊपर उठने की चेष्टा की है उनका सदा ऐसा ही भाग्य रहा है। इन बातों का सामना करने के लिये, तथा अपनी स्थिति को स्थिर रखने के लिये, एवं लोगों के कहने, सोचने और करने की कुछ भी परवाह न करते हुये जो उचित हो उसी का अनुसरण करने

के लिये नैतिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इस
पुस्तक की शिक्षा पर आचरण करने के लिये ऐसी ही शक्ति
तथा विपुल पौरुष और संकल्प की आवश्यकता है।

वास्तविक शारीरिक साहस की भी आवश्यकता है।
इस पथ पर ऐसी कितने ही खतरे और कठिनाइयाँ
हैं जो साँकेतिक अथवा केवल उच्च लोकों की कदापि नहीं
है। हमारी उन्नति के क्रम में वीरता और सहनशीलता
की परीक्षायें आती ही हैं और हमें उनके लिये सदा प्रस्तुत
रहना चाहिये। एक दुर्बलहृदय मनुष्य इस पथ पर उन्नति
नहीं कर सकता, क्योंकि यहाँ केवल भलापन ही नहीं
वरन् वह शक्ति भी चाहिये जो किसी भी अनभ्यस्त अथवा
भयजनक स्थिति से हत न हो।

मैं इंगलैंड की एक ऐसी प्रेतावाहन सभा को जानता
हूँ जिसने कई सप्ताहों तक लगातार नाना प्रकार के आ-
वाहनों द्वारा कुछ प्रेतात्माओं को बुलाने की चेष्टा की थी
और अंत में वे कुछ प्रेतों को बुलाने में समर्थ भी हुये, किंतु
वे क्या थे यह देखने के लिये वहां कोई भी देर तक
खड़ा न रहा। इसी प्रकार लोग उच्च लोकों का भी कुछ
अनुभव प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किंतु उनके प्राप्त
होते ही वे भयभीत हो जाते हैं। जब मनुष्य चैतन्य रहते
हुये ही प्रथम बार अपने स्थूल शरीर से बाहर जाता है तो
वह कुछ भयभीत हो सकता है और उसे क्षणिक विस्मय
भी हो सकता है कि वह अपने शरीर में वापिस जा सकेगा
या नहीं। उसे यह समझ लेना चाहिये कि शरीर में प्रवेश
करने या न करने का कुछ भी महत्व नहीं है। वह कुछ
विशेष सीमाओं में रहने का आदी हो गया है और

उन सीमाओं के दूर होते ही उसे ऐसा प्रतीत होना बहुत सम्भव है कि उसके खड़े रहने के लिये कोई आधार नहीं रहा। जैसे जैसे हम आगे बढ़ेंगे, हमें प्रतीत होगा कि यह साहस अर्थात् सरल और शुद्ध वीरता एक ऐसी वस्तु है जिसकी बहुत ही आवश्यकता है, क्योंकि हमें अनेक प्रकार की शक्तियों का सामना करना पड़ेगा, और यह कोई बच्चों का खेल नहीं है।

जब हम ईश्वर के साथ अपनी एकता का अनुभव कर लेते हैं और उसे स्मरण रखते हैं तो हमें किसी का भय नहीं रहता। किंतु कभी कभी जब अचानक कोई आपत्ति आ पड़ती है तो मनुष्य इस बात को भूल जाता है और तब वह झिझकने लगता है। इस प्रकार की क्षणस्थायी बातों द्वारा आत्मा किंचित् भी विकार या क्लेश को प्राप्त नहीं होती। और यदि हम यह अनुभव कर लें कि हम आत्मा हैं, बाह्य शरीर नहीं, तो हमें कोई भी भय न रहेगा। यदि कभी किसी प्रकार का भय प्रतीत भी हो तो अपने भीतर से ही और अधिक शक्ति का आवाहन करना चाहिये, किसी बाहरी सहायता के लिये पुकार नहीं करनी चाहिये। इस विषय पर ईसाइयों की सामान्य शिक्षा नितांत अनुपयुक्त है। वे लोग जनता को सदा प्रार्थना का ही आश्रय लेना सिखाते हैं जिसका शब्दार्थ मांगना है और जिसे जिज्ञासा की उच्च श्रेणी में नहीं रखना चाहिये, जैसा कि सामान्यतः किया जाता है। अंग्रेजी का 'प्रेयर' (Prayer) अर्थात् "प्रार्थना" शब्द लैटिन के "प्रिकैरी" (Precari) शब्द से निकलता है जिसका अर्थ ही मांगना है और कुछ नहीं। यदि हम विश्वास करते हैं कि ईश्वर

सर्व मंगलमय है तो हमें भगवान् बुद्ध की इस अनुमति के अनुसार चलना चाहिये कि "न तो असंतोष प्रकट करो, न रोओ चिल्लाओ और न प्रार्थना करो, किन्तु अपने नेत्र खोलो और देखो! वह प्रकाश तुम्हारे चारों ओर छिटका हुआ है, केवल अपने नेत्रों पर से आवरण हटा लो और उसे देखो। यह प्रकाश अत्यन्त अद्भुत और अत्यन्त सुन्दर है तथा मनुष्य की कल्पना और उसके प्रार्थना के विषय से नितांत परे है, और यह नित्य और शाश्वत है।'

मुझे विदित है कि संकट पड़ने पर बहुत से लोग श्री गुरुदेव को पुकारने लगते हैं। यह तो ठीक है कि श्री गुरुदेव का विचार सर्वदा हमारे पास है और हमारी पुकार उन तक पहुँच भी सकती है, किन्तु हमें ऐसे कामों के लिये उन्हें कष्ट क्यों देना चाहिये जिन्हें हम स्वयं ही कर सकते हों। यह सत्य है कि हम यदि चाहें तो उन्हें पुकार सकते हैं, किंतु यदि हम अपने अन्तर्स्थित आत्मा का आवाहन करके उसे ही अधिकाधिक प्रत्यक्ष करें, तो निश्चय ही गुरुदेव के अधिक समीप पहुँच सकते हैं, जितना कि अपने मंदस्वर से उन्हें सहायता के लिये पुकारने पर नहीं पहुंच सकते। ऐसा करके हम मनुष्य के इस अधिकार को चुनौती नहीं देते, किन्तु यह जानते हुये कि श्री गुरुदेव किस प्रकार निरन्तर जगत् के कल्याणार्थ कार्य करने में व्यस्त रहते हैं, हमें निश्चय ही उन्हें तब तक पुकारने की इच्छा नहीं होनी चाहिये जबतक कि हमारे पास अन्य कोई भी संभावित साधन शेष रहे और उसके द्वारा हम स्वयं ही उस कार्य को करने में समर्थ हों। कार्य करने में असमर्थता का भाव

ही विश्वास का अभाव सूचक है। यह केवल आत्म-विश्वास की ही नहीं, वरन् ईश्वरनिष्ठा की कमी को भी प्रगट करता है।

ध्यान के अभ्यास द्वारा मनुष्य को ऐसा बन जाना चाहिये कि वह तनिक भी व्याकुल न होकर संकटों का सामना कर सके। जिन्होंने ईश्वरीय विधान को समझ लिया है, उन्हें सब प्रकार की अवस्थाओं में शान्त और निरुद्विग्न रहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि वास्तविक उन्नति करने के साधन का यह भी आवश्यक अंग है, क्योंकि उद्वेग के परिणाम स्वरूप जो आघात और व्याकुलतायें आती हैं वे एक साधक के प्रभावशील शरीरों पर अपने दीर्घकालीन चिन्ह छोड़ जाती हैं।

"इसका अर्थ धैर्य से भी है, ताकि तुम प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आने वाले सामान्य कष्टों को तुच्छ समझ सको और उन छोटी छोटी बातों के लिये चिन्तातुर रहने से बच सको, जिसमें अनेक मनुष्य अपना अधिकांश समय गंवा देते हैं।"

एनीबेसेंट—धैर्य एक दूसरा अभीष्ट गुण है जिसका श्री गुरुदेव वर्णन करते हैं। इस गुण की अवश्यकता इसलिये है कि जीवन में आने वाला कोई भी झंझावात साधक को विचलित न कर सके। बाहरी वस्तुओं पर अवलंबित रहने से अनन्त चिंताओं का जन्म होता है, क्योंकि तब मनुष्य अपने निजी कार्यों को भी स्वयं संचालित नहीं कर सकता और इस प्रकार किसी भी निश्चित कार्यक्रम का निर्धारण करने में असमर्थ रहता है। चिंता ही मनुष्य को बेकार बनाती है, परिश्रम नहीं। किसी कष्टपूर्ण बात का

स्मरण ही दुश्चिंता है। एक कातर प्रकृति के मनुष्य के लिये अपने को इस स्वभाव के किसी न किसी रूप से ग्रसित होने से बचाना कठिन बात है।

किसी किसी मनुष्य की प्रवृति काल्पनिक नाटकों को रचने और उस स्व-रचित नाटकीय कल्पना में ही विचरते रहने की होती है। मैं स्वयं भी कभी कुछ सीमा तक ऐसा ही किया करती थी। इसका तथा इसी प्रकार के अन्य व्यक्तिगत अनुभवों का वर्णन मैं इसलिये कर रही हूं कि मेरे विचार में जो कुछ मैं वताना चाहती हूं वह इन उदाहरणों के द्वारा अधिक सजीव और उपयोगी वन सकेगा, जो कि केवल सूक्ष्म विवेचन द्वारा नहीं वन सकता। संभवतः बहुत से जिज्ञासुओं ने इस प्रकार के काल्पनिक नाटकों की रचना की होगी क्योंकि हम सभी लगभग एक ही सांचे के बने हुये हैं। मैं कल्पना किया करती थी कि मेरा कोई मित्र मेरे अमुक कथन या कार्य से अवश्य दुखित हुआ होगा और तव मैं उस व्यक्ति के साथ अपने आगामी मिलन की कल्पना करके उसके साथ होने वाले प्रथम संभाषण से लेकर समस्त वात चीत की कल्पना कर लेती थी। किंतु जव हम परस्पर मिलते तो मेरी सारी कल्पना व्यर्थ हो जाती, क्योंकि मेरे उस मित्र का प्रथम संभाषण मेरी कल्पना से सर्वथा भिन्न होता। इस प्रकार कभी कभी लोग दुखदायी दृष्यों का भी व्यवधान कर लेते हैं और कल्पना करते रहते हैं कि अपनी उस कल्पित परीक्षा की स्थिति में पड़ने पर वे किस प्रकार कार्य करेंगे, और इस प्रकार अपने विचार और भावनाओं का अपव्यय करते हुये वे अन्त में अपने मन की दशा को अत्यन्त व्यथापूर्ण वना

लेते हैं। वैसी कोई भी कल्पना आज तक सत्य नहीं हुई और कभी होगी भी नहीं, यह तो केवल शक्ति का अपव्यय मात्र है।

इस प्रकार की समस्त बातें केवल व्यर्थ का क्लेश ही होती है, जो मनुष्य की मानसिक और भाविक प्रकृति को दुर्बल बनाती हैं। इस आदत से छूटने का एक मात्र उपाय यही है कि अपने को उस दृश्य से अलग करके यह विचार कीजिये कि आपकी उस समूची कल्पना के प्रारंभिक विचार पर आपका कोई वश है या नहीं। यदि है तो उस पर नियंत्रण कर लीजिये, और यदि नहीं है तो जब तक वह स्थिति सामने न आवे तब तक उसके लिये चिंतित होने से लाभ ही क्या है? यह भी संभव है कि वह अवसर कभी आवे भी नहीं। भविष्य की संभावित घटनाओं और अतीत की बीती हुई घटनाओं का निरन्तर विचार करते रहना व्यर्थ है। बीती हुई घटनाओं को बदलना संभव नहीं, अतः उनके लिये दुश्चिंता करना भी स्पष्ट रूप से निरर्थक है।

अनेक भले मनुष्य बीती बातों को सोच सोच कर अपना जीवन भार बना लेते हैं। वे सोचते रहते हैं कि "यदि मैं अमुक कार्य न करता अथवा अमुक कार्य कर लेता तो कदाचित् यह कष्ट कभी न आता।" मान लीजिये कि यह सत्य है, किन्तु अब तो वह बात बीत चुकी और आप के सोच करने से बीती हुई बातों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसी अपरिवर्तनीय बीती बातों और भविष्य की संभावित बातों के लिये लोग दिन भर दुश्चिंता करते रहते हैं और जाग जाग कर ही रात

विता देते हैं। मन का यह कार्य तो वैसा ही है जैसे किसी उचित निराकरण के अभाव में इंजिन या हृदय को दौड़ाना जिससे कि इंजिन और हृदय दोनों को ही कार्य के श्रम की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचती है। इस मानसिक घोड़ दौड़ की निःसारता एवं उससे होने वाली वास्तविक हानि को समझिये और तब आप इसे बन्द कर देंगे और इसके स्थान पर अपनी मनःशक्ति का उचित उपयोग करना सीखेंगे। यह तो निरा पागलपन है और कुछ नहीं। यह एक ऐसी बात है जिसे करना तो नहीं चाहिये किंतु प्रत्येक मनुष्य करता है। परन्तु एक साधक को तो ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिये।

लेडबीटर—अन्य समस्त मानसिक कठिनाइयों की अपेक्षा चिंताओं का सामना करना सबसे अधिक कठिन है। प्रत्येक वास्तविक उन्नति के मार्ग में यह नितान्त बाधक है। इस अवस्था में ध्यानाभ्यास के लिये मनको स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। कुछ लोग बीती हुई बातों की चिन्ता करते रहते हैं और कुछ भविष्य की; और इस प्रकार एक चिंता के दूर होते ही उसके स्थान पर दूसरी चिंता सर पर उठा लेते हैं। इस प्रकार वे कभी भी शांत अवस्था में नहीं रहते। वे कभी भी सफलतापूर्वक ध्यान करने की आशा नहीं कर सकते।

इसको सर्वोत्तम चिकित्सा यही है कि चिन्ता के बदले श्री गुरुदेव के विषय में चिन्तन करते रहें। किंतु इसके लिये असाधारण शक्ति की आवश्यकता है। अत्यन्त उद्वेग की अवस्था में मन को एकाएक शान्त बना देने का यत्न

करना तो वैसा ही है जैसे तूफान के समय समुद्र की लहरों को लकड़ी के तख्ते से दबाने की चेष्टा करना। सर्वोत्तम उपाय तो यही है कि जब मन अशांत हो तो कोई शारीरिक परिश्रम करने लग जाइये—बागीचे के घास को निराइये या साइकल लेकर किसी तरफ घूमने निकल जाइये। स्थायी शांति तो तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि सभी शरीरों में परस्पर सामंजस्य न हो जाये। और तब इन सब अन्यान्य अभ्यासों से कुछ सफलता की आशा की जा सकती है।

लोग बहुधा अपने निजी दोषों के लिये भी क्षुब्ध होते रहते हैं। मनुष्य बहुधा ही अपने को दोषों और त्रुटियों के गड्ढे में गिरते हुए पाता है। यदि ऐसा न होता तब तो अच्छा ही था किन्तु अभी हमसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। क्योंकि यदि हम दोषों और त्रुटियों से सर्वथा रहित होते तो अब तक जीवन्मुक्त हो गये होते। अपने दोषों को महत्वहीन समझ कर उनकी उपेक्षा करना निश्चय ही एक बड़ी भूल है, किन्तु उनके लिये अनावश्यक क्षोभ करते रहना भी उतनी ही बड़ी भूल है। चिन्तातुर मन बिना किसी उद्देश्य के बावलों के समान उसी बात के चारों ओर बारबार दौड़ता रहता है। यदि आप कभी तूफ़ान के समय जहाज़ पर रहे हों तो आपको याद हो सकता है कि उस समय किस प्रकार जहाज़ की पंखी पानी से ऊपर आ आकर हवा में वेग से चलने लगती है। इससे जहाज़ की मसीन को जितनी हानि पहुंचती है उतनी उससे नियमितरूप से लिया जाने वाला अधिक से अधिक कार्य भी नहीं पहुँचा सकता था। चिन्ताओं के विषय में भी ठीक यही बात है।

हमारी सोसायटी में भी समय समय पर बहुत से उपद्रव उठ खड़े होते हैं। मैंने स्वयं ऐसे अनेक अवसर देखे हैं। मुझे सन् १८८४ ई० में कोलंब दंपति की घटना से होने वाली उत्तेजना भली प्रकार याद है, जब कि कितने ही थिऑसोफिस्ट अत्यन्त उद्विग्न और चिंतित हो गये थे, और उनमें से किसी किसी का तो थिऑसोफ़ी पर से बिल्कुल विश्वास ही उठ गया था। क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि श्रीमती ब्लॉवैड्स्की उनको धोखा दे रही थीं। वास्तव में इस बात से उनके विश्वास का कोई सम्बन्ध न था। थिऑसोफ़ी में जो हमारा विश्वास है वह श्रीमती ब्लावैड्स्की अथवा किसी अन्य व्यक्ति के वचनों पर अवलंबित नहीं है। इसका आधार तो यह सचाई है कि यह एक पूर्ण और संतोषजनक तत्वज्ञान है जो हमें बताया गया है और यह बात तब भी सत्य ही रहती है, यदि श्रीमती ब्लावैड्स्की ने हमें धोखा ही दिया होता जो उन्होंने वास्तव में किया ही नहीं था। यदि लोगों के विश्वास का आधार कोई व्यक्ति है तो वह विश्वास सुगमता से टूट जायेगा। किंतु यदि हमारा विश्वास ऐसे सिद्धान्तों पर अवलंबित है जिन्हें हम भली भांति समझते हैं तो वह अटूट रहेगा, चाहे हमारा कोई विश्वस्त नेता ही हमें एकाएक धोखा क्यों न दे दें।

“श्री गुरुदेव यह उपदेश देते हैं कि बाहर से मनुष्य पर जो कुछ भी क्यों न बीते उसका तनिक भी मूल्य नहीं। दुख, कष्ट, रोग, हानि ये समस्त वस्तुये उसके लिये महत्व हीन होनी चाहिये और उसे अपने मन की स्थिति पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहिये। ये सब अपने पूर्व कर्मों के परिणाम हैं और तुम्हें इन्हें प्रसन्नता पूर्वक सहन करना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि सभी दुख क्षणभंगुर होते

हैं एवं तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम सदा प्रसन्न और शांत रहो। यह सब तुम्हारे पूर्वजन्मों के कर्म फल हैं। इस जन्म के नहीं। तुम उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। अतः उनके लिये दुखित होना निरर्थक है।"

ऐनी वेसेंट—चिन्ता न करने के लिये जो एक कारण श्री गुरुदेव ने यहां वताया है, मुझे भय है कि अनेक लोग उसका मूल्य नहीं समझेंगे। श्री गुरुदेव कहते हैं कि बाहर से मनुष्य पर कुछ भी क्यों न वीते, उसका तनिक भी मूल्य नहीं। इस प्रकार से हम पर जो भी दुख कष्ट आते हैं, उन्हें टालना हमारी शक्ति से सर्वथा परे होता है, क्योंकि हमने स्वयं ही अपने पूर्वजन्मों में उनका निर्माण किया था; वे हमारे अपने कर्म हैं।

तो भी इसका आशय यह नहीं कि इस संबंध में हम अव कुछ भी नहीं कर सकते। वरन् इसके विपरीत हम बहुत कुछ कर सकते हैं। हम उनका सामना यथोचित रीति से करके उनके द्वारा अपने पर पड़ने वाले प्रभाव को बहुत ही कम कर सकते हैं। ऐसा करना उसी प्रकार है जैसे कि हम किसी के सीधे प्रहार को जिससे मनुष्य को धराशयी करने का पर्याप्त वल है ओछे प्रहार में बदल दें, जो अपेक्षाकृत साधारण चोट पहुंचाता है। जिस दिशा से वह प्रहार आता है उसके रुख को बदलने पर ही उसकी चोट की तीव्रता भी निर्भर रहती है। जो भी दुख और कष्ट आप पर आते हैं उनका यदि आप इस भाव से सामना करें कि यह तो आप अपना एक ऋण चुका रहे हैं और इसका चुका देना ही हमारे लिये अच्छा है, तो उन दुखों का

भार हलका हो जायेगा। जो मनुष्य जीवन का सामना करना जानता है वह संकटों के बीच में भी शांत और प्रसन्न रहेगा: किन्तु इसे न जानने वाला मनुष्य उन दुखों से पिस जायेगा जो अर्ध-कल्पित होते हैं।

जितना भी दुख एवं कष्ट आप अनुभव करते हैं उनमें से कितने ही वास्तव में आपके मन की सृष्टि हैं; इस बात की परीक्षा आप उस समय स्वयं कर सकते हैं जब कोई शारीरिक कष्ट भोग रहे हों। उस समय यदि आप ऐसी कल्पना करलें कि आप अपने शरीर से बिलकुल अलग खड़े हैं, तो आपको प्रतीत होगा कि आप का बहुत सा कष्ट कम हो गया है। इस वास्तविकता का बोध एक दूसरी तरह अर्थात् पशुओं की दशा का विचार करके भी हो सकता है। एक पशु जिसकी टाँग टूट गई है, अपनी घायल टांग को अपने पीछे-पीछे घसीटता हुआ आकर आराम से खा लेगा यह एक ऐसी बात है जिसे मनुष्य नहीं कर सकता, किन्तु एक घोड़ा कर लेगा और शारीरिक विज्ञान के ज्ञाता हमें बताते हैं कि घोड़े का स्नायु-मंडल मनुष्य के स्नायु-मंडल की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होता है, अतः उसकी स्नायु मनुष्य की अपेक्षा पीड़ा का अधिक अनुभव करती हैं। मेरी बात से यह मिथ्या धारणा मत कर लीजिये कि पशुओं को कष्ट होता ही नहीं अथवा उनके कष्ट का कोई मूल्य ही नहीं, वरन् बात ठीक इससे विपरीत है। परन्तु अन्तर यही है कि मनुष्य अपने मन में अपनी पीड़ा के विषय में सोंच-सोंच कर उसे और भी दारूण और दीर्घकालीन बना लेता है, जब कि पशु ऐसा नहीं करता।

यदि आप अपने वासनाशरीर पर पीड़ा का प्रभाव न

पड़ने दें तो आप को ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार पीड़ा को बहुत अधिक मात्रा में घटाया जा सकता है। ईसाई वैज्ञानिक इस प्रकार के पीड़ा को बहुत कुछ घटा देते हैं, क्योंकि वे उसमें से अपनी मानसिक तत्व को हटा लेते हैं जो पीड़ा में मिश्रित होकर उसे बढ़ाता है। मुझे स्वयं भी इस बात का कुछ अनुभव है, जब कि शरीर में तीव्र वेदना के रहते हुये भी मैं भाषण देती रहती थी; परिणाम यह होता था कि भाषण करते समय मुझे कष्ट का भान भी नहीं होता था। क्यों! क्योंकि मेरा मन पूर्णतया भाषण में ही लीन रहता था। यदि आप स्थूल शरीर से अपना ध्यान सर्वथा हटालें, जैसा कि भाषण देते समय आपको करना ही होगा, तो कोई भी शारीरिक पीडा जो उस समय आप उठा रहे होंगे, एक बड़े अंश में लुप्त हो जायेगी। यदि आपको अपने मन पर पूर्ण निग्रह प्राप्त हो तो आपके लिये ऐसा करना संभव है और तब यह बाह्य बातें केवल बाह्य शरीर पर ही प्रभाव डाल सकती हैं। यथेष्ठ उत्तेजना के आवेश में आकर भी लोग बहुधा ऐसा करते हैं। युद्धक्षेत्र में कभी-कभी युद्ध के उत्तेजना के समाप्त होने तक सैनिक को अपने घावों का भान भी नहीं होता; और इसी प्रकार धर्म के नाम पर प्राण देने वाले शहीदों को भी निश्चय ही अपने चारों तरफ प्रज्वलित अग्नि शिखाओं का भान नहीं होता था, क्योंकि वे भी अपने भगवान के नाम पर कष्ट झेलने के उन्माद में रहते थे। ठीक इसी प्रकार यदि एक बालक किसी दुर्घटना का शिकार हो जाता है तो उसकी माँ अपने बड़े से बड़े कष्ट को भी भूलकर उसकी रक्षा व सहायता को दौड़ पड़ती है।

उत्तेजना की ऐसी अवस्था के अतिरिक्त भी इस प्रकार का निग्रह करना संभव है, और तब आप अपने वासना-शरीर और मनशरीर पर किसी भी पीड़ा को निष्प्रभाव बना सकते हैं। मैं यह नहीं कहती कि ऐसा करना सरल है, किंतु ऐसा किया जा सकता है। व्यक्तिगत रूप से तो मैं शारीरिक कष्ट निवारण जैसी तुच्छ बात के लिये इतनी अधिक शक्ति का उपयोग करना अथवा कोई विशेष प्रयत्न करना योग्य ही नहीं समझती। अपने मन को शरीर की ही सेवा में लगाये रखने के स्थान पर, जैसा कि बहुत से लोग करते हैं, यह अधिक उत्तम होगा कि उसे किसी हितकर कार्य की ओर मोड़कर उसी में लगा दिया जाये। यदि आप जीवन के प्रति यथार्थ मनोवृत्ति रखना सीख लें तो आप देखेंगे कि इन बाह्य कष्टों का कुछ भी मूल्य नहीं और इस प्रकार उनकी उपेक्षा कर देने पर वे अपना प्रभाव केवल आपके बाह्य शरीर पर ही डाल सकेंगे। उन्हें भोगना तो पड़ेगा ही, और उनका मूल्य केवल उसी शक्ति में है जो आप उनके द्वारा प्राप्त करते हैं। उन्हें इस दृष्टिकोण से देखने पर आपको असीम मानसिक शांति प्राप्त होगी।

सभी दुख क्षणभंगुर हैं। यदि आप अपने जीवन में आनेवाली घटनाओं के विस्तृत चक्र को देखें और अपने ऊपर बीती हुई बातों को समझें—विस्तार से नहीं, क्योंकि विस्तार की कोई विशेषता नहीं है, केवल इसके सामान्य बहाव और झुकावों को जान लेने पर ही आप इस बात की सचाई को समझ लेंगे। यदि मनुष्य यह समझ ले कि पहले भी वह कितनी ही बार इस प्रकार की दुखद

और कष्टदायक घटनाओं, जैसे कि सुहृदजनों की मृत्यु, रोग, हानि आदि अनेक प्रकार के कष्टों का शिकार हो चुका है, तो उसके लिये ये सब घटनायें अपेक्षाकृत निःसार बन जायेंगी, जैसा कि यह सचमुच ही हैं। इस प्रयत्न को करना आवश्यक है, क्योंकि हमारे मन में वर्तमान का प्रभाव इतना प्रबल रहता है कि इसकी छोटी-छोटी चिंतायें गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में रुकावट पैदा करती हैं। अपने अतीत का ज्ञान आपको अधिक शक्तिशाली बनायेगा और जब भी कोई विपत्ति आयेगी तो आप यही सोचेंगे कि "चिंता क्या है ? यह भी गुज़र जायेगी।"

मुझे दृढ़ निश्चय है कि यदि मैं परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप व्याकुल होना न छोड़ती, तो मेरे लिये वर्तमान जीवन व्यतीत करना असंभव होता। सभी प्रकार के कष्ट नित्य ही आते रहते हैं, और यदि मुझ पर उनको प्रतिक्रिया होती रहती तो मैं एक सप्ताह के अवधि में ही मृत्यु को प्राप्त हो गई होती। भूतकाल में मैंने ऐसे अनेक आंदोलनों में भाग लिया है, जिनके साथ मैं आज भी सम्बद्ध हूँ, और मैंने देखा है कि वे सदा ही संघर्षमय रहे हैं। अच्छा तो यही है कि कष्ट का पहिले विचार ही न किया जाये, वरन् जब वह आवे तभी उस पर ध्यान दिया जाये और तत्पश्चात् उसके विषय में सब कुछ भुला दिया जाये।

श्री गुरुदेव कहते हैं कि आपका कर्त्तव्य सदा प्रसन्न और शांत रहना है। एक बार यह चेतावनी दी गई थी कि शिष्यों को साधना के केंद्र को दूषित भावनाओं द्वारा मलिन न किया जाये। ऐसा करने में जो बुराई है उसकी

अडयार जैसे पवित्र स्थानों पर तो असीम आशंका रहती है, जहां शंका, चिंता, संदेह इत्यादि प्रत्येक प्रकार की कलुष भावना इसके भेजने वाले व्यक्ति के बल की अपेक्षा भी अधिक बल पकड़ लेती है। यदि आप विषाद, सन्ताप, या अन्य किसी अवांछनीय भावना से जो कि आप को आसकती है, तुरन्त ही छुटकारा नहीं पा सकते तो कम से कम इसे अपने तक ही रखिये। इसे बाहर प्रवाहित करके वातारण को दूषित मत बनाइये, जिससे कि दूसरों का काम भी कठिन हो जाय। इस विधि से अपने को अभ्यस्त बना लेने के पश्चात् आपको अपनी पहिले की स्थिति पर आश्चर्य होगा और आप विस्मित होंगे कि इतनी क्षुद्र बातें आपको कैसे व्यथित कर सकीं थीं।

लेडबीटर—दूसरे मनुष्यों के लिये गहरे दुख का कारण होने वाली परिस्थितियों में भी एक ज्ञानी मनुष्य शांत और प्रसन्न रहता है। इस संबन्ध में अपनी वृत्ति के ही कारण बहुत बार अज्ञानी मनुष्य दुख से पिस जाता। हमारे कष्टों के पीछे बहुत अधिक अंशों में तो हमारी कल्पना ही होती है, वास्तविक कर्मविपाक का भाग तो बहुधा थोड़ा सा ही होता है। उचित रीति से उसका सामना न करने के कारण लोग उसे दुगुना अथवा कदाचित् दसगुना भी बना देते हैं। इसका अभियोग पूर्वकृतकर्मों पर नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि यह तो अभी के मूर्खतापूर्ण कार्यों द्वारा बनाये हुए कर्म हैं जिन्हें श्रीयुत सिनेट ने तुरन्त फल देने वाले कर्म (Ready money Karma) कहा है।

हमें अपने कर्मों का जो ऋण चुकाना है उसके परिमाण में तो कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। क्योंकि

प्रारब्ध कर्मों के अनुसार हमें एक विशेष परिमाण में दुख को भोगना ही है। किन्तु जिस प्रकार यह दुख बढ़ाया जा सकता है उसी प्रकार घटाया भी जा सकता है। हम अपने प्रयत्नों द्वारा नवीन शक्ति का सञ्चय करके उसके सीधे प्रहार को ओछे प्रहार में परिणित कर सकते हैं, जैसा कि हमारी प्रेज़िडेंट ने कहा है, और इस प्रकार उसके द्वारा अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में परिवर्तन कर सकते हैं जिससे कि उसका भान बहुत ही कम होगा।' प्रत्येक घटना के लिये ऐसा प्रयत्न करना उसमें एक नवीन शक्ति का संचार करता है; इसलिये इसमें कर्म के प्रति कोई अन्याय या हस्तक्षेप करने की बात नहीं है। जो शक्ति अन्य बातों में व्यय होती है, वह इस आघात की प्रबलता को कम करने में लगा दी जाती है।

सभी दुख अवश्य ही अनित्य है। फ़ारस के एक बादशाह ने इस वाक्य को अपना आदर्श (Motto) बनाया था कि "यह भी बीत जायेगा।" यह एक उत्तम आदर्श-वाक्य है, क्योंकि यह सुख या दुख, सौभाग्य या दुर्भाग्य सभी पर समान रूप से लागू पड़ता है, चाहे उस समय जीवन में किसी की भी प्रधानता हो। वास्तविक आत्मोन्नति और आत्मानन्द ही केवल मात्र नित्य और स्थायी है। आज हमें चाहे जो भी दुख हो, वह अवश्य बीत जायेगा; हमने अपने पूर्वजन्मों में पहिले भी दुख उठाये हैं और उन्हें पार कर चुके हैं; यदि यह बात समझ ली जाये तो इससे बहुत ही सहायता मिलेगी। जीवन के प्रारम्भिक काल में जो बातें हमें व्यथा पहुंचाया करती थीं, वे अब नितांत अर्थहीन प्रतीत होती हैं। हम आश्चर्य से कहते हैं कि इन बातों

का तो कुछ भी महत्व न था, मैं चकित हूँ कि इनके लिये मैं इतना क्षुब्ध क्यों हुआ !" बुद्धिमान मनुष्य बीती बातों से शिक्षा लेते हैं; वे कहते हैं कि "आज जो बातें मेरी चिंता का कारण बन रही हैं, वे भी निश्चय ही उतनी ही अर्थ हीन हैं। वे अर्थ हीन अवश्य हैं, किंतु केवल बुद्धिमान मनुष्य ही ऐसा निष्कर्ष निकाल सकता है।

"इनके स्थान पर तुम उन कर्मों का विचार करो, जिन्हे तुम इस समय कर रहे हो, और जिनसे तुम्हारे आगामी जन्म की घटनाओं का निर्माण होगा। उसे बदलना तुम्हारे हाथ में है।"

लेडबीटर—आप का आगामी जन्म बहुत कुछ उन्हीं कर्मों पर निर्भर रहता है जो आप इस जन्म में बनाते हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि श्रीजगद्गुरू का आगमन होने वाला है, अतः समय में शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन हो रहा है और विपुल शक्ति प्रवाहित की जा रही है जो हमारे चारों ओर फैली हुई है; अस्तु हम लोग जो उनके आगमन के लिये तैयारी कर रहे हैं, केवल अपने आगामी जन्म में ही नहीं, वरन् शेष वर्तमान जीवन में भी परिवर्तन कर सकते हैं।

इस कार्य में संलग्न साधक के कर्मों की गति अन्य बहुत से लोगों के कर्मों की गति की अपेक्षा बहुत तीव्र हो जाती है। संभवतः बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन्हें सांसारिक मनुष्य लगातार करता रहता है, किंतु उनका कोई विशेष हानिकारक परिणाम नहीं होता। परन्तु उन्हीं बातों को यदि इस पथ के समीप पहुँचने वाला मनुष्य करे तो निश्चय ही अत्यधिक हानि होगी। एक शिष्य

के जीवन की तो प्रत्येक घटना श्री गुरुदेव से संबंध रखती है। क्योंकि वे उसे अपना एक अंग ही बना लेते हैं। "न कोई अपने लिये जीता है, न कोई अपने लिये मरता है;" यह बात यों तो प्रत्येक के लिये सत्य है, किंतु जो मनुष्य इन महर्षियों के चरणों के समीप पहुँच गये हैं, उन्हें इस विषय में दुगुना सावधान रहना चाहिये। विशेष करके जो मनुष्य एक साधक की आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं, वे अपने लिये एक घोर कर्म बना लेते हैं।

"कभी अपने को खिन्न या विषादयुक्त मत होने दो। विषाद एक हानिकारक वस्तु है, क्योंकि यह छूत के समान दूसरों में भी फैलती है और उनके जीवन को भी दुरूह बना देती है, जिसका तुम्हे कोई अधिकार नहीं। इसलिये यदि यह कभी तुम पर छा जाये तो तुरंत ही इसे दूर कर दो।"

लेडबीटर—गहरे विषाद में ग्रस्त मनुष्य संभवतः सिर हिला कर यही कहेगा कि "यह सम्मति तो बहुत अच्छी है, यदि कोई इसे ग्रहण कर सके।" किंतु जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि अपनी उदासी का जो प्रभाव दूसरों पर पड़ता है, उसका विचार ही इसे दूर करने की शक्ति प्रदान करता है, अन्य कुछ नहीं। विषाद एक हानिकारक वस्तु है, क्योंकि यह मनुष्य के साथी साधकों तथा दूसरों पर भी अपना प्रभाव डालता है और उनके मार्ग को कठिन बनाता है। ऐसी किसी भी वस्तु का प्रभाव हम पर नहीं पड़ सकता, जो अपने पूर्वजन्मों में हमने स्वयं ही अपने कर्मों द्वारा उत्पन्न न की हो। इस बात से मनुष्य बहुत ही सतर्क रहना सीख सकता है

कि हमारे द्वारा किसी को भी कष्ट न पहुंचे। यदि कोई दूसरा मनुष्य हमें कोई ऐसी बात कह देता है जो बहुत सराहनीय नहीं है, तो हमें सोचना चाहिये कि "ऐसी बात मैं किसी से नहीं कहूँगा, और न किसी से ऐसा वर्ताव ही करूँगा जो उसके समय को भारी बना दे।" हमें यह भी निश्चय कर लेना चाहिये कि हम दूसरों के बुरे कर्म भुगताने के लिये निमित्त न बनेंगे। यह सत्य है कि दूसरे को व्यथित या क्रुद्ध करने वाला व्यक्ति उस दूसरे मनुष्य के ही कर्मफल को भुगताने का निमित्त बनता है, किन्तु इस अभिनय की यह भूमिका बहुत ही निर्दय है। हमें तो अपने को दूसरों की सहायता करके और उन्हें सुख शांति पहुँचा कर उनके शुभकर्मों के फल को भुगताने का निमित्त ही बनाना चाहिये। बुरे कर्मों के फल को उन्हें अन्य स्रोतों द्वारा भुगतने दीजिये, अपने द्वारा नहीं।

"तुम्हें एक और प्रकार से अपने विचार पर नियन्त्रण रखना चाहिये। इसे इधर-उधर मत भटकने दो। जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो, उसी में अपना सारा ध्यान केंद्रित कर दो, ताकि उसमें कोई भी त्रुटि न रहे और वह उत्तमता से संपन्न हो सके।"

लेडबीटर—जो भी कार्य हम करते हों, उसी में दत्तचित्त हो जाना एक साधारण बात होनी चाहिये, ताकि उस कार्य का निर्दोष संपादन हो सके। दृष्टांत के लिये जब हम एक पत्र लिखते हैं तो यदि उसे एकाग्रचित्त होकर लिखें तो हम उसे वैसा ही बना सकते हैं जैसा कि एक आध्यात्म शास्त्री का होना चाहिये। एक साधारण मनुष्य अपना पत्र अपेक्षाकृत असावधानी अथवा अव्यवस्थित ढङ्ग से ही लिखता है। वह उस पर ध्यान नहीं देता और

जो कुछ वह कहना चाहता है उसे ठीक प्रकार से व्यक्त करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करता। कुछ लोगों को यह विचार बिल्कुल नया प्रतीत होगा कि ऐसा साधारण कार्य भी इतने सुचारू रूप से करना चाहिये। मुझे अनेकों ही पत्र मिला करते हैं, और मुझे कहना चाहिये कि उनमें से बहुत से पत्र ऐसे होते हैं जिन्हें मैं स्वयम् किसी को भेजने के लिये सोच भी नहीं सकता। उन पत्रों का वर्णन भी बहुत करके दोषपूर्ण होता है और और लिखे भी इतनी बुरी प्रकार से होते है कि उनसे मेरा यथेष्ट समय विनष्ट होता है।

आध्यात्म ज्ञानी अथवा आध्यात्म ज्ञानी बनने का प्रयत्न करने वालों के लिये ऐसी असावधानता बहुत कुछ अर्थ रखती है। एक आध्यात्म ज्ञानी को अपने भावों को, सावधानी से व्यक्त करना चाहिये, और पत्र की लिखावट अथवा टाइप, जो कुछ भी हो, स्पष्ट होनी चाहिये। उसका पत्र एक दर्शनीय वस्तु होनी चाहिये जो पाने वाले के लिये सुखकर हो। जो कुछ भी हम करें उसे सुसंगत रूप से करना हमारा सुदृढ़ कर्त्तव्य है। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि मनुष्य अपनी प्रत्येक लिखावट को ताम्रपत्र के समान बनाने अथवा अपने प्रत्येक पत्र को कला का परिपूर्ण रूप देने के लिये समय निकाल सकता है, आजकल के समय में ऐसा नहीं किया जा सकता, किन्तु आध्यात्म ज्ञानी के क्षेत्र के बाहर भी मनुष्य को पत्रप्रेषक की साधारण शिष्टता के नाते स्पष्ट और पठनीय लिखना चाहिये। यदि आप अपना थोड़ा सा समय बचाने के लिये जल्दी में और बुरी तरह से लिखते हैं, तो स्मरण रखिये कि आप कदाचित्

दूसरे के चौगुने समय के मूल्य पर पैसा कर रहे हैं। इस प्रकार का काम करने का हमें कोई भी अधिकार नहीं।

हमारा प्रत्येक पत्र एक संदेश-वाहक होना चाहिये। हमें चाहिये कि हम उसे श्री गुरुदेव का ही संदेश बना दें। चाहे यह पत्र व्यापारिक हो अथवा किसी अन्य साधारण विषय का हो, किंतु यह सद्भावना से ओतप्रोत होना चाहिये। यह तो क्षण भर में ही किया जासकता है; जब हम पत्र लिखने बैठें तो अपने मन में सद्भावनाओं की प्रबलता होनी चाहिये; केवल वही उस पत्र को प्रभावशाली बना देगी, हमारे लिये और कुछ भी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। किंतु जब हम उस पर हस्ताक्षर करें तो उस पत्र में किसी न किसी श्रेष्ठ भावना का संचार करने के लिये हमें क्षण भर ठहर जाना चाहिये। यदि वह पत्र हम किसी मित्र को लिख रहे हैं तो उसमें अपना स्नेह भर देना चाहिये, ताकि जब वह मित्र उसे खोले तो भ्रातृस्नेह की भावना से वह पूर्ण हो उठे। यदि वह पत्र आप एक थिऑसोफिस्ट भाई को लिख रहे हैं तो उसमें उच्च वस्तुओं अथवा श्री गुरुदेव संबंधी विचारों का संचार कर दीजिये, ताकि वह पत्र उसे उन उच्च विचारों का स्मरण दिलादे जो एक थिऑसोफिस्ट के लिये सदा ही हर्षप्रद होते हैं। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति को पत्र लिख रहे हैं जिसे किसी विशेष गुण को प्राप्त करने की आवश्यकता है तो हमें उस पत्र में उसी गुण की भावना का संचार करना चाहिये। अस्तु हमें इस विषय में विशेष सावधानी रखनी चाहिये कि हमारा प्रत्येक पत्र सर्वांग सुंदर और सजीव हो।

जब हम किसी से प्रत्यक्ष मिलते हैं, तब भी इस प्रकार

की सेवा की जा सकती है। हम लोग दिन भर में अनेक मनुष्यों से मिलते हैं और कभी कभी उनसे हाथ भी मिलाना पड़ता है। हम उनके प्रत्यक्ष शारीरिक संपर्क से लाभ उठा कर उनमें प्राण शक्ति, नाड़ी शक्ति, स्नेह, उच्चविचार अथवा जे कुछ भी उपयुक्त जान पड़े उसी के प्रवाह का संचार कर सकते हैं। मनुष्य को चाहिये कि किसी से हाथ मिलाते समय इस प्रकार की कोई न कोई भावना पीछे अवश्य छोड़े; हमारे लिये यह भी एक सुअवसर है। यदि हम श्री गुरुदेव के शिष्य बनने की आकांक्षा रखते हैं तो सेवा के ऐसे अवसरों की ताक में रहना हमारा कर्त्तव्य है। जो मनुष्य किसी न किसी रूप में मनुष्य जाति के लिये उपयोगी नहीं बन जाता वह शिष्य के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य नहीं होता। मेरे विचार में यह कहना अन्याय न होगा कि साधारण मनुष्य अधिकतर इसी विचार को लेकर किसी से नवीन परिचय किया करता है कि "मैं किसी न किसी प्रकार इस मनुष्य से क्या प्राप्त कर सकता हूं।" संभव है वह प्राप्ति धन के रूप में न हो; वह किसी मनोरंजन अथवा सामाजिक लाभ के रूप में भी हो सकती है; किंतु किसी भी प्रकार से वह कुछ न कुछ प्राप्त करने का ही विचार करता है। इसके ठीक विपरीत हमारी मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि "यह मुझे एक और नया अवसर प्राप्त हुआ है, यहां मैं क्या दे सकता हूं?" यदि मेरा किसी नये व्यक्ति से परिचय कराया जाता है, तो मैं उसे अच्छी प्रकार देख कर किसी न किसी श्रेष्ठ विचार को उस के साथ संलग्न कर देता हूँ। वह विचार उस के साथ लगा रहेगा और सुयोग पाकर उसके मन में प्रवेश कर जायेगा। श्री गुरुदेव के शिष्य ट्राम पर या नाव पर जाते समय अथवा सड़क

पर चलते समय भी ऐसा ही किया करते हैं। वे ऐसे अवसरों की खोज में रहते हैं और जहां भी शुभ कामना की अवश्यकता है, वहां अपना श्रेष्ठ विचार अवश्य प्रवाहित करते हैं। प्रात:काल अथवा अपराह्न में एक वार भी वाहर आने जाने के समय वे सैंकड़ो बार ऐसा करते हैं।

जब किसी का अभिवादन किया जाता है तो वह कोरे शब्दों द्वारा ही नहीं होना चाहिये, वरन् उसके साथ हमारी हार्दिक भावना भी संयुक्त रहनी चाहिये। कहीं कहीं परस्पर अभिवादन करते समय ईश्वर का नाम उच्चारण किया जाता है और उसके आशीर्वाद का आवाहन किया जाता है; ऐसे अभिवादन कभी कभी तो केवल लोकाचार मात्र ही होते हैं, किंतु कभी कभी उन में हार्दिक शुभ कामनायें तथा ईश्वर का विचार सचमुच ही वर्तमान रहता है। हम (अंग्रेज) लोग "गुड वाई" (Good-bye) कहते हैं।" वहुत थोड़े लोग जानते हैं कि यह शब्द "ईश्वर तुम्हारे साथ रहे" (God be with you)" वाक्य का संक्षिप्त है। किंतु हमें इस वात को जानना चाहिये और वंदन करते समय हमारा आशय भी यही होना चाहिये। ये बातें छोटी प्रतीत होती हैं, किंतु प्रतिदिन की ये छोटी छोटी वातें ही अन्तर लाया करतीं हैं। यह मनुष्य के चरित्र की सूचक हैं और यही चरित्र का निर्माण करतीं हैं। यदि हम प्रति दिन की इन समस्त छोटी छोटी बातों को ध्यान पूर्वक तथा यथोचित रीति से करेंगे तो शीघ्र ही हमारा चरित्र इतना विकसित हो जायेगा कि फिर हम छोटी और वड़ी सभी प्रकार की घटनाओं के लिये सावधान, संयत, और व्यवस्थित रहेंगे। जो मनुष्य छोटी बातों में

असावधान रहता हैं उसका बड़ी बातों में सावधान रहना असंभव है । क्यों कि कभी न कभी उसका भूल करना अनिवार्य है और तब वह सावधान रहने के समय परभी असावधानी कर जायेगा । अस्तु, हमें सभी बातों में सावधान रहना सीखना चाहिये; और फिर बहुत सी छोटी छोटी बातें एकत्र होकर एक बड़ी बात बन जायेगी और थोड़े से अभ्यास द्वारा ही हम अपने हाथ के स्पर्श अथवा पत्र द्वारा दूसरों को थोड़ी ही नहीं वरन् बहुत अधिक सहायता दे सकेंगे ।

श्री गुरूदेव कहते हैं कि " जो भी कार्य तुम कर रहे हो उसी पर अपना सारा ध्यान केंद्रित कर दो । " यह बात उपन्यास और पत्रिकाओं के पठन इत्यादि उन कामों पर भी लागू होती है जो हम अपने मन को विश्रांति देने के लिये किया करते हैं । निश्चयपूर्वक बिश्राम करने और सोने के अलावे, सर्वोत्तम विश्रान्ति के लिये कुछ अन्य प्रकार के व्यायाम है । अतः जब लोग मनोरंजन अथवा विश्रांति के लिये कोई पुस्तक पढ़ रहे हों तो उस समय भी मन पर उनका अनुशासन रहना चाहिये, न कि उस समय वे मन के दास वन जायें। यदि आप कोई कहानी पढ़ रहे हों, तो अपने मन को उसी में लगा कर उसे समझने की चेष्टा कीजिये और देखिये कि उसके लेखक का आशय क्या है । बहुधा लोग ऐसी अनिश्चितता से पढ़ते हैं कि कहानी के अन्त तक पहुचते पहुंचते उसके प्रारंभ को भूल जाते हैं । उनका मन इतना अस्थिर रहता है कि वे न तो आपको कहानी का सारांश ही बता सकते हैं और न उसके द्वारा दी गई शिक्षा को ही व्यक्त कर सकते हैं । किंतु यदि हम

अपने मन को शिक्षित करना चाहते हैं, तो हमें आनन्द या मनोरंजन के लिये पढ़ते समय भी ध्यान पूर्वक ही पढ़ना चाहिये। विराम करते समय भी यही बात होनी चाहिये। सचमुच ऐसे लाखों ही मनुष्य हैं जो संसार में ठीक तरह से लेटना और विराम करना भी नहीं जानते। उन्होंने यह बात सीखी ही नहीं कि दस मिनट की ठीक तरह से विश्रांति दो घंटे तक व्यग्रतापूर्वक और अविश्रांत स्थिति में लेटे रहने के बराबर है। सफल विश्राम के लिये भी मन पर स्थिर निग्रह का होना आवश्यक है। यह निग्रह भी अन्य बातों के समान ही स्वभाविक वन जाता है और इसका अभ्यास करने वाले तुरन्त ही यह जान जाते हैं कि अब वे पहले की भाँति अव्यवस्थित ढंग से काम कर ही नहीं सकते। यदि वे विश्राम करते हैं तो उन्हें विश्राम भी भली-भाँति उचित प्रकार से ही करना चाहिये।

"अपने मनको बेकार मत रहने दो, वरन् इसकी पृष्ठभूमिका में सदा उत्तम विचारों को स्थान दे रक्खो ताकि मस्तिष्क के खाली होते ही वे उसमें आने को प्रस्तुत रहें।"

ऐनीबेसेंट—एक साधारण हिंदू के लिये ऐसा करना बहुत ही सरल बात होनी चाहिये, क्योंकि उसे बचपन से ही अवकाश के समय उत्तम वाक्यों का जप और पाठ करना सिखाया जाता है। भारतवर्ष का एक नितांत अशिक्षित व्यक्ति भी ऐसा ही करता है। यहाँ आप प्रायः ही लोगों को अपना काम समाप्त करते ही तत्काल राम राम सीता राम इत्यादि शब्दों का उच्चारण आरम्भ करते हुए सुन सकते हैं, जो एक पवित्र नाम का जप है, और कुछ नहीं। कुछ लोग सोच सकते हैं कि यह तो एक सर्वथा बुद्धि-

हीनता की बात है; किंतु, ऐसा नहीं है, क्योंकि जप करने वाले व्यक्ति पर इसका वास्तविक प्रभाव पड़ता है। यह उसके खाली मन को स्निग्ध और उन्नत विचारों पर स्थिर रखता है। मन को स्वेच्छा पूर्वक इधर-उधर भटकने देने से यह बात कहीं उत्तम है, क्योंकि अन्यथा यह मन पडोसियों की बातों में ही उलझा रहकर परचर्चा की सृष्टि करता रहेगा, जिससे कि अनगिनत हानियां उत्पन्न होंगी। हां, यदि आप किसी बाह्य जप के बिना ही मन पर अपना अनुशासन रख सकते हैं, तो अवश्य ही यह अधिक उत्तम है; किंतु अनेक लोग दोनों में से एक बात भी नहीं करते।

प्रातःकाल किसी एक पद को चुन कर उसे कंठस्थ करना एक उत्तम योजना है, जिसकी सराहना बहुत से धर्मों में की गई है। यह पद दिन में भी स्वतः ही आपके मन में आता रहेगा और मस्तिष्क के ख़ाली होने पर जो व्यर्थ विचार आयेंगे उन्हें बिखेर देगा। किसी भी उत्तम पुस्तक में से आप कुछ शब्द या वाक्य चुन सकते हैं, और प्रातःकाल (कदाचित् भेषभूषा करते समय ही) अपने विचारों को उसी पर एकाग्र करके उसका थोड़ा सा जप करने से वह वाक्य दिन के समय भी स्वतः ही आपकी स्मृति में आता रहेगा। इस प्रकार का स्वतः चलते रहनेवाला जप मन के लिये कितना सहज बन जाता है, यह बात मनुष्य तब समझ सकेगा यदि वह यह स्मरण करे कि किस प्रकार अचानक सुने हुए किसी गाने का कोई एक अंश अथवा कोई हृदय-ग्राही राग मन पर अंकित होकर उस पर अधिकार जमा लेता है और मन में बारम्बार उसी की आवृति होती रहती है। अनेक वर्षों से मैं अपनी मस्तिष्क की पृष्ठ-भूमिका में श्री गुरुदेव का ही विचार रखती आई हूँ, और अब तो यह

वहाँ सर्वदा विद्यमान रहता है, अतः जिस क्षण मेरा मन दूसरे कार्य से अवकाश पाता है, उसी क्षण स्वभावतः ही वह श्री गुरुदेव की ओर आकृष्ट हो जाता है।

लेडबीटर—हमारे मन की पृष्ठ-भूमिका में सदा श्री गुरुदेव संबंधी विचार विद्यमान रहने चाहिये, ताकि जब यह मन अन्य कार्यों में व्यस्त न हो, तो वे ही विचार मन को व्याप्त कर लें। यदि मनुष्य कोई पत्र लिख या पढ़ रहा हो, या कोई शारीरिक परिश्रम कर रहा हो, तो वह निश्चित रूप से तो श्री-गुरुदेव का चिन्तन नहीं करता, किंतु वह उस कार्य के प्रारम्भ में यह संकल्प कर लेता है कि यह कार्य श्री-गुरुदेव का ही है और मैं इसे भली प्रकार करूँगा। इतना निश्चय कर लेने के पश्चात् फिर तो वह उस कार्य का ही विचार करता है, श्री-गुरुदेव का नहीं, किंतु जैसे ही वह कार्य समाप्त होता है, श्री-गुरुदेव का विचार उसकी स्मृति में आ जाता है। इतना ही नहीं है कि इस विचार के द्वारा हमारा मस्तिष्क उत्तम बातों में व्यस्त रहेगा, वरन् इसके द्वारा अन्य विषयों पर भी हमारी विचार शक्ति स्पष्ट और दृढ़ बन जायेगी, जो अन्यथा नहीं हो सकती थी।

मन की ऐसी भूमिका बनाने के लिये लोग कभी-कभी भगवान के नामों का जप करने का अभ्यास करते हैं। भारतवर्ष में आप बहुधा देखेंगे कि लोग स्टेशन पर रेलगाड़ी की प्रतीक्षा करते समय अथवा राह चलते समय भी कुछ गुनगुनाते और पवित्र नामों का बारंबार उच्चारण करते रहते हैं। ईसाई धर्मप्रचारक मूर्ति-पूजकों के विरुद्ध एक विशेष आक्षेप यह करते हैं कि ये लोग निरर्थक जप करने में लगे रहते हैं। एक मुसलमान भी

अपने धर्मग्रन्थ कुरान की आयतों का पाठ करता है और उसकी जिह्वा पर अल्लाह का नाम रहता है। संभव है कभी कभी उसका ध्यान अल्लाह की ओर न रहता हो, परन्तु प्रायः यह नाम उसके लिये कुछ न कुछ अर्थ रखता है। यह सत्य है कि कोई कोई लोग कदाचित् ऐसे वाक्यों का उच्चारण स्वभाव वश होकर ही किया करते हैं और उसमें उनके विचारों का कोई सहयोग नहीं होता; एक ईसाई का मन प्रार्थना करते समय इधर उधर भटक सकता है, यहां तक कि एक पादरी भी अपने विचारों को पूर्णरूप से एकाग्र किये बिना ही प्रार्थना का समय व्यतीत कर दे सकता है, क्योंकि उसे सब कुछ कंठस्थ रहता है, और इसलिये संभव है कि "देवी मरियम" और "स्वर्गीय पूर्वजों" (Paternosters) का विचार किये बिना ही वह उनके नामों का उच्चारण करता हो। मनुष्य के केवल लोकाचारी होने की अर्थात् धर्म के भीतरी तत्व को अधिकांश में भूल कर केवल उसके बाह्य उपकरणों को थामे रखने की संभावना तो प्रत्येक धर्म में रहती है। परन्तु यह बात हिन्दुधर्म या बौद्ध धर्म में ईसाई धर्म की अपेक्षा कुछ अधिक नहीं हुई है, बरन्, मुझे यह कहना चाहिये कि उतनी भी नहीं हुई है। यह एक सत्य है कि राम नाम का उच्चारण लोगों को भगवान का स्मरण कराने में सहायक होता है, और जब ऐसा होता है तो यह निश्चय ही उत्तम है। यदि हम श्री गुरुदेव के नाम का उच्चारण किये बिना ही उनका चिंतन कर सकें तो यह बात उससे भी उत्तम है, किंतु उस स्वतः मानसिक चिंतन के अभाव में वाणी के जप की सहायता लेना बहुत ही अच्छा है।

मनस शरीर में कंपन की एक विशेष गति होती है जो

इन भक्तिपूर्ण भावनाओं के अनुकूल होती है। कालांतर में यह गति एक आदत ही बन जाती है और मन में भक्तिभावना का उदय सरलता से होने लगता है और यह भक्तिभावना हमारे चरित्र में व्याप्त होजाती है। यह आदत बुरे विचारों को हमसे दूर रखने में सहायक होती है। जब मस्तिष्क खाली होता है तो कोई भी उड़ता हुआ विचार इसमें प्रवेश करके इसपर अपना असर डाल सकता है, और ऐसे विचार अधिकतर बुरे और निरर्थक ही होते हैं, हितकर तो किसी भी प्रकार नहीं होते। इस प्रकार मन में प्रवेश कर जानेवाला विचार उन असंख्य विचाररूपों में से ही होता है जो हमारे चारो ओर मंडराते रहते हैं, और जो देश के जनसाधारण के ही प्रतीक होते हैं, किंतु हमारा लक्ष्य जनसाधारण से उच्च है। हम उस स्तर को प्राप्त करना चाहते है जहां से हम अपने साधारण श्रेणी के भाइयों को भी ऊपर उठा सकें किंतु जब तक हम स्वयं उच्चतर स्तर को प्राप्त न करलें तब तक हम ऐसा नहीं कर सकते।

"अपनी विचार शक्ति का उपयोग प्रतिदिन श्रेष्ठ उद्देश्यों के लिये करो और विकासक्रम में योग देने के लिये एक शक्ति बन जाओ।"

लेडबीटर—हमारी शिक्षा इस प्रचलित सिद्धांत को लेकर ही हुई है कि केवल भले मनुष्य बन जाना ही एक मात्र आवश्यक बात है, किंतु धर्म परायण बन कर बुरे कामों को त्याग देना मात्र ही यथेष्ट नहीं, हमें इससे भी आगे बढ़ कर अपनी भलाई और पवित्रता द्वारा कुछ कार्य करना चाहिये। आखिर हम पृथिवी पर क्यों आये हैं? यदि हम कुछ कर ही नहीं सकते तो धरती के लिये एक बोझ क्यों बने हैं। भले बन कर अकर्मण्यता का जीवन बिताना केवल दुर्गुणों के

अभाव का सूचक है (यद्यपि बुरे बन कर रहने से तो यही अच्छा है)। हम यहां दैवी शक्तिका स्रोत बनने के लिये आये हैं। हम, जो कि आत्मा (Monad) हैं, अतीत में उस दिव्य तेज की एक प्रज्वलित चिनगारी के रूप में परमात्मा से ही उत्पन्न हुये थे। "सीक्रेट डाक्ट्रिन" (Secret Doctine) नामक पुस्तक का यह कथन ठीक है कि "यह चिनगारी मंद मंद प्रज्वलित होती है, "किसी किसी स्थान परतो बहुत ही मंद। किंतु हमें अपने उत्साह, विश्वास और प्रेम के सहयोग से इस चिनगारी को पुनः प्रज्वलित करके इसे एक सजीव अग्निशिखा में परिणित कर देना चाहिये ताकि अन्य लोगों को भी उष्णता प्रदान कर सके।

"यदि कोई मनुष्य शोक और दुख में है और तुम उसे जानते हो, तो प्रतिदिन उसका विचार करके अपने प्रेम पूर्ण विचारों को उसके पास भेजो।

लेडबीटर—विचारों की शक्ति भी उतनी ही वास्तविक और निश्चित होती है जितना कि धन, अथवा वह जल जो हम किसी घड़े में से गिलास में भरते हैं। यदि हम इस विचार-शक्ति को एक निश्चित धारा किसी की ओर भेजते हैं, तो यह सर्वथा निश्चय जानो कि वह उसे वहां अवश्य प्राप्त होगी, चाहे हम उसे न देख सकें। हममें से बहुत से लोग किसी न किसी ऐसे मनुष्य को जानते हैं जो शोक या दुख में हैं और जिसका, हमारी भेजी हुई विचार धारा द्वारा बहुत ही उपकार होसकता है। यदि किसी समय इस दशा वाले किसी विशेष व्यक्ति को हम न भी जानते हों, तब भी हम अपने विचरों को अधिक सामान्य

रूप में प्रवाहित कर सकते हैं, और अनेक मनुष्यों में से किसी न किसी शोकग्रस्त मनुष्य को वह प्राप्त हो ही जायेगा।

यदि कोई मनुष्य श्रीमती वेसेंट के समान किसी ऐसे व्यक्ति से परिचित हो जो कि शोक और कष्ट में ग्रस्त अनेक मनुष्यों के संपर्क में आता हो, तो वह अपनी शक्ति और भक्ति के विचारो को उसके प्रति भेज सकता है, ताकि उस व्यक्ति के पास प्रवाहित करने के लिये कुछ अधिक शक्ति संचित हो जाये। उन जीवन्मुक्त महात्माओं के लिये भी यही बात समझिये। जब कोई मनुष्य भक्ति भावना से उनका चिंतन करता है तो श्री-गुरुदेव का प्रतिक्रियात्मक विचार आशीर्वाद के रूप में उसके ऊपर आता है। इसके अतिरिक्त श्री गुरुदेव के शक्ति भंडार में भी कुछ न कुछ वृद्धि होती है और उस शक्ति को वे संसार के कल्याणार्थ उपयोग में लाते हैं।

एनीवेसेंट—मुझे कहना चाहिये कि जब तक मैंने इस वाक्य को नहीं पढा था तब तक मुझे दूसरों को मानसिक सहायता देने के लिये निश्चित और नियमित अभ्यास करने की बात नहीं सूझी थी। यह सचमुच ही एक बहुत सुन्दर विचार है। प्रातःकाल ही यह निश्चय कर लीजिये कि आप दिन में अवकाश के समय किस व्यक्ति को सहायता करेंगे—और दुर्भाग्य से ऐसे अनेकों हो मनुष्य हैं जिन्हें कि सहायता की आवश्यकता है; तब दिन भर में जब भी आपका मस्तिष्क अन्य बातों से अवकाश पाये, तब इसे उस व्यक्ति के प्रति शक्ति, संतोष, सुख अथवा जिसकी भी उसे अधिक आवश्यकता हो उसी विचार को भेजने में लगा

दीजिये। यह अभ्यास किसी उत्तम वाक्य का जप करने की अपेक्षा एक स्तर ऊँचा है।

आपको किसी न किसी उपाय द्वारा अवांछनीय विचारों के लिये अपने मन का द्वार बंद कर देना चाहिये, जब तक कि यह इतना शक्तिशाली न हो जाये कि इसे इन सहायताओं की आवश्कता ही न रहे। हमारे मस्तिष्क में सर्वदा श्री गुरुदेव का ही विचार रहना चाहिये। यह विचार सदा हमारी सहायता करने को प्रस्तुत रहता है और मन की उच्च क्रियाशीलता में बाधक नहीं होता। सहायता देने के अन्य उपायों का यह निवारण नहीं करता, वरन् उसमें और अधिक शक्ति का संचार करता है। कुछ समय के पश्चात् यह आपके संपूर्ण मानसिक क्षितिज पर व्याप्त हो जायेगा और तब इसके कारण आपका प्रत्येक कार्य अधिक उत्तमता और दृढ़ता से हो सकेगा।

"अपने मन को अभिमान से दूर रक्खो, क्योंकि अभिमान की उत्पत्ति केवल अज्ञान से होती है।"

लेडबीटर—आध्यात्म-विद्या के साधकों में सूक्ष्म अभिमान की मात्रा बहुत होती है। उनका यह समझना अनिवार्य है कि जिन लोगों ने इन वस्तुओं का अध्ययन नहीं किया उनकी अपेक्षा जीवन के रहस्यों को वे अधिक जानते हैं। इस सत्य को न स्वीकार करना तो अवश्य मूर्खता होगी, किंतु, उन्हें सावधान रहना चाहिये कि कहीं ऐसा न हो कि उनके मन में उन मनुष्यों के प्रति जो अभी तक इन बातों से अनभिज्ञ हैं, तिरस्कार की भावना आजाये। आध्यात्म-विद्या के साधक इस विषय में एक साधारण मनुष्य से बढ़ कर होते हैं, किंतु बहुत संभव है कि वह

साधारण मनुष्य किन्हीं दूसरे विषयों में उनकी अपेक्षा बहुत ही बढ़ चढ़ कर हो। उदाहरणार्थ, जिस मनुष्य को साहित्य, विज्ञान और कला का पूर्ण ज्ञान है, उसने उन सब को सीखने में जितना अधिक समय और परिश्रम लगाया है, उतना हममें से बहुतों ने ब्रह्मविद्या का अध्ययन करने में नहीं लगाया है। उसने जो कार्य किया है और उसे करने में उसने जितना निःस्वार्थ परिश्रम किया है उसके लिये वह श्रेय का पात्र है। दूसरों के कार्य का तिरस्कार करना एक बुद्धिमान मनुष्य का चिन्ह नहीं, बल्कि बुद्धिमान मनुष्य का चिन्ह यह है कि वह समझे कि सभी समान रूप से उन्नति कर रहे हैं।

बहुत से लोगों में एक मिथ्या गर्व रहता है; वे सदा अपने आप को सही, अतिश्रेष्ठ, इत्यादि इत्यादि समझना पसन्द करते हैं। किन्तु, जिन बातों के लिये वे अपनी प्रसंशा करते हैं, वे प्रायः ही जीवात्मा के स्वीकार करने योग्य नहीं होतीं। जीवात्मा में विकास प्राप्त प्रत्येक गुण अपने शुद्ध रूप में ही रहता है। जैसे यदि उसमें स्नेह की भावना है तो वह स्नेह सदा ईर्ष्या, स्पर्धा, और स्वार्थ के दोष से रहित होता है। वह स्नेह उस सीमा तक दिव्य प्रेम का ही दर्पण है, जहाँ तक कि जीवात्मा उसे अपनी भूमिका पर पुनर्उत्पन्न कर सकता है। कभी-कभी हम अपनी यथेष्ठ उन्नति कर लेने का भी अभिमान किया करते हैं। यह बात चार वर्ष के उस बालक की सी है जो यह अभिमान करे कि वह बहुत बढ़ रहा है। अपनी आयु के अनुसार वह समुचित बढ़ा है, किंतु एक इक्कीस वर्ष के व्यक्ति की उन्नति तो उससे बहुत भिन्न होगी। बुद्धि,

भक्ति, स्नेह, सहानुभूति की हमारी शक्तियाँ हममें विद्यमान हैं, किंतु भविष्य मे वे जैसी होंगी उसकी तुलना में तो वे अभी बहुत ही तुच्छ है। अतएव अपने आपको शाबाशी देने के लिये ठहरने के स्थान पर हमें और आगे बढ़ते रहने की चेष्टा रखनी चाहिये, और इन गुणों को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस कार्य में ध्यान का अभ्यास एक बड़ी सहायता है। यदि मनुष्य स्नेह जैसे गुण की वृद्धि करने को ठान लेता है और उस पर ध्यान करके उसे अपने हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करता है, तो थोड़े ही समय में वह अपने भीतर उस अभीष्ट गुण को विकसित देख कर चकित हो जायेगा।

श्री गुरुदेव कहते हैं कि अभिमान सदा अज्ञान से उत्पन्न होता है। मनुष्य जितना ही अधिक ज्ञान प्राप्त करता है, उतनी ही उसके अभिमानी होने की सम्भावना कम हो जाती है, क्योंकि यह देखने में वह अधिक समर्थ हो जाता है कि उसका ज्ञान बहुत ही अल्प है; और यदि उसे इन महर्पियों में से किसी के संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हो जाये, तब तो यह बात और भी विशेषरूप से सत्य हो जाती है। उस मनुष्य में फिर कभी अभिमान की भावना आ ही नहीं सकती, इस बात के लिये भी नहीं, क्योंकि जब कभी भी वह सोचता है कि वह अमुक कार्य करने में समर्थ है अथवा उसमें अमुक गुण हैं, तो उसे अनिवार्यरूप से यह विचार आजाता है कि "मैंने यह गुण श्री गुरुदेव में देखा है, और उनके निकट मेरे इस गुण की बिसात ही क्या है!"

इन महर्पियों में गुणों का विकास इतना महान हुआ रहता

है कि उनमें से किसी का परिचय प्राप्त हो जाना ही अभिमान जैसी वस्तु के लिये पूर्ण और तत्कालीन चिकित्सा है। तथापि श्री गुरुदेव को देखकर कोई भी हतोत्साह नहीं होता। साधारण जीवन में तो ऐसा होता है कि जब आप यह सोचते हैं कि अमुक कार्य को आप थोड़ा बहुत कर सकते हैं, और फिर जब आप उस कार्य में किसी दक्ष व्यक्ति के समक्ष जाते हैं तो उस महान् व्यक्ति की तुलना में आपको अपनी अल्पता का भान होने लगता है और आप प्रायः क्षुब्ध और हताश हो जाते हैं, किंतु श्री गुरुदेव की समक्षता में यह भावना नहीं आती। इनके समक्ष आपको अपनी अयोग्यता और लघुता का तो तीक्ष्णता से भान होता है, किंतु साथ ही आप अपने विकास की सम्भावनाओं को भी जान लेते हैं। वहाँ आपको यह भावना नहीं आती कि हमारे सम्मुख तो अथाह खाई है जिसे पार करना असंभव है, किंतु यह भावना आती है कि "मैं भी ऐसा कर सकता हूं, और अब मैं इन्हीं का अनुकरण करने में लग जाऊँगा।" श्री गुरुदेव का प्रत्येक संपर्क हमें यही उत्तेजन देता है। उनकी समक्षता में मनुष्य की वही भावना रहती है, जो कि क्राइस्ट के शिष्यों ने व्यक्त की थी कि "क्राइस्ट की प्रेरणा से मैं सभी कार्यों को कर सकता हूं, वे ही मुझे शक्ति प्रदान करते हैं।" श्री गुरुदेव की इसी शक्ति के कारण मनुष्य उस समय यही सोचता है कि "अब मैं कभी विषाद-ग्रस्त नहीं होऊंगा, कभी शोक नहीं करूँगा; जो चिड़चिड़ेपन की भावना कल मेरे में आई थी, उसे फिर कभी नहीं आने दूँगा। जब मैं पहिले की बातें सोचता हूं तो देखता हूं कि कुछ बातों ने मुझे कितना व्याकुल कर दिया था। यह बात कितनी उपहास्यास्पद है; मुझे किसी भी बात से कभी भी क्यों चिन्ता होनी चाहिये

इत्यादि ।" यह संभव है कि श्री गुरुदेव के दिव्य प्रभाव की प्रत्यक्ष किरणों में से निकलने के पश्चात् हम फिर भटक जायें, क्योंकि हम यह भूल जाते हैं कि यदि हम चाहें तो वे किरणें प्रत्यक्ष और दृष्टिगोचर न रहने पर भी हम तक पहुँच सकती हैं, और हम सर्वदा श्री गुरुदेव के तेजस के भीतर रह सकते हैं।

"अज्ञानी मनुष्य ही अपने को महान् समझता है, और सोचता है कि अमुक महान् कार्यों को उसने किया है; किन्तु ज्ञानी मनुष्य यह जानता है कि केवल ईश्वर ही महान् है और वही प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य का कर्त्ता है।"

ऐनी बेसेंट—यह गीता का एक उपदेश है कि केवल ईश्वरेच्छा ही हम सबके द्वारा कार्य कर रही है। समस्त कार्य उस समष्टि द्वारा ही होता है, व्यक्ति द्वारा नहीं। व्यक्ति तो अधिक से अधिक केवल यही कर सकता है कि वह अपने आपको उस दैवी क्रियाशीलता का एक उपयोगी साधन बना दे। इस बात के लिये हमारा गर्व करना वैसा ही है, जैसा हमारे हाथ की किसी एक अंगुली का गर्व करना। अपने आप को उस दैवी इच्छा का एक कुशल साधन बना लीजिये और फिर आपको प्रतीत होगा कि वही कर्त्ता आपका उपयोग कर रहा है, क्योंकि आप एक उपयुक्त साधन हैं।

अब हम फिर उसी बात पर आ गये जहाँ से हमने प्रारम्भ किया था। हमने देखा था कि आत्मानुभूति से समस्त भय का नाश हो जाता है, और अब हम देखते हैं कि इससे समस्त अभिमान भी नष्ट हो जाता है। यही वह एक महान् मूल सत्य है। यह जान लेना चाहिये कि विविध प्रकार की यह सभी बातें हमें बारंबार उसी एक

सत्य की ओर ले जाती हैं कि प्राणिमात्र में एक ही जीवन व्याप्त है।

लेडबीटर—प्रत्येक मनुष्य में ईश्वर का निवास है और मनुष्य में जो कुछ भी श्रेष्ठता या महानता होती है वह सब ईश्वर की ही विभूति है। वही हमारे समस्त कार्यों का कर्त्ता है। यह बात विचित्र प्रतीत हो सकती है। आप कह सकते हैं कि यह व्यक्तित्व की भावना को सर्वथा नष्ट करने की बात प्रतीत होती है, किंतु, ऐसा विचार हमें इसी लिये आता है कि हमारा स्थूल मस्तिष्क ईश्वर के साथ हमारे सच्चे संबंध को समझने में असमर्थ है। मध्यकाल के ईसाई जो कहते थे कि "यह महत्ता ईश्वर की है," उसका भी यही सार था। हमारा अपने किसी कार्य के लिये अभिमान करना वैसा ही है, जैसे कि पियानो पर कोई गत बजाते समय हमारे हाथ की कोई एक अंगुली यह कहे कि "अमुक स्वर मैंने कितनी सुन्दरता से वजाया, यह मैं ही थी जिसने उस राग को इतना मधुर बना दिया", आख़िर और सब अंगुलियों ने भी तो अपना-अपना निर्धारित कर्त्तव्य किया है, और उन सबने वह कार्य अपने भिन्न संकल्प से नहीं किया, वरन् अपने पीछे कार्य करने वाले मस्तिष्क का यंत्र बनकर ही किया है। हम सब ईश्वर के हाथ की अंगुलियाँ हैं और उसी की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ है। मैं भली प्रकार जानता हूँ कि इस बात को पूर्णरूप से अनुभव करना हमारे लिये असंभव है, किंतु हम जितना ही अधिक अपनी उच्च चेतना का विकास करते हैं, उतना हैं हमको इस बात का अधिक भान होता है, और यदा-कदा जब हम ध्यानावस्था अथवा उच्च भावावस्था में होते हैं तो हमें इस एकता का क्षणिक आभास प्राप्त हुआ करता है।

उन्नीसवां परिच्छेद

इन्द्रिय-निग्रह

२—कर्म में आत्म-संयम—यदि तुम्हारा विचार उत्तम और यथार्थ है, तो उसके अनुकूल कार्य करने में तुम्हे अधिक कठिनाई न होगी।

ऐनी बेसेंट—यह वाक्य इस सत्य को जिससे कि आध्यात्म विद्या का प्रत्येक साधक परिचित है, व्यक्त करता है कि कार्य को अपेक्षा विचार का महत्व अधिक है। साधारण दृष्टि से यह वात सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है, किंतु यह सत्य है, क्योंकि विचार ही कार्य का जन्मदाता है। यद्यपि कुछ कार्य ऐसे हो सकते हैं जो स्वतः प्रेरित हों, किंतु ऐसे कार्यों के अग्रगामी विचारों को ढूँढने के लिये आपको बहुत पीछे जाना पड़ेगा, कदाचित् पूर्व जन्म तक भी जाना पड़े।

जब किसी निश्चित विषय पर आपके मन में यथेष्ट विचार-बल संचित हो जाता है, और फिर जब उस विचार को व्यक्त करने का अवसर उपस्थित होता है, तो वह विचार अनिवार्य रूप से कार्य में परिणित हो जाता है। किसी विशेष विषय पर किया गया प्रत्येक विचार उसे थोड़ा सा प्रवर्तन और दे देता है, और इस प्रकार संचित किया हुआ प्रवर्तनों का वह बल आपको उस कार्य में प्रवृत्त कर देता है। हिन्दू लोगों का यह मानना ठीक ही है कि कर्म के तीन अंग होते हैं—विचार, इच्छा, और क्रिया। यह बात सत्य है। अस्तु, आपके जीवन में कुछ कार्य ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें करने का विचार आपको निकट

भूत काल में न आया हो और जो तत्क्षण ही किये गये हों ? किंतु ऐसी घटनायें वे ही होती हैं जिनमें विचार की क्रिया तो पहिले ही समाप्त हो गई होती है और उनके अवशिष्ट प्रवर्तन के रूप में कर्म के अंतिम भाग क्रिया का होना अवश्यम्भावी हो जाये। इस प्रकार कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी भी विचार धारा में आप अपनी निर्णय करने की पूरी शक्ति लगा देते हैं किंतु फिर नियंत्रण शक्ति का पूरा बल लगा देने पर भी जब आपके समक्ष प्रथम अवसर उपस्थित होता है तो वह विचार अवश्य कार्य रूप में परिणित हो जाता है। व्यक्त होने के अवसर के अभाव में उस विचार का एक दीर्घकाल तक अप्रकट रहना संभव हो सकता है, किंतु अनुकूल परिस्थिति के आते ही वह विचार अवश्य कार्य रूप में परिणित हो जायेगा।

अस्तु, विचार-क्रिया के रहस्यको समझना परम आवश्यक है। सावधानी पूर्वक अपने विचारों को उत्तम बातों की ओर लेजाइये, क्योंकि आप नहीं बता सकते कि कब वह समय आजाये जब कि आपका आगामी विचार कार्य का रूप धारण कर ले। इसी कारण जगत् के समस्त महान् आचार्यों ने विचार का इतना महत्व बतलाया है; और इस पुस्तक में भी साधकों को यहां उसी की फिर से चेतावनी दी गई है। इस स्थान पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं मनस् ही क्रिया-शीलता है; आत्मा के तीन स्वरूप हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया; और यही तीनों आत्मा, बुद्धि, और मनस् के रूप में व्यक्त होते हैं। यहां आप इस बात को जान जाते हैं कि विचार ही क्रिया का रूप धारण करता है।

लेडबीटर—यह एक प्रत्यक्ष सत्य है कि विचार से ही कार्य का जन्म होता है। ऐसे भी अवसर आते हैं, जब हम मानों विचार उत्पन्न हुये बिना ही कार्य करते प्रतीत होते हैं, किंतु, वह कार्य भी किसी न किसी पूर्व विचार का ही परिणाम होता है—हमें किन्हीं विशेष विषयों या किसी विशेष क्रम के अनुसार विचार करने की आदत होती है और अंतः प्रवृत्ति से प्रेरित होकर हम उसी विचार के अनुकूल कार्य किया करते हैं। कभी-कभी कोई मनुष्य कोई काम कर चुकता है और फिर कहने लगता है कि "मैंने तो ऐसा करने का विचार ही नहीं किया था, किंतु मैं ऐसा किये बिना रह न सका।" परन्तु सत्य तो यह है कि वह मनुष्य कदाचित् अपने पूर्वजन्मों के विचारों के अनुसार कार्य कर रहा होता है। यद्यपि मनुष्य का मानस शरीर (Mental body) वही नहीं होता जो उसे पूर्व जन्म में प्राप्त था, किंतु उसका स्थायी मानसिक परमाणु (Mental unit) वही रहता है जो कि उस शरीर का मध्य बिंदु या केंद्र (Nucleus) होता है और किसी अंश तक उस शरीर का तत्व (epitome) होता है। वही स्थायी परमाणु उस मनुष्य के अभ्यस्त विचारों को संस्कारों के रूप में एक जन्म से दूसरे जन्मों में साथ ले जाता है।

बहुधा यह बताया गया है कि मनुष्य अपने कारण-शरीर में (Causal body) केवल अपने सद्गुण ही एक जन्म से दूसरे जन्मों में ले जाता है। यह बात सत्य है, क्योंकि कारण शरीर मनोलोक (Mental Plane) के पहिले, दूसरे और तीसरे, इन तीन उच्च उपलोकों (Subplanes) के पदार्थों से निर्मित है, और उन भूमिकाओं के पदार्थ निकृष्ट अथवा अवांछनीय गुणों के कंपनों का

प्रतिपादन नहीं कर सकते। अस्तु, वास्तव में तो मनुष्य अपने में सद्गुणों को ही स्थापित कर सकता है, जो कि हमारे लिये बहुत ही सौभाग्य की बात है, क्योंकि अन्यथा हम सबने अपने भीतर बहुत सी बुरी बातें भी स्थापित कर ली होतीं जो कि हमारे विकास में सहायक न होकर बाधक बन जातीं। किंतु मनुष्य मनोलोक, भूवर्लोक, और स्थूललोक आदि विभिन्न लोकों के स्थायी परमाणुओं (Permanent atoms) को अपने साथ ले जाता है, और उन्हीं के कंपन मनुष्य के जन्मजात संस्कारों के रूप में प्रकट होते हैं।

इस प्रकार मनुष्य विकसित गुणों की अपेक्षा गुणों के बीज ही साथ लाता है। श्रीमती ब्लावैड्स्की इन्हें पदार्थ का अभाव कहा करती थीं, अर्थात् वे शक्तियां जो पदार्थ के सहयोग से तो क्रियात्मक रहती हैं, किंतु जब तक पदार्थ जीवात्मा के चारों ओर एकत्रित नहीं हो जाता तब तक वे भी पृथक् रहती हैं। अस्तु, जब एक मनुष्य कोई कार्य मानों 'बिना विचारे' करता है. तब वह कार्य उसके उन पूर्व विचारों की ही गतिशक्ति के अनुसार होता है। इस कारण भी हमें अपने विचारों पर सावधान पूर्वक चौकसी रखनी चाहिये, क्योंकि न जाने कब वे विचार कार्य रूप में परिणित हो जायँ। जो मनुष्य यह सोच कर किसी बुरे विचार को मन में प्रश्रय देता है कि वह उस विचार के अनुसार कार्य कभी न करेगा, उसे विदित हो जायेगा कि किसी न किसी समय वह विचार उसके सावधान होने से पहिले ही कार्य का रूप धारण कर लेगा।

बालकों की सहायता करने में इस ज्ञान का बहुत उपयोग किया जा सकता है। जब जीवात्मा नवीन शरीर धारण करता है, तो उसके इस जन्म के माता-पिता और

सुहृद्‌जन उसमें प्रकट होने वाले सद्गुणों को प्रोत्साहन देकर दुर्गुणों को व्यक्त होने का अवसर न देकर उसकी वहुत कुछ सहायता कर सकते हैं। जव हम किसी वालक को उसके सद्गुणों पर आचरण करने देते हैं और उसके दुर्गुणों के प्रकट होने से पहिले ही उन सद्गुणों को उसके स्वभाव में व्याप्त कर देते हैं, तो हम उसकी सर्वोत्तम सहायता करते हैं। उसके दुर्गुण एक न एक दिन प्रकट तो अवश्य ही होंगे, किन्तु यदि उसमें पहिले से ही सद्गुणों की अनुकूल गति-शक्ति वर्तमान है, तो दुर्गुणों के लिये अपना प्रभाव डालना कठिन हो जायेगा। अतः जीवात्मा की संपूर्ण इच्छा तो यही है कि वह अपने इन सब शरीरों के विपरीत झकोरों के विरुद्ध संघर्ष करते हुये ही इन शरीरों द्वारा कार्य करता रहे, और ऐसा होने पर संभवतः वे सभी दुर्गुण उसी जीवनकाल के क्रम में आमूल नष्ट हो जायेंगे और उस जीवात्मा के आगामी जीवन में उनका कोई चिन्ह शेष न रहेगा।

"तथापि यह स्मरण रखो कि मनुष्य जाति की सेवा करने के लिये अपने विचारों को कार्य रूप में परिणित करना आवश्यक है। भले कार्यों के लिये तनिक भी आलस्य न करके निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये।"

ऐनीबेसेंट—यह एक परम आवश्यक चेतावनी है कि सेवा-परायण वनने के विचार को कार्य का रूप अवश्य देना चाहिये। अधिकांश व्यक्तियों में इस वात का वहुत अभाव है। हमारे मन में विचार तो रहते हैं, किंतु वे व्यवहार में नहीं आते, और ये सव वातें दुर्वलता के मूल हैं। महात्मा मौर्य ने एक वार कहा था कि व्यवहार में न लाया हुआ

एक उत्तम विचार कैन्सर अर्थात् भीतर ही फैलने वाले नासूर के फोड़े के समान कार्य करता है। यह एक सुस्पष्ट उपमा है जिससे हमें यह समझने में सरलता होनी चाहिये कि ऐसा विचार केवल उपयोगिता के अभाव का ही सूचक नहीं है, वरन् निःसंदेह रूप से हानिकारक भी है। अपने श्रेष्ठ संकल्पों को व्यवहार में लाकर हमें अपने नैतिक सूत्र को निर्बल नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि यह बाधा-रूप है, जो उसी विचार के पुनः उत्पन्न होने पर उसे कार्य में लाना अधिक कठिन बना देती है। अस्तु, विलम्ब मत कीजिये, शुभकार्यों को स्थगित मत कीजिये, उन्हें असंपादित मत छोड़िये। हममें से बहुत से मनुष्य अपने श्रेष्ठ संकल्पों को व्यवहार में न लाकर अपनी प्रगति को व्यर्थ कर देते हैं। अंग्रेज़ी की एक कहावत है कि नरक का रास्ता अच्छे विचारों रूपी ईंटों से बना हुआ है; तात्पर्य यह कि स्थगित रक्खे हुए हमारे अच्छे विचार हमें इसी ओर ले जाते हैं।

व्यवहार में न लाया हुआ उत्तम विचार एक हानि-कारक शक्ति बन जाता है, क्योंकि यह उस मादक द्रव्य के समान होता है जो कि मस्तिष्क को जड़ बना देता है। अपनी विचार-क्रिया को सावधानी से व्यवस्थित कीजिये, और जब कभी भी अपनी आत्मा द्वारा आपको कोई सेवा करने का प्रवर्तन मिले, तब उसे तुरन्त ही कार्य में लाइये, कल के लिये मत छोड़िये। ऐसा करके आप एक सुअवसर गँवा रहे हैं। यह एक ऐसी बात है जिसके कारण संसार में बहुत से भले व्यक्ति आज प्रतीक्षा करते हुये ज्यों-त्यों करके अपना समय काट रहे हैं। एक भले व्यक्ति से दस वर्ष के पश्चात् मिलने पर भी उसे पहिले जैसा ही पाना एक अति सामान्य बात है। इस प्रकार वर्षों तक लोगों की वही

कठिनाइयाँ और प्रलोभन, वही शक्ति और दुर्बलतायें पड़ी रहती हैं। किन्तु, थिऑसोफ़िकल सोसायटी के सभासद पर यह बात कभी चरितार्थ नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इन सब नियमों के विषय में कुछ न कुछ जान लेना हमारा कर्त्तव्य है।

यह बात मेरे विचार में कभी-कभी इसीलिये सत्य हो जाती है कि हम यह समझने में असमर्थ रहते हैं कि व्यवहार में न लाया हुआ उत्तम विचार बाधा उपस्थित करता है। यदि आप उत्तम विचारों को कार्य का रूप दे देते हैं तो वैसे विचार आपको अधिकाधिक आते रहेंगे। कोई भी अनुकूल बाह्य-परिस्थिति अथवा बाह्य ज्ञान की वृद्धि आन्तरिक उद्योग और संकल्प के अभाव की तथा अपने पूर्व ज्ञान को व्यवहार में लाने की असमर्थता की स्थान-पूर्ति नहीं कर सकती। कार्य ही सदा आपके विचारों का परिणाम होना चाहिये; इसे एक नियम बना लीजिये। मेरा तात्पर्य यह नहीं कि आप सदा अपने विचारों को तत्काल ही कार्य में ला सकेंगे, क्योंकि कदाचित् परिस्थितियां अनुकूल न हों, किंतु शीघ्र ही आपको अनुकूल अवसर प्राप्त होगा। तब तक अपने विचारों को सर्वथा न भुलाकर ध्यान में रहने दीजिये। तब वह विचार एक पकते हुए फल के समान होगा, और यदि आप ऐसा करेंगे तो वह व्यवहार में न लाया हुआ विचार आपको हानि न पहुँचायेगा, और अनुकूल अवसर के प्राप्त होते ही आप उसे कार्य मे ले आयेंगे।

"किन्तु जो कार्य तुम करो वह तुम्हारा अपना कर्त्तव्य होना चाहिये किसी दूसरे का नहीं, और यदि दूसरे का हो भी तो वह उसकी अनुमति से तथा उसे सहायता पहुँचाने के हेतु से ही किया जाना चाहिये।

प्रत्येक मनुष्य को अपना कार्य उसकी अपनी ही रीति के अनुसार करने दो; जहां सहायता की आवश्यकता हो वहां सहायता पहुँचाने के लिये उद्यत रहो, किंतु कभी भी दूसरे के काम में हस्तक्षेप मत करो। अपने ही काम से काम रखना एक ऐसी बात है जिसे सीखना संसार के अनेक मनुष्यों के लिये सबसे कठिन है, किंतु तुम्हें इस बात का अवश्य सीखना चाहिये।"

एनीबेसेंट—अब वह चेतावनी दी गई है जिसकी अति क्रियाशील अर्थात् राजसिक प्रकृति वाले लोगों को आवश्यकता है। अब हमें इस दोधारे पथ के दूसरे पक्ष का विचार करना है; जैसे एक ओर आलस्य का परित्याग करना आवश्यक है, उसी प्रकार दूसरी ओर पराये कामों में हस्तक्षेप न करना आवश्यक है। कहते हैं कि अति चंचल मनुष्य की इच्छावृत्ति सदा सभी के कामों में टांग अड़ाने की ओर रहा करती है, किंतु दूसरों के काम उनके अपने हैं, आपको उनके बीच में नहीं पड़ना चाहिये। आपको स्मरण होगा कि श्रीमद्भगवद्गीता जो कि कर्मयोग की ही वाणी है, क्योंकि उसमें निरन्तर कर्म करने के ही विषय का प्रतिपादन किया गया है, उसमें भी अयोग्य कर्म करने के विरुद्ध चेतावनी दी गई है। गीता का वचन है—परधर्मो भयावहः अर्थात् दूसरे का कर्त्तव्य भयप्रद होता है।

कारण स्पष्ट है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी-अपनी विचार क्रिया का क्रम भिन्न-भिन्न होता है अतः यदि आप अपनी विचार धारा को लेकर किसी दूसरे के कार्य में योग देते हैं, तो निश्चय ही आप कार्य को नष्ट कर देंगे। उसका कार्य उसकी अपनी विचार क्रिया का एक युक्ति-संगत परिणाम है; यह आपके विचारों और युक्तियों का यथोचित परिणाम नहीं है, और न हो ही सकता है। यह

बात एक चंचल प्रकृति के मनुष्य को सीख लेनी चाहिये कि पराये कामों में अपने को मिश्रित करके वह केवल गड़-बड़ ही उत्पन्न करता है। मेरी भी इच्छा पहिले दूसरों को उसी प्रमाण के अनुसार सुधारने की रहा करती थी जो कि मेरी दृष्टि में उनके लिये उचित था—जो कि मेरे अपने लिये तो अवश्य ही उचित था—किंतु अपनी साधना के क्रम में मैंने सीखा कि कार्य करने की रीति यह नहीं थी।

दूसरे मनुष्य की प्रणाली यदि सूक्ष्म दृष्टि से सर्वोत्तम न भी हो, तो भी वह उस व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम हो सकती है। उस व्यक्ति के गुण और दोष दोनों का बल उसके पीछे वर्त्तमान रहता है, और वही प्रणाली उसके विकास का यथोचित मार्ग निर्धारित कर देती है। मान लीजिये कि एक मनुष्य लिखते समय अपनी कलम को एक विशेष प्रकार से पकड़ता है जो कि सर्वोत्तम नहीं, अब यदि आप उसमें हस्तक्षेप करके उसे कलम को भिन्न प्रकार से पकड़ने के लिये बाध्य करें, तो वह और अधिक भद्दा ही लिखेगा, सुन्दर नहीं। वह उस पुरानी विधि के अपने लम्बे अभ्यास द्वारा प्राप्त लाभ को खो देगा, और उसकी पूर्ति करने में उसका बहुत सा समय और शक्ति नष्ट हो जायेगी। हां, यदि उस दूसरी विधि को उत्तम मानकर वह स्वयं अपने लिखने की विधि में परिवर्तन करना चाहता है और उसमें आप की सहायता चाहता है, तब बात दूसरी है। उसे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने का अधिकार है, और तब उसके कार्य के पीछे उसकी इच्छाशक्ति का बल भी रहेगा।

यह स्पष्ट है कि एक प्रबल व्यक्ति कुछ समय के लिये

दूसरे पर सरलता से अपना प्रभुत्व जमा लेगा। इतिहास ऐसे बड़े-बड़े व्यक्तियों के अनेक उदाहरण देता है जिनके जीवनकाल में चहुंओर उन्हीं की सत्ता छाई हुई थी, किन्तु जिनकी मृत्यु के पश्चात् उनका मुख्य कार्य ही छिन्न-भिन्न हो गया। वे लोग भूल गये थे कि वे नाशवान हैं और इसलिये उन्हें मृत्यु द्वारा पड़ जाने वाले अन्तर को पहिले से ही सोच लेना चाहिये। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके कार्य का नष्टभ्रष्ट हो जाना उनके अपने में ही केंद्रित रहने के भूल के अशुभ कर्म का परिणाम है। इससे तत्क्षण ही प्रकट हो जाता है कि उन व्यक्तियों ने सफल कार्य-शीलता की स्थितियों को नहीं समझा था। उन्होंने यह सोचा ही नहीं था कि एक कार्यकर्त्ता और नेता को चाहिये कि सुयोग्य व्यक्तियों को संगठित करके उन पर विश्वास रखते हुए उन्हें अपने ही कार्य-क्रम के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र रक्खे। मनुष्य को कार्य के प्रत्येक ब्योरे की देख रेख स्वयं ही करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये और फिर ऐसा हो भी नहीं सकता।

यह संसार एक मूल-भूत एकता को लिये हुये अनेक विभिन्नताओं से निर्मित है। मनुष्य से इतर प्राणी प्राकृतिक नियमों का पालन इसलिये करते हैं कि सच्ची वास्तविकता को न जानने के कारण वे ऐसा करने को बाध्य होते हैं। किंतु मनुष्य अपेक्षाकृत स्वतंत्र रखा गया है—एक विशेष सीमा तक वह स्वतंत्र है और स्वेच्छानुसार कार्य कर सकता है, किंतु उस सीमा से आगे उसका भी वश नहीं चल सकता। अपनी विधि के अनुसार कार्य करने में ही उसकी उन्नति निहित है। दैवी योजना के अनुसार मनुष्य जैसे-जैसे उन्नति करता है, वैसे-वैसे उसे अधिकाधिक

स्वतंत्रता प्राप्त होती जाती है। और उस शक्ति को बुद्धिमत्ता पूर्वक उपयोग करने के लिये उस पर विश्वास किया जाता है, ताकि थोड़ा-थोड़ा करके कदम-कदम चलके हम पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लें। पशु, जो कि उन्नति के इस सोपान के निचले सिरे पर हैं, इन नियमों का पालन पूरी तरह किंतु विना समझे बूझे करते हैं; जीवन्मुक्त महात्मा, जो कि इसके ऊपरी सिरे पर हैं, इन नियमों का पालन पूरी तरह किंतु पूर्णज्ञान रखते हुये करते हैं; और हम इन दोनों श्रेणियों के वीच में कहीं पर स्थित हैं।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि हस्तक्षेप करने से दूसरे पर मानसिक प्रभाव भी पड़ता है, और हस्तक्षेप न करना मनोनिग्रह से संबंध रखता है। विचार द्वारा किया गया विरोध वहुत शक्तिशाली होता है। दृष्टान्त के लिये मान लीजिये कि हममें से किसी एक व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार की कठिनाई है, जिस पर विजय पाने की वह चेष्टा कर रहा है। यह कठिनाई कदाचित् उसकी प्रकृति की ही किसी दुर्वलता से उत्पन्न है, अथवा उसके विचार या कार्य की कोई अवांछनीय प्रणाली है जिसकी ओर पुरानी आदत के वल से उसका झुकाव है। यह चाहे जो कुछ भी हो, किंतु वह मनुष्य उसे जीतने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। अव एक मनुष्य आता है और उस विशेष प्रकार की कठिनाई या दुर्वलता के लिये उस पर संदेह करता है। वह मनुष्य उस संदेह को करता हुआ अपने काम से चला जाता है और उसे कभी यह विचार भी नहीं आता कि उसने इस प्रकार कोई विशेष हानि की है।

यह दूसरा व्यक्ति इस वात को नहीं समझता कि उसके इस कार्य ने उसके उस वन्धु को अपने कार्य का अनुचित

निर्णय करने तथा उल्टे मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता दे दी है। उसकी आदत और उद्योग की शक्तियाँ कदाचित् समान बल से परस्पर संघर्ष कर रही थीं, किंतु उसके संदेहयुक्त विचार ने आदत के पलड़े को झुका दिया और उसका उद्योग असफल रहा। यही कारण है कि किसी पर संदेह करना इतना बुरा है। यह सदा ही बुरा होता है। यदि वह संदेह सत्य है तो वह उस व्यक्ति को उल्टे मार्ग पर थोड़ा और आगे बढ़ा देता है, और यदि वह असत्य है तो वह उस व्यक्ति के लिये किसी दूसरे समय उस विशेष प्रकार के कार्य में उल्टे रास्ते जाना सरल कर देता है। प्रत्येक प्रकार से यह उसके प्रति दुष्ट विचार भेजता ही है, अतः यह हर तरह से अनुचित है। हमें सदा लोगों में अच्छी बातों का ही विचार करना चाहिये, चाहे हमारी धारणा उनके व्यवहार की अपेक्षा कुछ उच्च ही क्यों न हो। इस प्रकार हम उन्हें एक ऐसा विचार भेजते हैं, जो केवल उनके हित के लिये ही कार्य करेगा।

इन तथ्यों को याद रखना इसलिये भी आवश्यक है कि एक न एक दिन इस मार्ग पर उन्नति करने वाले प्रत्येक मनुष्य के प्रति आसुरी शक्तियों द्वारा दुष्ट विचारों का समूह प्रवाहित किया जाता है; और क्योंकि आपको अनुचित मार्ग की ओर ढकेलने के अभिप्राय से बुराइयों का एक समूह आपके प्रति भेजा जाता है, अतः आपको यह जान लेना चाहिये कि संदेह करने से कितनी हानि हो सकती है, और आपको अपने विचारों और कार्यों के विषय में अधिक सचेत रहना चाहिये। आपके साथ कुछ भी क्यों न बीते, आपको तो क्रोध और रोष की भावनाओं से रहित होकर इसी कठोर सत्य की पहचान द्वारा विचार करना चाहिये।

जब कभी भी किसी प्रवल द्वेषपूर्ण वातावरण से आपको काम पड़े, तो याद रखिये कि बाइबल के कथनानुसार आपको दृढ़ संकल्प करना चाहिये, और उस बुराई का प्रतिकार करने के लिये उस आसुरी शक्ति से विपरीत गुण वाली शक्ति के द्वारा परिस्थिति का सामना करना चाहिये जो उस बुरी शक्ति के प्रभाव को मिटा दे। ऐसा करने पर आपके प्रति प्रवाहित किया हुआ बुरे विचारों का वह समूह आपको कोई हानि न पहुँचातेगा। वरन् इसके विपरीत आप उससे लाभ उठायेंगे, क्योंकि इससे आपको अपनी दुर्बलताओं को पहचानने में सहायता मिलेगी। यह उन्हें प्रकट कर देगा, जो कि अन्यथा कदाचित् छिपी हुई ही रह जातीं। उस आक्रमण का सामना करने का आपका दृढ़ संकल्प भी आपको वल प्रदान करेगा, और आपको उन्नति की उस स्थिति पर पहुँचा देगा जहां कि इन सब बातों का आप पर कोई भी प्रभाव न पड़ सकेगा।

अस्तु, आपको अपना निज का कर्त्तव्य तो पूर्ण रूप से पालन करना चाहिये, किंतु दूसरों का कार्य उन्हीं के लिये रहने देना चाहिये, जब तक कि वे स्वयं आप से सहायता न मांगें। अपना कार्य अपनी अधिक से अधिक योग्यता से कीजिये और दूसरों का कार्य जहाँ तक बन सके उन्हीं के लिये छोड़ दीजिये।

लेडबीटर—दूसरों का विरोध करने का एक बहुत बड़ा कारण धार्मिक मिथ्या धारणायें भी होती हैं। कट्टर ईसाई धर्म ने तो दूसरों के बीच में दखल देना अपना धन्धा ही बना लिया है। यह धर्म दूसरे की आत्मा का उद्धार करने के कार्य से ही प्रारम्भ होता है, और यह नहीं समझता कि मनुष्य का कर्त्तव्य आत्मा का उद्धार करना नहीं, वरन्

आत्मा को अपना उद्धार करने देना है। यह सर्वथा निश्चित बात है कि किसी भी परिस्थिति में किसी मनुष्य को दूसरे की जीवात्मा और देहाभिमानी व्यक्तित्व के बीच में दखल देने का अधिकार नहीं है। धर्म के नाम पर दण्ड देने वाले अत्याचारी लोगों ने (Inquisitors) मनुष्य की आत्मा का उद्धार करने का उद्देश्य लेकर केवल उसके मुँह से कुछ ऐसे शब्दों को कहलाने के लिये उसके शरीर को भयानक यातनायें देना उचित समझा था। जहाँतक मैं समझता हूँ उनको यह भी विश्वाश कभी नहीं हुआ था कि इस प्रकार से उस मनुष्य को उनकी बात पर विश्वास दिलाया जा सकता है, किंतु वे यदि केवल उसके शरीर अर्थात् उसके मुँह से यह कहला सकते कि वह अमुक बात पर विश्वाश करता है, चाहे उसका कथन झूठ ही क्यों न हो तो मानो किसी न किसी प्रकार उसकी आत्मा का उद्धार कर देते। यदि उन लोगों को इस बात का वास्तव में विश्वास होता (यद्यपि मुझे संदेह है कि किसी भी मनुष्य ने इस दुर्दान्त झूठ पर वास्तव में विश्वास किया था) तो वे अपने उन समस्त भीषण कार्यों को न्याययुक्त ठहरा सकते थे, क्योंकि उस हतभाग्य शरीर को कुछ घंटों अथवा कुछ दिनों के लिये जिन-जिन त्रासों का पात्र बनाया जाता था, वे त्रास उस स्थायी कष्ट की तुलना में कुछ भी नहीं हैं जो उसे अनन्त काल तक भोगना पड़ेगा और जिससे कि उसकी आत्मा का उद्धार कर रहे थे ओर यदि ऐसा होता तो अपने पड़ोसी को यातना देना भी सराहनीय हो जाता। हमारे लिये तो यह विश्वास करना भी कठिन है कि कोई भी मनुष्य इस वृत्तिको ग्रहण कर सकता है, तथापि अनेक मनुष्यों ने, यहाँ तक कि राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के

लिये चर्च की सत्ता का उपयोग करने की अनुमति मिल जाने के पश्चात् भी, उस वृत्ति को ग्रहण किया जान पड़ता है।

"क्योंकि तुम अधिक महत्वपूर्ण कार्यों को हाथ में लेने का प्रयत्न करते हो, इस कारण ऐसा न हो कि तुम अपने साधारण कर्त्तव्यों को भूल जाओ, क्योंकि उन्हे किये बिना तुम अन्य सेवा-कार्य करने के लिये स्वतंत्र नहीं हो। तुम्हे किसी नये सांसारिक कर्त्तव्य का दायित्व नहीं उठाना चाहिये, किंतु जिन कार्यों का भार तुम पहिले से ही उठा चुके हो उन्हे पूर्णरूप से संपादित करना चाहिये। यह कार्य भी वही होना चाहिये, जिन्हे कि तुम अपना स्पष्ट और उचित कर्त्तव्य समझते हो, न कि वे काल्पनिक कर्त्तव्य जिन्हे अन्य लोग तुम पर लादने की चेष्टा करते हैं। यदि तुम्हे श्री गुरुदेव से नाता जोड़ना है, तो तुम्हे अपने साधारण कार्यों को भी दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से करना चाहिये, बुरी प्रकार से नहीं, क्योंकि वे भी तुम्हे श्री गुरुदेव के लिये ही करने हैं।"

————

एनी बेसेंट—कभी कभी हम देखते हैं कि जब कोई व्यक्ति अध्यात्म-ज्ञान के मार्ग पर आता है तो अपना साधारण कार्य अधिक उत्तम रीति से करने के स्थान पर और भी बुरी प्रकार से करने लगता है। यह सर्वथा अनुचित है। अपने नवीन अध्ययन के लिये उसका अति उत्साह और जोश तथा उच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिये उसका प्रयत्न जैसा लाभप्रद है वैसा ही ख़तरे से भी ख़ाली नहीं है, और वह ख़तरा ठीक यही है कि उसे सांसारिक कर्त्तव्य अनावश्यक प्रतीत होने लगते हैं। इस विचार के मूल में कुछ सत्यता तो है, किंतु उसी सत्यता में ही ख़तरा है। जो भूलें मूल में रहने वाले सत्य के आधार पर की जाती हैं वे ही भयप्रद होती हैं, और

सत्य का वह लघु अंश ही उन भूलों को वलिष्ट वनाता है न कि उसे ढांक देने वाला असत्य का विशाल आवरण।

संसार में हमारे लिये जो भी कर्त्तव्य कर्म करने को हैं उनका पूर्ण-रूप से पालन करना यह सूचित करता है कि उच्च लोकों से आने वाली शक्तियों का उचित उपयोग किया जाता है। 'योगः कर्मसु कौशलम्', अर्थात् कर्म की कुशलता ही योग है। यदि किसी मनुष्य का उच्च लोकों पर आत्म्-अनुशासन है तो स्थूल लोक में भी उसके कार्य सुंदर ही होंगे, किंतु यदि वहां उसमें आत्म्-अनुशासन नहीं है तो वे कार्य भली भांति नहीं हो सकेंगे। किंतु उच्च वस्तुओं की ओर तनिक भी ध्यान न देने की अपेक्षा तो यह अंतिम बात भी अच्छी ही है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के मूर्खता-पूर्ण कार्य अधिक अस्थायी हानिकर तो हैं, किन्तु वे स्थायी नहीं, क्योंकि उनके पीछे उसके श्रेष्ठ उद्देश्य का वल रहता है।

एक साधक को स्थूल-लोक के कर्त्तव्यों का पालन अन्य लोगों की अपेक्षा उत्तम रीति से करने का प्रयत्न करना चाहिये। जव वह कोई मूर्खतापूर्ण कार्य करता है तो वहुधा उसके उस कार्य का समीकरण करने के लिये श्री-गुरुदेव उसमें हस्तक्षेप कर सकते हैं। एक कारण यह भी है जिस लिये कि श्री गुरुदेव पहिले एक शिष्य को परीक्षा के लिये लेते हैं और इसी कारण से कभी-कभी उसका परीक्षणात्मक काल वहुत लंवा हो जाया करता है। लोगों को प्रायः अपने उत्साह और क्रियाशीलता का विवेकपूर्ण संयम और दूरदर्शितापूर्ण समीकरण करने में यथेष्ट समय लग जाता है।

शिष्यत्व की प्रथम परीक्षा दूसरों के लिये अपने को उपयोगी बनाने का है। एक जिज्ञासु को यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि उसके आध्यात्मिक क्षेत्र के कार्य बाह्य जगत के कार्यों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि वह एक थिऑसोफ़िस्ट है और अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति करने में वह अपनी सोसाइटी के कार्य की उपेक्षा करता है, तो वह भ्रम में है। दूसरा दृष्टान्त यह कि यदि वह अपना अध्ययन करने के लिये सांसारिक कर्तव्यों की उपेक्षा करता है तो यह उसकी बहुत ही भूल है। अध्ययन करना उत्तम है, किंतु यह अध्ययन उसके उपयोगी बनने में सहायक होना चाहिये। हमें अपने आपको और भी अधिक उपयोगी बनाने के उद्देश्य से ही अध्ययन करना चाहिये, न कि अध्ययन करने के लिये उपयोगी बनना ही छोड़ दें। जब कभी भी ऐसे अध्ययन और बाह्य कर्त्तव्यों मे संघर्ष हो तो हमें उन कर्त्तव्य-कर्मों को ही प्रधानता देनी चाहिये।

ऐसी सब बातों में हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि अध्यात्म-ज्ञान का मार्ग छुरे की धार के समान बारीक है। मनुष्य की जाग्रत अवस्था का प्रत्येक क्षण छोटे-छोटे सेवा कार्यों में लगाया जा सकता है, किंतु ऐसी दशा में बहुत से कार्य तो भली प्रकार चुने ही नही जा सकेंगे और न अधिकांश भली प्रकार किये ही जा सकेंगे। जिस प्रकार यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना कुछ समय सोने और खाने के लिये दे ताकि वह अवशेष समय में कार्य करने के लिये बल प्राप्त कर सके, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि वह अपना कुछ समय ध्यान और अध्ययन करने में तथा यह विचार करने में भी दे कि उसे कौनसा कार्य करना

चाहिये और कैसे करना चाहिये,। इस विषय के इस पहलू का वर्णन श्री गुरुदेव ने "विवेक" के खंड में किया है। उनके उपदेश का प्रत्येक अंश साधक को मध्यवर्ती मार्ग पर ले जाता है। यदि उनके किसी आदेश पर आचरण करने में कोई साधक अतिशयता को राह देता है तो यही होगा कि वह फिर से गिर जायेगा। यह कहा गया है कि एक सर्वोत्तम जहाज़ का जलपथ कभी सीधा नहीं होता, वरन् सहस्रों ही टेढ़े-मेढ़े पथों से बना रहता है। एक शिष्य का जीवन भी ठीक ऐसा ही होता है; उसके जीवन जहाज के नायक श्री गुरुदेव हैं जो उसे दिशा बतलाते रहते हैं जिससे कि उसका पथ प्रदर्शन होता है, और उसे अपने सीधे लक्ष्य के निकट रहने में सहायता मिलती है। मनुष्य बहुधा ऐसे अनेक मनुष्यों से मिला करता है जो मृत्यु पर्यन्त एक ही अच्छे विचार को पकड़े बैठे रहते हैं।

श्री गुरुदेव अपने शिष्य से कहते हैं कि उसे किसी नवीन सांसारिक कर्त्तव्य का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेना चाहिये। जिस मनुष्य ने श्री गुरुदेव की सेवा का व्रत लिया है, उसे चाहिये कि जहां और जिस किसी भी कार्य के लिये श्री गुरुदेव को उसकी आवश्यकता पड़े, वहीं वह उनकी सेवा के लिये प्रस्तुत रहे, और इस बात के महत्व को समझे। मैं आपको अपने निजी अनुभव द्वारा इसका एक हृदयग्राही उदाहरण दे सकती हूँ। मेरे बच्चे मेरी युवावस्था में ही मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझसे छीन लिये गये थे। उनके विछोह को रोकने के लिये मैंने कानून के अनुसार कोई उपाय बाकी न छोड़ा, किन्तु मैं मुकद्दमा हार गई; कानून ने मेरा वह बन्धन तोड़ दिया

और बच्चों का पालन करने का जो एक माता का कर्त्तव्य है उसका भार मुझसे छीन लिया। किंतु स्वतंत्र होते ही मेरी लड़की मेरे पास लौट आई। दस वर्ष तक मैंने न तो उसे देखा ही था और न उससे पत्रव्यवहार ही किया था, किंतु फिर भी मेरा प्रभाव उस पर वैसा ही रहा और वह सीधी मेरे पास लौट आई। उस समय मैं श्रीमती ब्लावैट्स्की के पास रहा करती थी, और उन्होंने मुझे चेतावनी दी कि "देखो, तुम्हारे जिस बन्धन को कर्म ने तुमसे तोड़ दिया है उसमें तुम कहीं फिर न बंध जाओ, इसके लिये सचेत रहना।" श्री गुरुदेव की सेवा का व्रत ले लेने के पश्चात् यदि मैं फिर अपने उसी पहिले जीवन को ग्रहण कर लेती तो मैंने भूल की होती। अवश्य ही इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं लड़की की उपेक्षा करती; वह आई और विवाह होने तक मेरे ही साथ रही, किंतु मेरे जीवन में उसका स्थान द्वितीय था, प्रथम नहीं

जो कर्त्तव्य कर्म आपको करने हैं, उनके लिये आप स्वयं ही उत्तरदायी हैं, कोई दूसरा नहीं, और आपका उत्तर-दायित्व आपके गुरुदेव के समक्ष ही है, किसी दूसरे के समक्ष नहीं। दूसरे लोग अपनी कल्पना में जिन कार्यों को आपका कर्त्तव्य समझते हैं उन्हें यदि वे आप पर बलात् लादने की चेष्टा करते हैं, तो आपको सद्भाव पूर्वक किंतु दृढ़ता से अपनी असहमति प्रकट कर देनी चाहिये। निर्णय आपको स्वयं ही करना चाहिये। वह निर्णय आप ठीक भी कर सकते है और ग़लत भी, और ग़लत निर्णय करने पर आप को कष्ट भी उठाना होगा, किंतु निर्णय आपका अपना ही होना चाहिये। एक व्यक्ति का अपने प्रति तथा अपने गुरुदेव के प्रति जो उत्तरदायित्व है, उसमें

किसी अन्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। आप अपने गुरुदेव के समक्ष ही उत्तरदायी हैं और उन्हीं के लिये आपको अपने साधारण कार्य भी दूसरों की अपेक्षा उत्तम रीति से करना चाहिये।

लेडबीटर—सभी पुरातन धर्म इस सिद्धांत को पुष्ट करते हैं कि एक अध्यात्ममार्गी को अपने साधारण कार्य भी भली प्रकार सम्पन्न करने चाहिये। उदाहरणार्थ, युवक राज कुमार सिद्धार्थ की, जो आगे जाकर भगवान् बुद्ध हुये थे, जीवन कथा में यह वर्णन मिलता है कि उन्होंने अपना अधिकांश जीवन अध्ययन और ध्यान में ही उत्सर्ग कर रखा था, किंतु जब अपनी वधू को प्राप्त करने के लिये विविध प्रकार की पुरुषोचित खेलों में अपना कौशल दिखाना आवश्यक हुआ तो उन्होंने सिद्ध कर दिया कि इच्छा करने पर उन बातों में भी वे उच्च बातों के समान ही निपुण हो सकते थे। श्री मद्भगवद्गीता मे कहा है कि कर्म में कुशल होना ही योग है, जिसका अर्थ है, करने योग्य कार्यों को सावधानी-पूर्वक, युक्तिपूर्वक और विनयपूर्वक करना। इस लिये श्री गुरुदेव के शिष्यों को अपने जीवन में समीकरण करना सीखना चाहिये और यह जानना चाहिये कि सांसारिक कार्यों को कब सरलता पूर्वक त्याग किया जा सकता है और कब नहीं।

जिस मनुष्य ने अपना जीवन, अपना समय और अपनी शक्ति श्री गुरुदेव की सेवा में अर्पण कर दी है, उसे ऐसे किसी भी नवीन कार्य का भार अपने ऊपर नहीं उठाना चाहिये जो वास्तव में श्री गुरुदेव का ही कार्य न हो। जिन कार्यों को वह स्वयं अपना कर्त्तव्य न समझता हो, उन्हें लोगों

को बलात् अपने ऊपर नहीं लादने देना चाहिये। दृष्टांत के लिये, मैं अच्छी प्रकार कल्पना कर सकता हूं कि लोग कभी कभी यह आशा कर सकते हैं कि थिऑसोफ़िकल सोसायटी के सदस्य विभिन्न सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित हों। एक सदस्य यह कह सकता है कि "मित्रता के नाते मैं अपना कुछ समय इन बातों में देने के लिये तैयार हूं", किंतु सोसायटी के जिस कार्य का भार उसने अपने ऊपर ले रखा है उसके लिये अपना अधिकांश समय बचा के रखना उसके लिये उचित ही है।

कर्त्तव्यों के संबंध में दिये गये इन आदेशों में श्री कृष्णमूर्ति के अडियार में निवास के समय जीवन की एक विशेष घटना की ओर संकेत है। उस समय उन्हें अपने एक दूर के संबंधी के श्राद्ध-संस्कार में पूरे दिन भाग लेने के लिये बाध्य किया जा रहा था। यह विषय उनके गुरुदेव के समक्ष रखा गया, और उन्होंने कहा कि "हां, तुम्हारे शेष कुटुंब को व्यथा न पहुंचे और उन्हें कष्ट न हो, इस कारण तुम अमुक समय पर घन्टे भर के लिये जा सकते हो, किंतु सावधान रहना कि जिस बात को तुम समझो नहीं उसका उच्चारण मत करना, बिना समझे बूझे पुरोहित के पढ़े हुए वाक्यों को मत दुहराना, और संस्कार तथा आशीर्वादों के क्रम में जिस कार्य को करने के लिये तुम स्वयं समर्थ हो, उसे दूसरे को अपने लिये मत करने देना।"

———

बीसवां परिच्छेद

सहिष्णुता

३—सहिष्णुता—"तुम्हे सबके प्रति पूर्ण सहिष्णु होना चाहिये, और अपने धार्मिक विश्वास के समान ही दूसरों के धार्मिक विश्वासों में भी हार्दिक रुचि रखनी चाहिये। क्योंकि तुम्हारे धर्म के समान ही उनका धर्म भी उसी परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग है। और सबकी सहायता करने के लिये तुम्हे सब बातों का बोध होना चाहिये।"

एनीबेसेंट—मैं समझती हूं कि सहिष्णुता उन गुणों में से एक है जिन के विषय में आजकल बातें तो सबसे अधिक की जाती हैं किंतु जिन्हें व्यवहार में सबसे कम लाया जाता है। यह उन गुणों में से है जिन्हें प्राप्त करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि जब एक विश्वास दृढ़ता और श्रद्धा से माना जाता है, तो उसे दूसरों से भी मनवाने का प्रयत्न करना अस्वाभाविक नहीं है। अपना विश्वास दूसरों पर बलात् लादने की चेष्टा ही के कारण सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के समस्त धार्मिक अत्याचारों और युद्धों की उत्पत्ति हुई है; किंतु यह हठ धर्मी उस उदासीनता की अपेक्षा तो अच्छी ही है जिसे कि लोग भ्रम से सहिष्णुता मान बैठते हैं। उदासीनता सहिष्णुता नहीं है, और इसे धोखे से ऐसा नहीं मान लेना चाहिये।

आजकल राज्य की ओर से धार्मिक अत्याचार बहुत ही कम बाकी रह गया है, किंतु सामाजिक और पारि-

अवश्य समझना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य का उस परम सत्य को खोजने का अपना अपना मार्ग होता है और उसे उस मार्ग का अनुसरण करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। यह बात केवल इतने पर ही लागू नहीं होती कि आप अन्य व्यक्ति से बलात् अपना धर्म ग्रहण करवाने का प्रयत्त न करेंगे, किंतु आप उस पर अपने तर्क और विचारों को भी बलात् न लादेंगे और उसका जो विश्वास उसके लिये सहायरूप है उसका खण्डन न करेंगे। ऐसी सच्ची सहनशीलता को ही आपको अपना लक्ष्य बनाना है। संसार के लोग जिसे सहिष्णुता कहते हैं वह तो एक अर्ध-तिरस्कारयुक्त भावना होती है जिसमें धार्मिक बातों का कोई महत्व नहीं होता और जो केवल एक पुलिस की शक्ति के समान लोगों को व्यवस्था में रखने के लिये ही होती है; ऐसी सहिष्णुता उस सच्ची सहिष्णुता से कोसों दूर है। किंतु दूसरे का धर्म आपके लिये भी एक पवित्र वस्तु होना चाहिये क्योंकि वह उसके लिये पवित्र है। महा-श्वेत संघ (The White Lodge) किसी भी ऐसे व्यक्ति को अपने भ्रातृमंडल में सम्मिलित नहीं करेगा जिसने कि इस मनोवृत्ति की अपने में समुचित वृद्धि न कर ली होगी।

लैडबीटर—वर्तमान काल में महान रोमन—साम्राज्य की अपेक्षा कदाचित् अधिक सहिष्णुता पाई जाती है, और यह अब भी उसी रूप में है जैसी कि उस समय विद्यमान थी। हम लोग प्राचीन ईसाईयों के प्रति रोमन लोगों के विचित्र वर्ताव की बातें सुना करते है। ध्यानपूर्वक किये गये अनुसन्धानों से पता चलता है कि जिन भयानक धार्मिक अत्याचारों के विरुद्ध इतना कुछ कहा गया है वे

कभी हुये ही नहीं थे। किंतु यह सत्य है कि वे ईसाई स्वयं ही बराबर अपने लिये दुखों को मोल ले लिया करते थे। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि परिस्थितियां तनिक भी बर्बर न थीं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्राचीन ईसाई कुछ अराजकता फैलाने वाले लोग थे, और जब कभी भी राज्याधिकारियों से उनका झगड़ा होता था तो वह उनके धर्म के कारण नहीं होता था, वरन् उन बातों के कारण होता था जो वे कहते और करते थे। जिस प्रकार के भ्रातृभाव का उपदेश उन ईसाईयों ने किया था उसका रोमन लोगोंने स्वागत नहीं किया। उस भ्रातृभाव का रूप अधिक करके यही था कि "या तो मेरे भाई बनो अथवा मैं तुम्हें मार डालूंगा।" कभी कभी तो वे उन छोटे छोटे विधिविधानों को मनना भी अस्वीकार कर देते थे जिन्हें कि राज्यभक्ति, का चिह्न समझा जाता था। वे न तो वेदी पर धूप ही जलाते थे और न बादशाह के नाम पर एक बूंद शराब ही ढालते थे। उस समय ये क्रियाये उसी प्रकार से आदरसूचक माना जाती थीं जैसे कि आज इंगलैंड में बादशाह की सवारी निकलते समय टोपी उतारना माना जाता है। रोमन साम्राज्य दूसरे धर्मों के प्रति संसार भर में सबसे अधिक सहिष्णु था। वे रोमन लोग इस बात पर तनिक भी ध्यान न देते थे कि कौन मनुष्य किस देवता की पूजा करता है, क्योंकि वे देवताओं के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं करते थे। वहां एक बहुत बड़ा विश्वदेवालय (Pantheon) था, जहां उन्होंने सभी देवताओं के मंदिर बनवा रक्खे थे, और जब उन्होंने देखा कि क्राइस्ट की भी पूजा होने लगी है तो उन्होंने तुरन्त ही वहां पर क्राइस्ट की भी एक मूर्ति

स्थापित कर दी। उनकी सहिष्णुता वास्तव में उदासीनता के ही समान थी।

अधिकांश प्राचीन रोमन लोगों ने अब इंगलैंड में जन्म लिया है। वहां ऐसे बहुत से लोग हैं जो सभी प्रकार के विश्वासों के प्रति केवल इस लिये सहिष्णु हैं कि वे स्वयं किसी भी बात पर विश्वास नहीं करते। वे लोग धर्म को केवल मनोहर उपाख्यानों के ही समान मानते हैं जो कि उनके लिये स्त्रियों का मनोविनोद करने की सामग्री तो है, किंतु किसी पुरुष के लिये निश्चय ही कोई गंभीर विषय नहीं है। ऐसी सहिष्णुता हमारा लक्ष्य नहीं। हमारी सहिष्णुता तो इस ज्ञान से उत्पन्न होनी चाहिये कि दूसरों के विश्वास भी उसी परम सत्य की प्राप्ति के मार्ग हैं। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे धर्म के चर्च या मंदिर में जाता है, तो एक सच्चा सहिष्णु व्यक्ति उस स्थान के सभी आचारनियमों का पालन करता है, केवल इसलिये नहीं कि वे उस स्थान के नियम हैं, वरन् इसलिये कि वह उन व्यक्तियों और उन धर्मों का भी आदर करता है जो उसके धर्म से भिन्न हैं। ऐसे लोग भी हैं जो ईसाईयों के चर्च में चले तो जाते हैं किंतु वेदी के सन्मुख झुकना अस्वीकार करते हैं। यहाँ तक कि वेदी की ओर पीठ फेर कर खड़े हो जाते हैं। मैंने ऐसे लोगों को देखा है जिन्होंने बिना जूते उतारे ही मस्जिद में घुसने की चेष्टा की है। मनुष्य का पराये धर्म के चर्च या मंदिर में जाने का कोई काम नहीं यदि वह ऐसा व्यवहार करने को तैयार नहीं जिससे कि वहां के उपासकों की भावनाओं को चोट न पहुंचे। यदि आप किसी कैथोलिक चर्च की वेदी के सन्मुख घुटने टेकना अनुचित समझते हैं तो आप चर्च से

बाहर ही रह सकते हैं. यदि आप जूते उतारना बुरा समझते हैं तो मस्जिद के भीतर मत जाइये।

सभी मनुष्य उस एक ही परमात्मा की विभूतियां हैं, अतः दूसरे की आकांक्षाओं का जो भी रूप हो, उसका हमें आदर करना चाहिये। बहुत बार उसका प्रदर्शन बिल्कुल बच्चों कासा होता है, किंतु कोई भी भला व्यक्ति उसका उपहास न करेगा और न दूसरों को उसके विरुद्ध उसकाने की ही चेष्टा करेगा, क्योंकि एक अल्प-उन्नत बुद्धि वाले मनुष्य से उस दृष्टिकोण को ग्रहण करने की आशा नहीं की जा सकती, जो कि अधिक उन्नत बुद्धि वाले मनुष्य को आकर्षक लगता है। सहिष्णुता हमें पूर्वकाल के रोमन लोगों के समान यह कहना सिखलाती है कि "क्योंकि मैं एक मनुष्य हूं, अतः कोई भी मनुष्य मेरे लिये पराया नहीं है," और यह हमें दूसरों के दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करना भी सिखाती है। इस विधि से अभ्यास करने पर हमें शीघ्र ही यह विदित हो जायेगा कि मनुष्य के मस्तिष्क से सत्य की किरणें कितने ही भिन्न भिन्न कोणों पर प्रतिबिंबित हो सकती हैं। यदि सभी बातें एक ही विधि से संपादित की जायें तो मनुष्य संसार से ऊब जायेगा, और यह एक कारागार के समान बन जायेगा जहां कि सब बातें नित्य प्रति एक ही समय पर और एक ही प्रकार से की जाती हैं।

इसमें कुछ बडे-बड़े विभेद भी हैं, जैसे कि, उदाहरण के लिये, आप कैथोलिक ईसाई और प्रोटेस्टेंट ईसाईयों के विचारों में पायेंगे। दोनों ही मतों के ईसाई अपने-अपने दृष्टिकोण से ईसाई धर्म को समझते हैं, किंतु दोनों

हो सम्प्रदायोंमें ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो एक दूसरे के पक्ष को समझने में सर्वथा असमर्थ हैं। एक कैथोलिक ईसाई का मत है कि उसकी उपासना-पद्धति में बहुत सी बाह्य क्रियायें होनी चाहिये और उन्हें प्रत्येक उपाय द्वारा अधिक से अधिक सुन्दर बनाया जाना चाहिये, ताकि वह उस ईश्वर की महत्ता को प्रकट करे जिसकी वह आराधना करता है और वह उपासना जनता के लिये आकर्षक बन सके। उसको यह प्रबल भावना होती है कि उपासना-पद्धति, बाह्य क्रियायें और सुन्दर वातावरण, उपासना में बहुत सहायक होते हैं। दूसरी ओर एक प्रोटेस्टेंट ईसाई इन सब बातों को बहुत ही बुरा और भयानक समझता है, क्योंकि उसके विचार से ये बातें मन को उपासना के गूढ़ भाव से विमुख करती हैं। कदाचित् एक प्रोटेस्टेंट ईसाई का मन ऐसा होता है कि यदि उसे इन सब क्रियाओं में सम्मिलित होना पड़े तो वह उसके साथ उपासना के आन्तरिक भाव को अपने सन्मुख रखने में असमर्थ होगा। जिस बात में एक कैथोलिक ईसाई का इतना प्रबल आकर्षण है वह बहुधा एक प्रोटेस्टेंट के लिये उत्पात, विघ्न अथवा कुछ ऐसी ही बात होगी, जो कि उसकी मानसिक उपासना में बाधा पहुँचाती है।

अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं जिन्हें आन्तरिक उपासना शून्य और अनिश्चित सी प्रतीत होती है। उन्हें भक्ति के बाह्य उपकरणों से अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है, और यदि ऐसा है तो वे उन्हें क्यों न रखें? जिन लोगों को बाह्य क्रियाओं तथा प्रतिमा, चित्र इत्यादि स्थूल लोक की अभिव्यक्तियों द्वारा अति संतोष और प्रेरणा मिलती है, वे लोग निश्चय ही जीवन की उन सात शाखाओं (Rays)

में से ही एक शाखा से संबंध रखते हैं जिनके द्वारा लोग अपने उद्योग से ईश्वर के निकट पहुँचते हैं। जिन लोगों को ये सब बातें रुचिकर नहीं है और जिन्हें ये केवल विघ्नकारी और विक्षिप्त करने वाली ही प्रतीत होती हैं, वे भी अपने एक भिन्न मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं; उन्हें उसी में संतोष लेने दीजिये; हम उनको कष्ट क्यों दें ?

जिस प्रकार मनुष्य जिस देश में जन्म लेता है, उस देश की भाषा ही उसकी मातृभाषा होती है, उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की एक धार्मिक भाषा भी होती है—जिसके द्वारा उसके विचार, भावनायें और आकांक्षायें अत्यन्त सरलतापूर्वक व्यक्त होती हैं,। यह एक बहुत ही बड़ी मूर्खता की बात होगी यदि किसी फ्रांसीसी का इस लिये तिरस्कार किया जाये कि उसकी भाषा हमारी भाषा से भिन्न है, और ठीक उसी प्रकार किसी व्यक्ति के भिन्न धर्मावलंबी होने के कारण उसका तिरस्कार करना भी उतनी ही बड़ी मूर्खता होगी। एक फ्रांसीसी यदि 'गृह' शब्द के स्थान पर 'मेज़ों' (Maison) शब्द का उच्चारण करता है तो उसका अर्थ उस एक ही वस्तु से है; वहां यह तर्क करना सर्वथा असंगत होगा कि एक शब्द दूसरे से उत्तम है। इस बात पर 'निकोलस निकलबाई (Nicolas Nickelby)' नामक पुस्तक के प्रसिद्ध पात्र 'लिलिवक' का स्मरण हो आता है जिसने यह सुन कर ही कि फ्रांसीसी भाषा में 'लो' (L'eall) शब्द का अर्थ 'पानी' है, इस भाषा के तुच्छ होने का निश्चय कर लिया था। नेपोलियन के युद्धों के समय की एक वृद्धा स्त्री की एक कथा आती है कि वह अंग्रेजों की सफलता

के लिये ईश्वर से प्रार्थना कर रही थी, और जब किसी ने उसे सुझाया कि विपक्षी लोग भी अपनी सफलता के लिये अवश्य प्रार्थना कर रहे होंगे, तो उसने उत्तर दिया कि "उससे क्या हुआ ? ईश्वर उनकी बात समझ ही कैसे सकता है, जब कि वे ऐसी असंगत भाषा बोलते हैं ?"

इसका कोई भी संभव कारण नहीं हो सकता कि क्यों न प्रत्येक मनुष्य उसी मार्ग का अनुसरण करे जिसे कि वह अपने लिये सर्वोत्तम समझता हो, और ईश्वर के उसी पथ पर चले जो उसे अधिक सीधा प्रतीत होता हो। शांति और समता के लिये जो आवश्यक है वह यही है कि दोनों ओर के मनुष्य इस सत्य को पहचानें और कहें कि "मैं अपने मार्ग को अधिक उत्तम समझता हूं, किंतु मैं इसके लिये पूर्णतया सहमत हूँ कि प्रत्येक दूसरा मनुष्य भी इस अधिकार को प्राप्त करे और उसी पथ को ग्रहण करे जो उसे अपने लिये सर्वोत्तम प्रतीत होता हो। यद्यपि यह कोई बड़ी बात नहीं है, किंतु बहुत ही थोड़े लोग इसे मानेंगे। प्रत्येक मनुष्य यही समझता है कि जो कुछ उसके लिये सर्वोत्तम है वही सबके लिये सर्वोत्तम होना चाहिये। किंतु उदारमत के लोग इस बात को जानते हैं कि पथ तो अनेकों हैं पर सभी समान रूप से उसी एक पर्वत के शिखर तक पहुंचाते हैं; अतः प्रत्येक मनुष्य उसी पथ को ग्रहण करने के लिये स्वतंत्र होना चाहिये जो उसे सबसे अधिक प्रेरणा दे सके।

मैं मानता हूं कि भावुकतापूर्ण धार्मिक भक्ति में एक प्रकार का भाव ऐसा भी होता है जिसे लोग मधुर भाव कहते हैं, और जो मेरी समझमें नहीं आता। उसमें

अपने इष्टदेव के प्रति अनेक प्रकार के प्रणय-काव्यों और उपन्यासों से एकत्रित किये गये प्रेमपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो मुझे अनादर सूचक प्रतीत होता है। यद्यपि मैं समझता हूं कि उनका यह भाव सच्चा और सदिच्छापूर्ण है, तथापि मुझे तो इससे क्षोभ ही होता है। संभव है इसमें रुचि रखने वाले लोग मुझे रूखा और भाव-विहीन समझें, क्योंकि मेरी प्रकृति का झुकाव प्रत्येक वस्तु को सामान्य ज्ञान की दृष्टि से देख कर तथा उसे बुद्धि की कसौटी पर कस कर समझने की ओर ही रहता है।

उच्च श्रेणी के लोगों के लिये लिखे गये प्रत्येक धर्म के भक्तिप्रधान ग्रन्थों में अद्भुत समानता है। उदाहरणार्थ यदि मनुष्य रोमन कैथोलिक ईसाइयों तथा श्री रामानुजाचार्य के अनुयायियों द्वारा मान्य ग्रन्थों की तुलना करे तो उसे उनमें निकटतम समानता मिलेगी। एक श्रेष्ठ ईसाई का जीवन भी वैसा ही होता है जैसा कि एक श्रेष्ठ हिन्दू, बौद्ध या मुसल्मान का, अथवा किसी भी धर्म के वास्तविक श्रेष्ठ अनुयायी का। सब उन्हीं गुणों का अभ्यास करते हैं, उन्हीं वस्तुओं के लिये उद्योग करते हैं, और उन्हीं दोषों के निवारण का प्रयत्न करते हैं।

"किंतु इस पूर्ण सहिष्णुता को प्राप्त करने के लिये पहिले तुम्हें अपने आपको धर्मान्धता और अन्धविश्वास से मुक्त कर लेना चाहिये।"

ऐनी बेसेंट—कट्टरपंथी (Bigot) मनुष्य वह होता है जो अपने मतामत के अतिरिक्त और किसी के भी मतामत का विचार नहीं करता। एक बार मुझे एक बहुत ही

भली स्त्री ने, जो एक अति कट्टर और संकीर्ण ईसाई मत की थी, कहा कि मुझे कभी भी ऐसी कोई पुस्तक न पढ़नी चाहिये जो ठीक मेरे अपने ही धर्म के दृष्टिकोण को लेकर नहीं लिखी गई हो। एक कट्टरपंथी मनुष्य की यही दशा होती है कि दूसरे के विचारों को मत पढ़ो, कहीं ऐसा न हो कि इससे अपना विश्वास खंडित हो जाये। जो मनुष्य सत्य की खोज में है और जो उच्च जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसकी स्थिति इससे सर्वथा विपरीत होती है। वह यह देखने के लिये कि सत्य की किरणों ने कितने भिन्न भिन्न कोणों से मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करके उसमें प्रकाश उत्पन्न किया है, एक विषय पर लिखी गई सभी प्रकार की बातों को पढ़ने की चेष्टा करता है। यदि आपको सत्य तक पहुँचना है तो इन सभी भिन्न भिन्न विचारों और मतों का अध्ययन करना चाहिये, और तब उनमें थोड़ा या बहुत जो भी सत्य हो उसे हृदयंगम कर लेना चाहिये।

लोगों के अन्धविश्वासों की जांच करना भी अच्छा है, क्योंकि उपनिषद् के इस श्रेष्ठ वाक्य के अनुसार कि "केवल सत्य ही विजयी होता है, मिथ्या नहीं," अंधविश्वासों की तह में जो थोड़ा बहुत सत्य का अंश होता है उसी से उन अंधविश्वासों को पुष्टि मिलती है; आपको सत्य के उस अंश को खोज लेना चाहिये। अवश्य ही एक कट्टर हठ-धर्मी मनुष्य उनमें केवल मिथ्या को ही देखता है, किंतु आपको सभी धर्मों के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होना चाहिये। उन धर्मों का अध्ययन धर्म-प्रचारकों की सी वृत्ति को लेकर नहीं करना चाहिये, वरन् सहानुभूति की भावना से करना चाहिये। राजनैतिक और सामाजिक

प्रश्नों में भी इसी योजना का अनुसरण करना उत्तम है।

आपको अपने अंधविश्वासों को नष्ट कर देना चाहिये। अंधविश्वास को इसी पुस्तक में आगे चल कर उन तीन दोषों में स्थान दिया गया है जो संसार की सबसे अधिक हानि करते हैं, क्योंकि अंधविश्वास प्रेम के गुण का विरोधी दोष है। संसार में धर्म और अंधविश्वास का इतना सम्भ्रम हो गया है कि हमारे लिये उनकी ध्यान-पूर्वक व्याख्या करके बुद्धि से उनका विश्लेषण कर लेना अति आवश्यक है। मैं तो अंधविश्वास की व्याख्या इस प्रकार करती हूँ कि निःसार को सार मान लेना और किसी गौण बात में महत्वपूर्ण बात का भ्रम करना ही अंधविश्वास है; यद्यपि यह व्याख्या ही इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं है। धार्मिक झगड़ों में लोग बहुधा किसी निःसार बात को लेकर ही लड़ा करते हैं, और जैसा कि होता है, प्रत्येक पक्ष एक भिन्न मिथ्याबोध का ही प्रतिनिधित्व करता है।

अंधविश्वास की एक दूसरी व्याख्या यह है, यद्यपि यह भी संपूर्ण नहीं है, कि जिस विश्वास का कोई युक्तिसंगत आधार न हो वह अंधविश्वास है। इसके अनुसार तो अनेक सत्य भी उनके मानने वालों के लिये अंधविश्वास ही हैं, क्योंकि उन्हें मानने का उनके पास कोई उत्तम और युक्तियुक्त कारण नहीं। भगवान बुद्ध ने कहा है कि किसी भी बात पर विश्वास करने के लिये उचित आधार केवल यही है कि वह बात आपकी बुद्धि और सामान्य ज्ञान में जंच जाये, ताकि यह कहा जा सके कि आप उस बात को स्वयं जानते हैं। यदि हम यह जाँच करने लगें तो अधिकांश लोगों के धर्म का अधिकांश भाग अंधविश्वासों की श्रेणी में

आ जायेगा। यह बात उन लोगों के लिए तो कोई विशेषता नहीं रखती किंतु जो इस पथ पर पहुंचने का प्रयत्न कर रहे हैं उन्हें उन सब बातों को जो उनकी बुद्धि और तर्क में न जँचे, कुछ समय के लिये एक ओर रख देना चाहिये। जैसे-जैसे आप में उस सूक्ष्म बुद्धि का विकास होगा, जो कि दृष्टिमात्र से ही सत्य को पहचान लेती है, वैसे-वैसे आप सत्य को अधिकाधिक ग्रहण करने में समर्थ हो सकेंगे। तब आप के अन्तःकरण में एक गहरी आन्तरिक प्रतीति उत्पन्न हो जायेगी, और जब भी कोई सत्य आप के समक्ष उपस्थित किया जायेगा तो आप उसे पहचान लेंगे। यह सूक्ष्म विचारशक्ति वैसे ही है जैसे कि स्थूल लोक में नेत्रों की दृष्टिशक्ति। यह बुद्धि अर्थात् शुद्ध विचार की शक्ति है। हम सबको अपने विश्वासों की जाँच इसी कसौटी पर करनी चाहिये, क्योंकि उनमें से बहुत से विश्वास हम जन्म से ही प्राप्त करते हैं, जो हमारे लिये केवल अंधविश्वास ही होते हैं। मन की इस वृत्ति से हम जिस श्रेणी तक अभ्यस्त हो पाते हैं, उसी श्रेणी तक हम अंधविश्वासों से मुक्त होकर सहिष्णुता की वृद्धि करते हैं।

लेडबीटर—अंधविश्वास का प्रभाव मनुष्यों के मन पर वास्तव में इतना अधिक होता है कि कभी २ तो यहां तक कहा जाता है कि विना अंधविश्वास के धार्मिक मत का होना ही असम्भव है। यह सत्य है कि धर्म के विचार में बहुत भ्रम फैल गया है और इसमें का अधिकांश विचार युक्तिहीन है, तथापि प्रत्येक ऐसे विश्वास में जो सर्व-साधारण से मान्य होता है, कहीं न कहीं सत्य का कोई अंश विद्यमान रहने की संभावना अवश्य होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अंधविश्वास केवल कल्पित आविष्कार

मात्र ही नहीं होते, वरन् सच्चाइयों के विकृत और अत्युक्ति-पूर्ण रूप होते हैं। हमारी प्रेज़िडेंट ने एक वार अंधविश्वास का उदाहरण देने के लिए हिन्दुस्थान की एक घटना का वर्णन किया था; एक धार्मिक व्यक्ति था, जिसकी एक पालतू विल्ली थी। वह विल्ली उस व्यक्ति से इतनी हिली हुई थी कि जब कभी भी वह व्यक्ति किसी धार्मिक क्रिया के करने की इच्छा करता तो उस विल्ली को शांत रखने के लिये उसे यह आवश्यक प्रतीत होता कि उसे अपनी चारपाई के पाये से वांध दे। इसे देख कर लोगों ने सोचा कि चारपाई से विल्ली का वाँधना इस धार्मिक क्रिया का कोई आवश्यक अंग है; समय पाने पर धीरे-धीरे उस धार्मिक उत्सव का अन्य सब भाग तो लुप्त हो गया और परम्परा के रूप में उस आराधना का केवल यही अंश वच रहा कि एक विल्ली को चारपाई के पाये से वाँधा जाना चाहिए।

धर्मशिक्षक और कर्मकांडी लोग (Scribes and Pharisees) जिनको क्राइस्ट ने सफेद कब्र की उपमा दी थी और जिनको उन्होंने पाखंडी कहके सम्बोधित किया था, वे भी इसी प्रकार के अन्धविश्वास प्रकट किया करते थे। क्राइस्ट ने कहा कि केवल इस लिये कि उस समय लोगों को अपने पास रहनेवाली प्रत्येक वस्तु का दशमांश देने का आदेश था, वे लोग सौंफ़, पोदीना, जीरा इत्यादि वस्तुओं तक का भी दशमांश निकालते थे। वे हम लोगों के इन, 'नमक और मिर्च' नामक पूजाविधि के समान छोटी-छोटी वातों को तो इतनी सूक्ष्मता के साथ महत्व देते थे, और न्याय, दया, विश्वास आदि महत्वपूर्ण विधान की वातों को भूले रहते थे।

ग्रेटब्रिटेन के कुछ भागों में, विशेषकर स्काटलैंड में इस अन्धविश्वास के ही कारण रविवार का दिन इतना कष्टकर और दुखदाई बन गया है। अभिप्राय तो यह था कि इस दिन अन्य साधारण कामों का भार तो हल्का कर दिया जाये और इसे एक ऐसा दिन बना दिया जाये जो आध्यात्मिक बातों मे बिताया जा सके। तथापि इसमें से ईश्वरोपासना का भाव तो सर्वथा लुप्त हो गया, और रविवार के दिन अन्य दिनों की अपेक्षा और भी अधिक मात्रा में मदिरापान तथा दूसरे दुराचार होने लगे—निश्चय ही यह सार के स्थान पर निःसार को ग्रहण करने की ही एक घटना है। इस लिये कि धार्मिक-जीवन व्यतीत करने के लिये एक विशेष दिन नियत कर दिया गया है, लोगों की यह धारणा देखी जाती है कि अन्य दिनों में यदि मनुष्य धार्मिक उपदेशों और आदर्शों का पालन न भी करे तो कोई विशेष बुराई नहीं। मैंने देखा है कि रविवार को कोई धार्मिक महत्व न देनेवाले हिन्दु, बौद्ध इत्यादि लोगों के जीवन में उनका धर्म इस प्रकार परिव्याप्त रहता है, जैसा कि ईसाइयों में नहीं पाया जाता। मैं यह नहीं कहता कि वे सभी लोग ईसाइयों की अपेक्षा अधिक भले होते हैं, किन्तु वे लोग धर्म की महत्ता को अधिक समझते हैं : उतना कि एक साधारण ईसाई नहीं समझता। वह तो बहुधा यही सोचता है कि सप्ताह में एक दिन चर्च की उपासना में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् वह अपने सभी धार्मिक कर्त्तव्यों से मुक्त हो जाता है।

हमारी प्रेज़िडेंट ने अन्धविश्वास की एक परिभाषा यह भी की है कि अन्धविश्वास एक ऐसा विश्वास होता है

जिसका कोई युक्तिसंगत आधार न हो। पृथिवी के घूमने की बात पर, उन विदेशी राष्ट्रों के अस्तित्व पर जिन्हें हमने कभी अपने नेत्रों से नहीं देखा, सूक्ष्म अणु और परमाणुओं की सचाई पर जो कि हमारी दृष्टि से सर्वथा ओझल हैं, विश्वास करना हमारे लिये नितांत युक्तिसंगत है, क्योंकि हमारे पास इन सब पर विश्वास करने के यथेष्ट कारण हैं। किंतु बहुत से प्रचलित विश्वास इस श्रेणी में नहीं आते। अनन्त अग्नि और अनन्त नरक में ईसाईयों का प्रचलित विश्वास एक विलक्षण घातक अंधविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विश्वास का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है, फिर भी यदि आप यह बात किसी साधारण ईसाई को बतायें तो वह कहेगा कि आप एक नास्तिक हैं और उसके धर्म का उपहास कर रहे हैं। जिस व्यक्ति ने पहले पहल इसको शिक्षा दी थी उसने स्वयं तो न जाने इस पर विश्वास किया था या नहीं, किंतु उस समय से लेकर लाखों ही मनुष्यों ने इसपर विश्वास किया है और अपने को सचमुच ही इस अंधविश्वास के अधीन कर दिया है।

इस विषय पर स्वयं क्राइस्ट ने जो कुछ कहा है केवल वही बात ईसाईयों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होनी चाहिये। मेरी समझ में आठ वाक्य ऐसे हैं जिनमें क्राइस्ट द्वारा इस अनन्त नरक का वर्णन किया जाना माना गया है, और यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि उनमें से किसी भी वाक्य में उस प्रचलित विचार का कोई चिह्न नहीं मिलता जिसका कि उनमें आरोपण किया जाता है। इस विषय पर एक ईसाई पादरी माननीय सेमुअल कोक्स (Samuel Cox) द्वारा लिखित "साल्वेटर मुंडी"

(Salvator Mundi) नामक एक बहुत ही सुन्दर पुस्तक है। जिन बातों को क्राइस्ट का कथन माना जाता है उनके विषय में लेखक ने इस पुस्तक में ग्रीक भाषा के मूल ग्रन्थ का अति ध्यानपूर्वक विवेचन करके निर्णयात्मक रूप से तत्काल ही यह सिद्ध कर दिया है कि इस अनन्तनरक के विश्वास का कोई धर्मशास्त्र-विहित आधार नहीं है। इस विश्वास का कोई युक्ति-संगत आधार सचमुच ही नहीं है, क्योंकि यदि ईश्वर एक प्रेममय पिता है तो अनन्त नरक का होना सर्वथा असम्भव है।

मनुष्य आधुनिक ईसाईयों से इस भयानक अंधविश्वास में से जिसने कि संसार को इतनी अधिक हानि की है, निकलने की आशा कर सकता था, किन्तु लाखों ही मनुष्य अभी तक इसमें से नहीं निकल पाये हैं, और इसका प्रचार अभी तक किया जा रहा है। थोड़े ही दिन पहिले मैंने रोमन कैथोलिक ईसाइयों की एक बाल-प्रश्नोत्तरी देखी थी, जिसमे नरकविषयक विचारों का यह वर्णन कि यह 'एक अनन्त यंत्रणा भोगने का स्थान है, उसी पुरानी मूर्खता-पूर्ण रीति से किया गया था। जहाँ तक बालकों को दी जाने वाली शिक्षा का संबंध है वहां तक यह कहा जा सकता है कि हम अभी तक मध्यकाल के उसी असभ्य समय मे निवास कर रहे है। यह एक बहुत शोचनीय बात है। ईसाई मत के बहुत से संप्रदाय यद्यपि इन बातों के ऊपर उठ गये हैं, किंतु इसके सबसे प्राचीन और सबसे बड़े संप्रदाय के अनुयायी अभी तक उन्हीं मध्यकालीन शिक्षाओं का अनुसरण कर रहे हैं। कुछ पादरी ऐसे भी हैं जो व्यक्तिगतरूप से तो इन सब बातों की व्याख्या हमारे समान ही करते हैं, किंतु पुस्तकों में बालकों को

जो शिक्षा देते हैं वह अत्यन्त भयानक और निंदनीय होता है, क्योंकि वह शिक्षा बालकों को ईश्वर के विषय में सर्वथा मिथ्या धारणा के साथ जीवन में अग्रसर करती है। यह उनके जीवन और मन को भय और क्रूरता के भावों से भर देती है, जो उनके चरित्र-विकास के लिए एक भयंकर बाधा है।

जैसा कि मैं पहिले उद्धृत कर चुका हूँ, विश्वास और बुद्धि के विषय में दी गई भगवान् बुद्ध की शिक्षा अत्यन्त सुंदर है। उनकी मृत्यु के पश्चात् जो सभा यह निर्णय करने के लिये बुलाई गई थी कि अनेक प्रचलित जनश्रुतियों में से किन-किन को भगवान् बुद्ध का वचन मान कर स्वीकार किया जाना चाहिये, उसमें जो प्रथम नियम बनाया गया था वह यही था कि 'जो बात युक्ति और सामान्य ज्ञान के विपरीत हो वह बुद्ध का उपदेश नहीं है।' इस दृष्टिकोण से देखने पर जो बातें उन्हें संतोषजनक प्रतीत नहीं हुई, उन सबको उन्होंने यह कह कर परित्याग कर दिया कि 'यह तो स्पष्टतः सामान्य ज्ञान के विपरीत बात है, अतः यह कभी भगवान् बुद्ध का कथन नहीं हो सकता। संभव है समझ में न आने के कारण उनमें दो एक अच्छी बातें भी त्याग दी गई हों, किन्तु उन्हों ने अपने धर्मको बहुत बड़ी सीमा तक धार्मिक-अंधविश्वास में ग्रस्त होने से बचा लिया। एक मुहम्मद साहब के अतिरिक्त बड़े-बड़े धर्मों के किसी भी संस्थापक ने कभी अपने उपदेशों को लेखनीबद्ध नहीं किया। तो भी यह कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध ने एक पुस्तक लिखी थी, जो जीवन्मुक्त महात्माओं के पास वर्तमान है और वह अभी तक बाह्य जगत् में प्रकाशित नहीं हुई है। साधारण रीति

से, महापुरुषों की शिक्षाओं के पुस्तक रूप में आने से पहिले तीन या चार पीढ़ियां बीत जाती हैं, और तब उन शिक्षाओं का अनेकों ही स्रोतों से संकलन करके उन्हें ग्रन्थों का रूप दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ, ईज़ाया के ग्रन्थ (Book of Isaiah) नामक पुस्तक में विद्वानों को एक के बाद एक, तीन ईज़ाया (Isaiahs) और फिर एक सभा, इस प्रकार एक एक करके आठ पुरातन इतिहासों का वर्णन मिला है। धर्म की अवनति तभी होती है जब लोग अपनी ज्ञातव्य बातों को तो नहीं लिखते, वरन् किंवदंतियों को लिख लेते हैं, और फिर उन्हें ही सिद्धांतों का रूप देकर उनके तुच्छ विवरणों पर झगड़ने लगते हैं।

इस भ्रम का एक स्रोत इस सचाई में भी है कि जब कोई नया धर्म संस्थापित किया जाता है तो वह अपने से पूर्व प्रचलित धर्मों पर एक विजय-तरंग के समान फैल तो जाता है, किंतु उन्हें सर्वथा मिटा नहीं देता। जिस प्रकार एक बुद्धिमान सेनापति किसी नवीन देश को विजित करने के पश्चात् अपनी कठिनाइयों को कम करने के लिये उस देश की जनता के ही अनुकूल नियमों का व्यवधान करता है, उसी प्रकार धर्मों का रूप भी उन्हें अंगीकार करनेवाली जातियों के अनुकूल ही बन जाया करता है। इस प्रकार, चीनी और जापानी लोग अपने प्राचीन मत शिंटो की रीति के अनुसार अब भी अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं, किन्तु उन्हों ने उसमें बौद्ध-धर्म की आचारनीति को सम्मिलित कर लिया है; सीलोन (लंका) में भी लोग एक ओर तो धर्म के अनात्मवादी रूप को मानते हुये आपको बतायेंगे कि मनुष्य के केवल कर्म ही एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते हैं, अन्य कुछ नहीं, और दूसरी ओर वे

अपने पूर्व जन्मों की बातें भी करेंगे और भविष्य जन्म में निर्वाण प्राप्ति की आशा भी प्रगट करेंगे। ईसाइयों ने भी जहाँ जहाँ अपने धर्म का प्रचार किया, उस देश और जाति के त्योहारों को अपना लिया, किंतु धीरे-धीरे उन त्योहारों के नाम ईसाई संतों के नाम पर धर दिये गये।

इस प्रकार पुरातन परंपराओं के चिह्न प्रत्येक स्थान पर पाये जाते हैं, जैसे सीलोन (लंका) में पिशाच-नृत्य, भारतवर्ष में कालीपूजा इत्यादि, ये सब बातें जब सत्य मान ली जाती हैं तब वे एक अंधविश्वास के उत्पादक स्रोत बन जाते हैं।

कभी कभी मनुष्य किसी बात पर विचार करने में असमर्थ होने पर भी उसे सत्य करके पहचान लेता है—यह इस विषय का दूसरा पक्ष है। जीवात्मा उस बात को जानता है और अपने उस ज्ञान के लिये उसके पास यथेष्ट युक्ति भी है, किन्तु कभी-कभी वह उस युक्ति को स्थूल मस्तिष्क में अंकित नहीं कर सकता, यद्यपि वह अपने उस ज्ञान द्वारा उस सचाई को पहचान लेता है। अस्तु, जब एक नवीन सत्य हमारे सन्मुख उपस्थित किया जाता है, तो हमें तुरन्त ही यह ज्ञात हो जाता है कि हम उसे स्वीकार कर सकेंगे या नहीं। यह अन्धविश्वास नहीं है, वरन यह एक प्रबल आंतरिक प्रतीति है। मैं नहीं समझता कि कभी कोई मनुष्य ऐसा भी होगा जिसे नरक के विषय में प्रबल आंतरिक विश्वास हो। ईसाई लोग अपने चिरकाल तक नरकाग्नि में जलाये जाने की बात पर इस लिये विश्वास करते हैं, क्योंकि उन्हें यही सिखाया गया है। कदाचित् यह बात अन्तःप्रेरणा के सन्मुख बुद्धिका त्याग करने जैसी प्रतीत हो, किंतु तब यह याद रखना चाहिये

कि जिसका अनुवाद हम अंग्रेज़ी में 'इन्टयूशन' (intuition) अर्थात् अन्तःप्रेरणा करते हैं, उसे भारतवासी लोग 'शुद्ध बुद्धि' करके ही जानते हैं। यह बुद्धि जीवात्मा की होती है, जो नीचे के लोकों की बुद्धि की अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणी की होती है।

अंधविश्वास के इस प्रश्न के विषय में श्री गुरुदेव और भी दृष्टांत देते हैं:

"तुम्हे यह जान लेना चाहिये कि कर्मकांड कोई आवश्यक वस्तु नहीं है, नहीं तो तुम कर्मकांड को न करने वालों की अपेक्षा अपने को उच्च समझने लगोगे। तथापि जो लोग अभी तक इन कर्मकांडों में उलझे हुये हैं, उनका तुम्हे तिरस्कार भी नहीं करना चाहिये। उन्हे अपनी इच्छानुसार बर्तने दो; किंतु तुम सत्य से अभिज्ञ हो चुके हो, अतः उन्हे केवल तुम्हारे बीच में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, और जिस स्थिति को तुम पार कर चुके हो उसी में तुम्हें फिर ले आने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता दो और प्रत्येक के प्रति उदार बनो।"

लेटबीटर—श्री गुरुदेव ने कर्मकांडों का वर्णन इतनी दृढ़तापूर्वक इस लिये किया था कि जिस उच्च ब्राह्मणवंश में श्री कृष्णमूर्ति उत्पन्न हुये थे, उसमें उस आयु के युवकों का जीवन इन्हीं सब क्रियाओं से परिपूर्ण रहना प्रारंभ हो जाता है; और क्योंकि इस आयु का लड़का उपनयन आदि उच्च वर्णों के चिह्नों से विभूषित हुआ लोगों के सम्मान का केंद्र बना रहता है, अतः अपने को विशेष गौरवयुक्त समझने लगता है। एक धर्मपरायण ब्राह्मण का जीवन कर्मकांडों में ही व्यस्त रहता है। उठते समय, स्नान करते समय, खाते समय, और लगभग प्रत्येक कार्य करते समय कुछ न कुछ क्रिया या मंत्रोच्चारण किये जाते हैं। श्री कृष्णमूर्ति

के पास रहने वाले कुछ लोग कदाचित् उनसे इन वातों को पूरी तरह करवाने की चेष्टा कर रहे थे, क्योंकि वे डरते थे कि कहीं आधुनिक शिक्षा एवं यूरोपियन मित्रों के संसर्ग से वे अपने प्राचीन धर्म से विमुख न हो जायें, अतः श्रीगुरुदेव ने उन्हें यह कह कर चेतावनी दी कि यह कर्मकांड नितांत आवश्यक नहीं होते, और उनका संपादन करने अथवा उन्हें त्यागने, दोनों ही वातों में अपने को श्रेष्ठ समझने की भूल व मूर्खता नहीं करनी चाहिये।

ईसाई धर्म में ये वाह्यक्रियायें सामूहिक रूप से की जाती हैं, अतः वे हिन्दुओं और वौद्धों की धार्मिक क्रियाओं से भिन्न प्रकार की होती हैं। हिन्दुओं और वौद्धों में उपासना का विषय लगभग सदा ही व्यक्तिगत रहता है; किन्तु ईसाइयों में यह सदा सामूहिक होता है। यद्यपि ये समस्त कर्मकांड आवश्यक नहीं होते केवल उन लोगों के अतिरिक्त जिनकी प्रकृति का झुकाव इनकी ओर इतना अधिक होता है कि इनके विना वे वास्तव में प्रसन्न रह ही नहीं सकते—तथापि यह विज्ञान का ही एक रूप है, जिनका सम्बन्ध निःसंदेह रूप से सूक्ष्म लोकों की प्राकृतिक शक्तियों से होता है।

ऐसी वहुत सी विधियां हैं जिनके द्वारा संसार में आध्यात्मिक शक्ति प्रवाहित की जा सकती है। वह विधि जो ईसाईयों की 'मास' (Mass) नामक सामूहिक उपासना में, 'होली कैाम्यूनियन' (Holy Communion) या 'होली यूकेरिस्ट' (Holy. Eucharist) कहे जाने वाले क्राइस्ट के स्मरणार्थ भोज में देखते हैं, वह स्वयं ईसाई धर्म के संस्थापक द्वारा ही नियत की गई थी, ताकि उनके चर्च

द्वारा उच्च लोकों की कुछ शक्तियां जिन्हें सामान्यतः दैवी अनुग्रह (Divine grace) कहा जाता है, और जो अप्राकृतिक न होते हुये भी अलौकिक अवश्य होती है, संसार में वितरित की जा सकें। इसका विधान इस प्रकार से किया गया था कि एक पादरी, चाहे उसकी प्रकृति कैसी भी क्यों न हो, इस धार्मिक क्रिया को करते समय उस शक्ति को वितरण करने का स्रोत बन सके। यदि वह पादरी वास्तव में भला आदमी हो और भक्ति व सेवा की भावना से परिपूर्ण हो, तब तो बहुत ही अच्छा, किंतु इसका विधान इस प्रकार से हुआ है कि कोई भी इस क्रिया का संपादन करे; यह जनता के लिये प्रभावोत्पादक तथा कल्याणकर ही होगी। ईसाई धर्म की सामान्य योजना तो यह है कि समस्त पृथ्वी पर बहुत से चर्चों की स्थापना होनी चाहिये, ताकि उच्च शक्ति का प्रवाह बाह्य जगत में प्रकाशमान हो कर प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंच सके। यह क्रिया लाखों ही मनुष्यों का अत्यन्त उपकार करती है, तथापि यह कहना कि मोक्षप्राप्ति के लिये यह एक आवश्यक वस्तु है, धार्मिक-अंधविश्वास की ही बात होगी।

विभिन्न क्रियाओं द्वारा विविध प्रकार की शक्तियां प्रवाहित की जाती हैं। वे शक्तियां चाहे कितनी भी आध्यात्मिक हों, प्रकृति के नियमों के ही आधीन बर्तती हैं। अस्तु, स्थूललोक में उनका लाभ प्रकट करने के लिये कोई न कोई स्थूल यन्त्र ऐसा होना ही चाहिये, जिसके द्वारा कि वे अपना कार्य कर सकें। विद्युत के विषय में भी ठीक यही बात है; इसकी शक्ति सर्वदा हमारे निकट वर्तमान है और निरंतर कार्यशील है, किन्तु यदि आप

इससे किसी विशेष स्थान पर विशेष उपाय द्वारा कार्य लेना चाहते हैं तो आपको कोई न कोई ऐसा यंत्र अवश्य जुटाना होगा जिसके द्वारा वह अपना कार्य कर सके।

एनीबेसेंट—श्री गुरुदेव कहते हैं कि कोई कर्मकांड आवश्यक नहीं, तथा सभी धर्म इस बात का अनुमोदन करते हैं। भारतवर्ष में जो व्यक्ति सबसे उच्च और सबसे आदरणीय माना जाता है, वह सन्यासी है, जो कोई भी कर्मकांड नहीं करता। जो उपनयन का सूत्र उसकी एक बहुमूल्य सम्पत्ति थी, जो बचपन में उसे अपनी जाति में दीक्षित किये जाते समय प्रदान किया गया था, एवं सन्यासी बनने के पहिले जिसे उसने अति पवित्र चिन्ह समझ कर जीवन भर धारण किया था, उसे भी अब वह तोड़ कर फेंक देता है।

कर्मकांड केवल तब तक ही आवश्यक है, जब तक कि मनुष्य को आत्मानुभूति न हो जाये और वह सत्य ज्ञान तक न पहुँच जाये, जब तक यह क्रियायें उसे यथार्थ भावनायें, स्थिर विचार, और श्रेष्ठ आकांक्षायें देने में सहायक होती हों। लोगों की अधिकांश संख्या अभी तक उन्नत नहीं हुई है और उन्हें किसी न किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता रहती है। इसलिए कोई भी बुद्धिमान मनुष्य इन बाह्यक्रियाओं का तिरस्कार नहीं करेगा, यद्यपि ये सब स्वयं उसके लिये आवश्यक नहीं। सन्यास का वर्णन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

(३—२६)

अर्थात् "ज्ञानी मनुष्य को चाहिये कि कर्मों में आसक्ति-वाले विवेक रहित अज्ञानियों के बुद्धि में भेद उत्पन्न न करे, वरन् वह स्वयं भी मुझसे युक्त हुआ सभी काम करे, और दूसरों से प्रसन्नतापूर्वक करवावे।" जो बालक चलना सीख रहा हो वह, कुरसी, मेज़ का पाया, दीवार इत्यादि कोई भी वस्तु जो उसे अपने पावों को स्थिर रखने मे सहायता दे सकती हो, पकड़ के रखता है। अतः धार्मिक बाह्य क्रियायें उन लोगों के लिये एक प्रकार का अवलंबन है जो कि अभी तक अपने आप पर अवलंबित रहने के लिये यथेष्ट दृढ़ नहीं हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की उन्नति होती है वैसे-वैसे उसकी यह बाह्य क्रियाएँ भी अधिकाधिक विशुद्ध, सुंदर, और लाक्षणिक होती जाती हैं, और अन्त में वह उस श्रेणी तक पहुँच जाता है जहाँ उसके लिये इन सब का कोई उपयोग नहीं रह जाता और वह उन्हें त्याग देता है। दो प्रकार के मनुष्य इन बाह्य क्रियाओं को नहीं करते—एक तो वे जो इनकी श्रेणी से ऊपर उठ चुके हैं, और दूसरे वे जो अभी तक इससे भी नीचे हैं।

इन कर्मकांडों को त्यागने का उपयुक्त समय कब होगा, यह निर्णय करने का उत्तरदायित्व पूर्णतया उस मनुष्य पर ही है जिसका कि इनसे सम्बन्ध होता है; प्रत्येक मनुष्य को अपने लिये स्वयं ही निर्णय करना चाहिये। यह कहने का उत्तरदायित्व कोई नहीं ले सकता कि कब किसी को योगी बन जाना चाहिये। इसी प्रकार कर्मकांडों को कब कोई मनुष्य त्याग देने का निश्चय कर लेता है और कब तक कोई इन्हें करते रहना चाहता है; इस पर किसी को भी कोई आलोचना नहीं करनी चाहिये। कभी कभी किसी मनुष्य को यह अनुभव कर लेने के पश्चात् भी

कि उसे स्वयं इन सबकी कोई आवश्यकता नहीं रही, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जाति में अपनी स्थिति के कारण उसका इन क्रियाओं में सम्मिलित होना आवश्यक है। अपने निर्णय के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है, अतः हमें कर्मकांडों को करनेवालों तथा न करने वालों दोनों का ही तिरस्कार नहीं करना चाहिये।

यह कर्मकांड जैसे सहायक हो सकते हैं वैसे ही भयप्रद भी हो सकते हैं। भारतवर्ष में जहां जन-समूह एकत्रित हो वहां कुछ विशेष २ सूत्रों को उच्चारण करने का कड़ा निषेध था, यह नियम जनता को किसी लाभ से वंचित करने के हेतु से नहीं बनाया गया था, जैसा कि आज कल कभी २ अज्ञानतापूर्वक सोच लिया जाता है, वरन् उस हानि को रोकने के लिये बनाया गया था जो कदाचित् उनके द्वारा उत्पन्न हुये कंपनों से लोगों को पहुँच जाती; यही कारण था जिस लिये कि मनु ने इस नियम का विधान किया था कि श्राद्ध संस्कार में केवल ब्राह्मण ही—जो कि विद्वान् और भले आचरण वाले होते थे, आमंत्रित किये जायें। एक मनुष्य जिसके पास कुछ शक्ति तो है, किन्तु जो यह नहीं समझता कि कब उसका उपयोग करना चाहिये और कब उसका निरोध करना चाहिये, वह यदि किन्हीं विशेष २ धार्मिकक्रियाओं में भाग ले और उस शक्ति को उस उच्चारित सूत्र में स्थापित कर दे, तो उपस्थित लोगों को हानि पहुँचने की संभावना रहती है। अतः जिस मनुष्य को ऐसी कोई शक्ति प्राप्त होनी आरंभ हुई हो; उसे ऐसे अवसरों पर दूर रहना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ, गया में जब मैं कुछ श्राद्ध संस्कारों में सम्मिलित हुई, तो मैंने देखा कि यदि उनमें मैंने अपनी शक्ति भी जोड़ दी होती तो उन

पंडों को बहुत क्षति पहुँच सकती थी—क्योंकि कुछ मंत्र जिनका कि वे उच्चारण कर रहे थे, बड़े ही शक्तिशाली थे। तौभी, उन पंडों द्वारा उस शक्ति का प्रभाव प्रगट न हुआ, क्योंकि वे अज्ञानी थे और उनका जीवन बहुत स्वच्छ न था। श्रीमती ब्लावैड्स्की ने आत्म-ज्ञान के साधकों को किसी भी जन समूह में न जाने की अनुमति दी थी, जब तक कि उन्हें उस समूह के साथ पूर्ण सहानुभूति न हो; केवल इस लिये नहीं कि स्वयं उनके तेजस् पर इसका कोई प्रभाव पड़ सकता था, वरन् इस लिये भी कि उनकी शक्ति से लाभ की अपेक्षा दूसरों को हानि ही अधिक पहुँच सकती थी। ऐसी दशा में एक ज्ञानी पुरुष को कभी २ कुछ धार्मिक क्रियाओं में भाग न लेना ही उचित प्रतीत हो सकता है, जब कि एक दूसरे मनुष्य का, जो यह नहीं समझता कि किसी सूत्र में विद्यमान रहने वाली वास्तविक शक्ति को प्रकट करने के लिये उस का किस रीति से उच्चारण करना चाहिये, इन क्रियाओं में सम्मिलित होना लोगों के लिये सर्वथा निरापद होता है—फिर वे लोग चाहे किसी भी श्रेणी के हों इसकी कोई बात नहीं।

"अब, जब कि तुम्हारे नेत्र खुल गये हैं, तब तुम्हें अपने कुछ पुराने विश्वास, पुराने कर्मकांड असंगत प्रतीत हो सकते हैं, और कदाचित् वे वास्तव में ऐसे ही हैं भी। तथापि, यद्यपि तुम अब उनमें भाग नहीं ले सकते, किंतु उन भले लोगों के लिये उनका सम्मान करो जिनके लिये वे अभी भी महत्वपूर्ण हैं। उनका भी अपना एक स्थान है, और उनकी भी उपयोगिता है। वे उन दोहरी रेखाओं के समान हैं जिन्होंने बचपन में तुम्हें सीधा और बराबर में लिखना सिखाया था, जब तक कि तुमने उनके बिना ही बहुत अच्छा और सुगमतापूर्वक लिखना न सीख लिया। एक समय था जब कि तुम्हें उनकी आव-

श्यकता थी, किन्तु अब वह समय व्यतीत हो चुका।"

ऐनीबेसेंट—जैसे २ हम वयस्क और बुद्धिमान् होते जाते हैं, वैसे २ हमें कुछ बातें जिन पर पहिले हमारा विश्वास था, अब अनिवार्य रूप से मिथ्या और असंगत प्रतीत होने लगती हैं। तथापि हम उनके प्रति उदारता और सहानुभूति की भावना रख सकते हैं, जैसे कि हम उस बालिका के प्रति रखते हैं जो चीथड़ों के एक पुलिंदे को गुड़िया मान कर उसका लालन-पालन करती है। एक दृष्टि से तो बालिका का यह कार्य असंगत ही प्रतीत होता है, किंतु इससे उसे सच्ची सहायता प्राप्त होती है, क्योंकि इससे उस नन्हीं लड़की में माँ की सहज प्रवृत्ति विकसित होती है—वह उन चीथड़ों को नहीं देखती, वह तो उसमें एक बालक को देखती है; और जब वह अपने उस कल्पित बालक का लाड़ प्यार करती है और उसे दुलारती है, तो वह माँ की ममता और पालन पोषण करने की भावना का तथा दुर्बल और असहाय की रक्षा करने की वृत्ति का अभ्यास करती है। अतः जब हम उस नन्हीं सी बालिका पर हँसते हैं, तो हमारी हँसी अति मधुर और कोमल होती है। हमारे पुराने विश्वासों और धार्मिक क्रियाओं के विषय में भी यही बात है, उनका भी अपना एक स्थान है, उनकी भी अपनी एक उपयोगिता है।

यदि हम किसी असभ्य जाति के लोगों को कोई धार्मिक क्रिया करते देखते हैं, जो हमें वह क्रिया सर्वथा असंगत प्रतीत होती है; अथवा जब हम भारतवर्ष के गावों में प्रायः लोगों को किसी वृक्ष के चारों ओर सूत लपेट कर पूजा करते देखते हैं, तो हमें उन असभ्य लोगों तथा उन ग्रामवासियों की भक्ति-भावना के उस स्वरूप चिह्न का

तिरस्कार नहीं करना चाहिये, हमें तो उसकी अन्तर्गत भावना की ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये। उनके लिये अपनी उस नम्र भेंट का उतना ही महत्व है, जितना हमारे लिये हमारी अमूल्य भेंट का; दोनों के भीतर एक ही भावना कार्य करती है।

समस्त प्रकार की बाह्य-भेंट-सामग्री अनावश्यक है, केवल हृदय का समर्पण ही अपेक्षित है, और शुद्ध प्रेम-भाव से समर्पित की हुई एक तुच्छ वस्तु भी भगवान् को स्वीकृत होती है। इसी लिये गीता में कहा गया है कि :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः

(९—२६)

अर्थात् जो मेरा भक्त मुझे भक्तिपूर्वक एक आध पत्र, पुष्प, फल, अथवा थोड़ा सा जल भी अर्पण करता है, उस नियत-चित्त पुरुष की भक्ति को मैं सानंद ग्रहण करता हूँ। उन ग्रामवासियों के लपेटे हुये उस सूत को वृक्ष से तोड़ कर फेंक देना, जैसा कि कभी २ किया जाता है, एक कठोर और हृदय-हीनता का काम होगा, और इससे एकता की भावना का सर्वथा अभाव प्रगट होगा।

लैडबीटर—बालकों के बचपन एवं वर्तमान श्रेणी की मनुष्य जाति के सामान्य बचपन के प्रति सदा कोमल व उदार भाव रखिये। हमारी प्रेसिडेंट ने एक नन्हीं बालिका की उपमा दी है जो चीथड़ों के एक पुलिंदे को गुड़िया मान कर उसी को दुलारती रहती है; अवश्य ही यह एक अंधविश्वास है, किंतु साथ ही इसके लिये किसी को भी कुपित होकर उस बालिका को डांटने की भावना नहीं

आती। स्थूल लोक में तो यह एक चीथड़ों का पुलिंदा ही है, किंतु उस बालिका की कल्पना में यह अनेक गुणों से युक्त एक सजीव वस्तु है। जो श्रेष्ठ भावनायें उस बालिका के मन में उत्पन्न हो रही हैं, उनके विकास में बाधा डाले विना कोई भी उसके उस मानसिक विचार को भंग नहीं कर सकता।

श्रीमती बेसेंट ने भारतवर्ष की सामान्य जनता के वृक्ष के चारों ओर सूत लपेट कर उसे ही ईश्वर को भेंट करने की क्रिया का वर्णन किया है। एक साधारण ईसाई पादरी इसे देख कर अत्यन्त कुपित होगा और इस प्रकार अपनी ही अज्ञानता प्रकट करेगा, क्योंकि लोगों की वह भेंट हार्दिक विश्वास से ही अर्पित की जाती है। उन अपेक्षाकृत अ-उन्नत और बालकवत्, आत्माओं का आशय तो अच्छा ही होता है, और यह बात भी उस बालिका की चीथड़ों की गुड़िया के प्रकार ही समझनी चाहिये, और उनका इतना सा ही—अर्थात् उनकी भावनामात्र का ही महत्व समझना चाहिये। वे देवता पर जल चढ़ाते हैं अथवा उसे एक पुष्प अर्पण करते हैं, जो कि वास्तव में ही अति तुच्छ भेंट है, किंतु उसका तिरस्कार क्यों हो? स्वयं क्राइस्ट ने भी कहा है कि जो लोग उनके नाम पर एक प्याला शीतल जल का भी देते हैं, वे भी उसके फल से कभी वंचित नहीं रहते। यह भी याद रखना चाहिये कि संभवतः कोई भी मनुष्य—यहां तक कि एक सर्वथा असभ्य मनुष्य भी—किसी मूर्ति अथवा आकार को वास्तविकता करके नहीं मानता, किंतु सभी उस बाह्य रूप के पीछे ईश्वर की ही भावना रखते हैं।

"एक महान् आचार्य ने एक बार लिखा था कि 'जब मैं बालक था, तो बालक के ही सदृश बोलता था, बालक के ही सदृश समझता था, और बालक के ही सदृश विचार करता था, किंतु जब मैं एक पुरुष बन गया तो मैंने बालकों की सी उन सब बातों को त्याग दिया।" तथापि जिसने अपना बचपन भुला दिया हो और बालकों के प्रति अपनी सहानुभूति खो दी हो, वह मनुष्य उन्हें शिक्षा देने अथवा उनकी सहायता करने के योग्य नहीं होता। अतः चाहे कोई हिन्दू हो या बौद्ध, जैन हो या यहूदी, ईसाई हो या मुसलमान, सबके प्रति समान रूप से प्रेम, नम्रता, और सहिष्णुता का भाव रखो।"

ऐनी बेसेंट—यह एक आध्यात्म ज्ञानी का वास्तविक चित्र है जो कि अपने बचपन को भूला नहीं है। उसने अब पुरुषत्व को प्राप्त किया है, किंतु जिस श्रेणी को वह पार कर चुका है उसका उसे स्मरण है, अतः वह सबकी सहायता कर सकता है। सबके प्रति सहानुभूति और सहायतापूर्ण भावना रखने के लिये हमें अपना शिक्षण इस प्रकार करना अच्छा है कि अपने धार्मिक विचारों को किसी भी विशेष धर्म के बाह्य आचार-विचारों से रंग लीजिये, और उस धर्म के सिद्धांतों में अपने विचारों को स्थापित कर दीजिये। हम सबके पास हमारी अपनी एक विशेष भाषा होती है और उसीमें हम अपना भाव प्रकट करते हैं, जब तक कि हम एकता की उस श्रेणी तक नहीं पहुंच जाते, जहां सबके बोलने की एक ही भाषा है। एक साधक को अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरों की भाषा और बोलने की विधि का भी भली प्रकार अध्ययन करना चाहिये। जो लोग ईसाई होकर जन्मे-पले हैं, वे हिन्दू धर्म के सिद्धांतों के अनुसार विचार और वार्तालाप करने का अभ्यास कर सकते हैं, इस प्रकार वे एक

हिन्दू के दृष्टिकोण से देखना सीखेंगे, और तब उन्हें यह देख कर आश्चर्य होगा कि उन बातों की उन्होंने जैसी कल्पना कर रखी थी, उससे वे कितनी भिन्न दिखाई देती हैं। इसी प्रकार हिन्दूलोग भी ईसाई धर्म के सिद्धांतों के अनुसार बोलना और विचार करना सीख सकते हैं।

स्वामी विवेकानंद के गुरु श्री० रामकृष्ण परमहंस ने अपना शिक्षण इसी प्रकार किया था। उन्होंने वारी वारी से बहुत से धर्मों की साधना की, और उतने समय के लिये उन्हीं धर्मों की विधियें और साधनाओं पर अभ्यास किया। ईसाई धर्म की साधना करते समय उन्होंने ईसाइओं की ही विधि से प्रार्थना की, ईसाईयों के ही समान विचार किये और यहां तक कि ईसाईयें के ही समान वस्त्र धारण किये। इस प्रकार उन्होंने एक के बाद एक बहुत से धर्मों की साधना की, और प्रत्येक धर्म के साथ अपनी अभिन्नता स्थापित करना सीखा। अपने इस प्रयत्न में उन्होंने बाहर से प्राप्त हो सकने वाली प्रत्येक सहायता का उपयोग किया। जब वे ईश्वर के मातृ-रूप की अनुभूति प्राप्त करने के लिये साधना कर रहे थे, जिसका पश्चिम में 'कुमारी मेरी' और हिंदू-धर्म में "शक्ति" कह कर वर्णन किया गया है, तब वे स्त्रियों का ही वेष धारण किया करते थे और अपने में स्त्रीपन की ही भावना किया करते थे। उनकी इन साधनाओं का परिणाम निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर हुआ, क्योंकि सब धर्मों के बाह्य भेद अ॰ उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते थे।

यह मार्ग उस मार्ग से कितना भिन्न है जिसका अनुसरण अधिकांश लोग करते हैं? तथापि, केवल सबके

प्रति अपनी अभिन्नता स्थापित करने पर ही मनुष्य शिष्य पद को प्राप्त करने योग्य बन सकता है। श्री० रामकृष्ण प्रधान रूप से एक भक्त थे, और इसी प्रकार की भावनाओं द्वारा उन्हों ने ज्ञान प्राप्त किया।

अस्तु, एक साधक को कुछ समय के लिये अपने आपको एक हिंदू, बोद्ध, या एक स्त्री, अथवा जो कुछ भी वह नहीं है, वही समझने की भावना करनी चाहिये। कितने थोड़े पुरुष कभी स्त्री के समान विचार और भावनायें रखने और प्रत्येक वस्तु को उसीके दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करते हैं! साथ ही मैं यह भी अनुमान कर सकती हूं कि पुरुषों के दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करने वाली स्त्रियां भी वास्तव में बहुत ही कम हैं; किंतु पुरुषों में यह बात अधिक परिमाण में होती है—एक पुरुष अपने को 'पुरुष' ही समझना चाहता है; यहां तक कि मुझे तो थियोसोफिस्ट लोग भी लिंग-भेद रहित भ्रातृभावना की सत्यता को भूल जाते हुये ही प्रतीत होते हैं।

इस बात को समझना सीखिये कि आपसे अपरिचित किसी वातावरण में से आपके सामने आई हुई बातें आपको कैसी प्रतीत होंगी। आपको सब बातों को केवल अपने ही दृष्टिकोण से देखने की इस आदत को जो कि आध्यात्म ज्ञान के क्षेत्र से विपरीत है, सुधारना है। ऐसा करने पर संसार आप पर दोषारोपण करेगा; आपकी निष्पक्षता और सहानुभूति को उदासीनता कहा जायेगा। किन्तु इन सब बातों पर तनिक भी ध्यान मत दीजिये। मुझ पर पश्चिम के लोग 'पूर्णतया हिन्दू' होने का दोषारोपण करते हैं, और पूर्व के लोग 'पूर्णतया ईसाई' होने का;

क्योंकि पश्चिमीय देशों में भाषण करते समय मैं उन्हीं के उपयुक्त शब्दों का उपयोग करती हूँ, जो भारतवर्ष के लोगों को अच्छा नहीं लगता; और पूर्व देशों में भाषण करते समय मैं वहीं के अनुकूल शब्दों को काम में लाती हूं, जो पश्चिम के लोगों को अप्रिय लगता है। इन सब उलहनों के लिये मेरा सदा यही उत्तर होता है कि मैं लोगों के सामने भाषण करते समय वैसे ही शब्दों का प्रयोग करती हूं जिन्हें कि वे समझते हैं।

ऐसे उलहने और दोषारोपण तभी उठते हैं जब हम इन बातों को उच्च स्तर से देखने के स्थान पर नीचे की ओर से देखते हैं। जिस व्यक्ति को अनेक देशों में अपना संदेश पहुँचाना है, उनके लिये पृथक् पृथक् धर्मों का अध्ययन करके उनकी ही परिभाषा में बोलना सीखने की आवश्यकता है। यह बात कोई नई नहीं है और इस पर जो दोषारोपण होता है वह भी नया नहीं है। सेंट पॉल के विरुद्ध एक बड़ा अभियोग यही था कि वे सभी के सर्व-सर्वा थे। उन्होंने लिखा है कि "यद्यपि मैं सर्वथा मुक्त हूं, तथापि मैंने अपने आपको मनुष्यमात्र का सेवक बना दिया है ताकि मैं और भी अधिक उन्नति कर सकूं। यहूदियों के लिये मैं यहूदी बन गया हूँ ताकि मैं उनके हृदय को जीत सकूँ, जो प्राकृतिक नियमों के आधीन हैं उनके साथ मैं उनके जैसा ही हूँ, ताकि मैं उन्हें भी आकर्षित कर सकूँ; जो प्रकृति के नियमों को नहीं मानते, उनके लिये मैं—ईश्वर-विमुख तो नहीं, पर क्राइस्ट के विधानों के अनुकूल वर्तता हुआ उन्हीं के जैसा हूँ, ताकि मैं उनके प्रेम पर भी विजय पा सकूँ, दुर्बलों के लिये मैं दुर्बलों जैसा हूँ, ताकि मैं उनके मन को भी आकृष्ट कर सकूँ, मेरा सभी

के साथ कुछ न कुछ संबंध है, ताकि मैं किसी न किसी प्रकार किसी की रक्षा कर सकूँ।' एक अति संकीर्ण विचारों वाले मनुष्य से वे एक अति उदार विचारों वाले बन गये थे। यहूदियों के एक बहुत ही कट्टर सम्प्रदाय के होते हुए भी वे क्राइस्ट के शिष्य बन गये, जो कि एक विलक्षण परिवर्तन था।

एक अध्यात्मज्ञानी किसी भी धर्म का अनुयायी नहीं होता, अथवा यूँ कहिये कि सभी धर्मों का अनुयायी होता है—जैसे आपको रुचिकर लगे वैसे ही कह लीजिये। उसमें किसी भी धर्म का निषेध नहीं होता और सभी धर्मों का समावेश होता है। ठीक इसे ही सहिष्णुता कहते हैं। वादविवाद के झगड़े में न पड़ना इसीलिये अच्छा होता है कि मनुष्य का उतनी देर के लिये असहिष्णु बन जाना संभव हो जाता है। जब किसी एक पक्ष को सिद्ध करने के लिए वादाविवाद किया जाता है तब यदि मनुष्य को अपनी बात की पुष्टि करनी है, तो उस समय उसके लिये निष्पक्ष रहना कठिन है। सत्य का विवेचन सदा एकता की दृष्टि से ही कीजिये, भेद की दृष्टि से नहीं, केवल तभी आप सबकी समान रूप से सहायता करने योग्य हो सकेंगे, और केवल तभी आप लोगों के दोषों की अवहेलना करके दोषों के बीच भी उनके गुणों को देख सकने योग्य बन सकेंगे।

लेडबीटर—जाति, धर्म, वर्ण, रंग-भेद और लिंग-भेद से रहित भ्रातृभाव ही हमारा लक्ष्य है। इस भ्रातृभाव का सर्वोत्तम व्यवहार तभी किया जा सकता है जब कि हम दूसरी जाति, वर्ण अथवा स्त्रियों के विचार और

भावनाओं में प्रवेश करने के योग्य हों। एक पुरुष यह भूल जाता है कि उसने अनेकों हीं जन्मों में स्त्री शरीर प्राप्त किया है, और एक स्त्री यह भूल जाती है कि वह अनेक वार पुरुष रूप में जन्म लेती रही है। तथापि एक पुरुष के लिये यह अभ्यास सरल न होने पर भी वहुत अच्छा है कि वह अपने को स्त्री के स्थान पर रख कर उसके समान विचार करने का और जीवन को उसके दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करे; इसी प्रकार एक स्त्री को भी पुरुष के दृष्टिकोण से देखना सीखना चाहिये। इन दोनों के दृष्टि-कोणों में आश्चर्यजनक अन्तर है। जो पुरुष अपनी चेतना को स्त्री की चेतना के साथ, और जो स्त्री अपनी चेतना को पुरुष की चेतना के साथ तद्रूप कर सकती है, उनके लिये यह समझना चाहिये कि वे लोग लिंगभेद की भावना से सर्वथा परे उस भ्रातृभाव की ओर अग्रसर हो चुके हैं। अपनी माँ, वहिन, या पत्नी के दृष्टिबिंदु को समझने का प्रयत्न करने के पश्चात् मनुष्य अपने इस अभ्यास को अन्य धर्म और जाति के लोगों तक भी विस्तृत कर सकता है। यह अभ्यास वहुत ही उपयोगी है, क्योंकि जव मनुष्य दूसरे के दृष्टिकोण को वास्तव में समझ कर उससे सहानुभूति रखता है तो समझो कि उसने उस सीमा तक अपने अवेक्षण को विस्तृत कर लिया है।

इस सहिष्णुता के सम्बन्ध में तालमुद (Talmud) नामक पुस्तक में अव्राहम की एक कथा आती है। एक वार एक यात्री उसके पास आया और वहाँ की प्रथानुसार अव्राहम उसे भोजन और जल देने लगा। उसने अपने अतिथि को भोजन से पहिले ईश्वर की प्रार्थना करने के लिये कहा, किंतु जब उस यात्री ने प्रार्थना करना अस्वीकार

कर दिया और कहा कि वह ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानता तो, अब्राहम क्रोध में भर कर उठा और उसे अपने तम्बू से निकाल दिया, तथा उसे कुछ भी खाने को न दिया। जब भगवान् पधारे, जैसा कि वे उन दिनों उसके पास आया करते थे; और उन्होंने उससे पूछा कि तुमने उसे लौटा क्यों दिया, तो अब्राहम ने यात्री पर बड़ा क्रोध प्रकट करते हुये उत्तर दिया कि "भगवन् ! उसने आपका नाम लेना भी अस्वीकार कर दिया, वह तो निकृष्टतम श्रेणी का नास्तिक था।" भगवान् ने कहा "ठीक है, किंतु मैं उसके साथ साठ बरस से निभा रहा हूं, तब निश्चय ही एक घंटा तो तुम भी निभा ही सकते थे।"

हममें से कुछ थिऑसोफिस्ट भी अभी तक किसी न किसी वाह्यधर्म का अवलम्बन रखते हैं, तथापि मेरी समझ में हममें यह कहने की सामर्थ्य होनी चाहिये कि हम किसी एक धर्म के अनुयायी नहीं हैं, किन्तु सभी धर्मों के सम्मिलित रूप को मानने वाले हैं। उदाहरणार्थ, मैं स्वयं एक ईसाई पादरी हूँ, किन्तु मैं एक बौद्ध भी हूँ, क्योंकि मैंने वे सब व्रत और प्रतिज्ञायें ली हैं जिससे मैंने भगवान् बुद्ध को अपना पथ-प्रदर्शक स्वीकार किया है। ये प्रतिज्ञाये लेते समय मुझे किसी अन्य धर्म का परित्याग करने के लिए नहीं कहा गया। इस विषय में बौद्धधर्म कदाचित् अन्य सभी धर्मों से अधिक विशाल है; वे कभी आप को यह नहीं पूछेंगे कि आपका विश्वास क्या है, वरन् यही पूछेंगे कि आप भगवान् बुद्ध के उपदेशों पर आचरण करते हुए उनके आदेशों के अनुसार जीवन-यापन करेंगे या नहीं। एक ईसाई, मुसलमान, अथवा किसी भी धर्म का अनुयायी अपने धर्म का परित्याग किये बिना ही केवल

इतना कह कर बौद्ध बन सकता है कि "यह शिक्षा श्रेष्ठ है, अतः मैं इस पर आचरण करना प्रारम्भ करूँगा।" थिऑसोफ़ी—ब्रह्मविद्या वही सत्य है जो इन सभी धर्मों में अन्तर्गत रहता है। हम सब धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन केवल यह देखने के लिए ही नहीं करते कि थिऑसोफ़ी अर्थात् ब्रह्मविद्या के सत्य सभी धर्मों में प्रकट हैं या नहीं, वरन् इसलिये भी करते हैं कि हम सत्य के भिन्न-भिन्न प्रकार के विवेचनों को समझ सकें, और उनके अनुसार सभी लोगों को सहायता करने के योग्य बन सकें।

इसके महत्व को हमारी प्रेज़िडेंट ने हमारे सामने प्रदर्शित किया है। वे हिन्दुओं के सन्मुख एक हिन्दू के समान भाषण करती हैं, और अपने कथन की पुष्टि के लिये संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हुये उनके ही शास्त्रों के उद्धरण देती हैं और उनकी वह बात लोगों के हृदय में जँच जाती है—जैसे कि मूल लैटिन भाषा में कही गई बात ईसाइयों को आकर्षक लगती है। बौद्धों को संबोधित करते समय भी वे बातें तो वही कहती हैं, उद्धरण भगवान् बुद्ध के वचनों की देती हैं, और बौद्ध धर्म की परिभाषा का प्रयोग करती हैं। पश्चिमीय देशों में ईसाइयों के सन्मुख आप उन्हें उन्हीं की भाषा का प्रयोग करते हुए सुनेंगे। ऐसा करने के लिए वे अपना विश्वास या धर्म परिवर्तन नहीं करतीं, वरन् अपनी बात लोगों को उनकी ही भाषा में समझा देती हैं। अवश्य ही वे उन सभी धर्मों की विद्वान् हैं। यद्यपि उनके ज्ञान और भाषण चातुर्य की तुलना हमसे नहीं हो सकती, तो भी यदि हम धर्मों के अन्तर्गत सत्य को जानते हैं, तो किसी भी विशेष धर्म की प्रथम पुस्तक का थोड़ा सा अध्ययन करके ही हम उसे

भली प्रकार समझ सकते हैं और उसी के शब्दों में सत्य का विवेचन कर सकते हैं, और उस निगूढ़ अर्थ को स्पष्ट कर सकते हैं जो दूसरों के लिए दुर्बोध है। मैंने कर्नल ऑलकट को ऐसा करते हुए वारंवार सुना है। वे कोई अध्ययनशील या विद्वान् श्रेणी के व्यक्ति नहीं थे. किंतु वे एक कुशल वक्ता थे: वे हिंदू, पारसी, बौद्ध आदि सभी प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख प्रभावोत्पादक भाषण करते थे, और सभी धर्मों के विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि उन्होंने प्रत्येक धर्म पर नवीन प्रकाश डाला है। इससे प्रकट होता है कि किस प्रकार थिऑसोफ़ी अर्थात् ब्रह्मविद्या सभी धर्मों की एक विशिष्ट कुंजी है। अड़ियार में होने वाली हमारी सोसायटी की वृहद् सभाओं में यही सचाई दूसरे रूप में प्रकट होती है, क्यों कि वहां भिन्न भिन्न धर्म और जातियों के लोग एकत्रित होते हैं, और उन सभाओं में सम्मिलित होने वाला कोई भी व्यक्ति न केवल सहिष्णुता द्वारा, वरन् वहां प्रदर्शित किये जाने वाले व्यावहारिक स्नेहमय वातावरण द्वारा प्रभावित हुये विना नहीं रह सकता।

इक्कीसवां परिच्छेद

प्रसन्नता

४-प्रसन्नता—"तुम्हें अपने कर्मफल को, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, प्रसन्नतापूर्वक भोगना चाहिये, और दुखों के आने पर उन्हें अपना सौभाग्य मान कर ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि कर्म के विधाता देव तुम्हें सहायता प्राप्त करने का पात्र समझते हैं।"

एनी बेसेंट—जैसा कि मैं पहिले ही कह चुकी हूं, यह गुण वही है जिसका अनुवाद पहिले बराबर सहनशीलता (Endurance) करके होता रहा है। सहनशीलता Endurance) को कुछ कुछ अभावसूचक गुण कहा जा सकता है; किंतु जिन बातों को रोकना आपके हाथ की बात नहीं उन्हें सहन कर लेना मात्र ही आपके लिये यथेष्ठ नहीं है, वरन् उन्हें प्रसन्न और प्रफुल्ल चित्त से ग्रहण करना चाहिये एवं समस्त दुख कष्टों को हंसते हंसते झेलना चाहिये। इस प्रसन्नता शब्द से आपको यह पूरा बोध हो जाता है कि हमारे महात्मागण आपसे इस गुण विशेष के संबंध में क्या आशा रखते हैं। बहुत से मनुष्य सहन तो कर सकते हैं, किंतु वे खेदयुक्त हो कर ही सहन करते हैं; परन्तु आपको अपने समस्त दुख-कष्ट प्रसन्नतापूर्वक ही झेलने चाहिये। कई एक हिन्दू शास्त्रों में इस विषय को बहुत महत्व दिया गया है कि प्रत्येक स्थिति को संतोष-पूर्वक ही ग्रहण करना चाहिये।

यह बात एक वास्तविकता है जो मनुष्य साहस करके इस पथ की साधना करने का निश्चय कर लेते हैं, उनके कर्म बहुत ही शीघ्रतापूर्वक भुगत कर क्षय होने लगते हैं। इस बात पर इतना अधिक ज़ोर देने का एक कारण तो यह है कि जिस बात की उन्हें आशा रखनी है उसकी उन्हें पहिले से ही चेतावनी मिल जाये, और दूसरे जब उन्हें उन बातों का अनुभव न केवल सैद्धांतिक रूप में, वरन् व्यावहारिक रूप में हो तो उनका साहस बंधा रहे, क्योंकि उसमें बहुत ही अन्तर होता है।

कर्म प्रकृति का एक नियम है जो कि कुछ समय के लिये टाला भी जा सकता है और शीघ्र भोगा भी जा सकता है,

अर्थात् आप अपने लिये ऐसी स्थिति भी उत्पन्न कर सकते हैं जिसमें यह तुरंत ही भोगा जासके, और ऐसी स्थिति भी उत्पन्न कर सकते हैं जिसमें कुछ समय के लिये आप इससे बच जायँ। इस बात को कहने की आवश्यकता बहुधा बारंबार पड़ा करती है कि प्रकृति के नियम कोई शासन-व्यवस्था नहीं हैं, वे हमें कुछ भी करने के लिये बाध्य नहीं करते। एक साधारण दृष्टान्त लीजिये, विद्युत् की शक्तियां हमारे चहुँओर सर्वदा क्रियाशील रहती हैं, किंतु यदि हम किसी नियत स्थान या समय पर उसका कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न किया चाहते हैं, तो हमें उसे प्रगट करने के लिये एक विशेष प्रकार के यन्त्र की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कर्म प्रकृति का एक नियम है, और हमारा इस स्थूल लोक में जन्म लेकर शरीर धारण करना ही कर्म के चक्र को चालू करने का साधन बन जाता है। एक व्यक्ति के जिवन में होने वाले कुछ परिवर्तन उसके कर्म की गति को प्रबल और वेगयुक्त बना सकते हैं। दृष्टान्त के लिये, जब आप शीघ्र उन्नति करने के लिये साधना करने का निश्चय कर लेते हैं, तो आपको दी हुई उस सम्मति द्वारा कर्म के विधाता देव आपके उस यंत्र अर्थात् जीवन में कुछ परिवर्तन कर देते हैं, और आपके कर्मों की शक्ति को अधिक प्रबलता से प्रकट होने देकर अल्प समय में ही उसे आपको भुगता देते हैं; इस परिवर्तन में आपका संकल्प ही प्रधान कारण होता है।

यदि शीघ्र उन्नति करने के हेतु अपने बुरे कर्म-विपाक से शीघ्र छुटकारा पाने के लिये व्यक्त की गई मनुष्य की वह इच्छा उसकी सच्ची अभिलाषा हो, ताकि उसकी आत्मा को उसी ओर स्थिर किया जा सके तब उसकी वह

आकांक्षा कर्म के विधाता देवों तक पहुंचती है, और वे उसके पूर्व कर्मों के चक्र को प्रवर्तन देकर उसे उन्हें भोगने का पात्र बना देते हैं; कर्म तो पहिले ही विधमान हैं, उसने नये कर्मों का निर्माण नहीं किया, किंतु जो कर्म उसने संचित कर रखे थे, उन्हें वह शेष करना आरंभ कर देता है।

यदि आप कर्म के विधान को समझते हैं, तो आप पर चाहे जो कुछ भी बीते, आपको कुछ भी आश्चर्य न होगा। श्री कृष्णमूर्ति के पूर्व जन्मों की कथाओं को लीजिये और देखिये कि उनमें कैसी कैसी भयंकर घटनायें घटी हैं। एक जन्म में तो उनके पुत्र की हत्या की गई; एक और जन्म में उन्होंने स्वयं किसी ऐसे अपराध के लिए फांसी का दंड भोगा जो उन्होंने नहीं किया था, इत्यादि। यदि आप उनके पूर्व जन्मों के इतिहास को एक कहानी की तरह पढ़ेंगे तो आप इन बातों को कठिनता से समझ सकेंगे, किंतु यदि उनमें से कोई एक भी बात आपके इसी जन्म में घटित होने वाली हो, तो वे आपको अति भयानक प्रतीत होंगी। वे सब विपत्तियां और दुख उन्हीं के अशुभ कर्मों का फल-भोग था।

जब आप पर जल्दी जल्दी विपत्तियां आने लगती हैं, तो उससे यह सूचित होता है कि कर्म के विधाता देवों ने आपकी प्रार्थना सुन ली है और यह एक बहुत ही शुभ चिह्न है। यदि आपका जीवन निर्विघ्नता से व्यतीत हो रहा है तो समझिये कि उन्होंने अभी आपकी प्रार्थना को नहीं सुना है। अस्तु, इस विषय में भी अध्यात्मिक दृष्टिकोण

सांसरिक-दृष्टिकोण से विपरीत है। संसार जिसे दुर्भाग्य कहता है, आध्यात्मिक दृष्टि से वह सौभाग्य है।

जब आप पर आने वाले दुख-दर्द और विपत्ति में लोगों की निंदाजनक और अनुदार आलोचना भी सम्मिलित होजाये तो समझिये कि यह आपका सबसे बड़ा सौभाग्य है। कुछ विपत्तियां ऐसी होती हैं जो तत्काल ही दूसरों की सहानुभूति को जाग्रत करती हैं, और दुखी मनुष्य के प्रति प्रदर्शित की गई समस्त सहानुभुति उसकी बहुत अधिक सहायता करती है; किंतु कुछ विपत्तियां अपवाद भी लाया करती है; आपके यथाशक्ति भलाई करते हुये भी आप पर प्रबल दुख आकर पड़ते हैं, और उसके उपरान्त संसार भी आपके विरुद्ध होकर आप पर दोषारोपण करने लगता है। जब ऐसा होता है, तब समझिये कि मनुष्य अपने कर्मों को बहुत बड़े परिमाण में निःशेष कर रहा है। इसके अतिरिक्त अप्रिय बात का होना मनुष्य को शीघ्रता-पूर्वक और संपूर्णतया कर्मों को निःशेष करदेने में सहायक होता है।

इन सब बातों को जब आप सैद्धांतिक रूप में पढ़ते और सुनते हैं, तब तो यह सरल प्रतीत होता है, किंतु आपको इन्हें उपयुक्त अवसर आने पर भी स्मरण रखना चाहिये। साधारणतया, जब तक मनुष्य के जीवन में इनके व्यवहारिक अनुभव का अवसर नहीं आता, तभी तक यह बात याद रहती हैं, किंतु ऐसा अवसर आने पर तुरंत ही भूल जाती हैं। अपने मन में इन बातों को पूर्णतया जमा लेने का प्रयत्न कीजिये, ताकि आप इन्हें भूल न सकें और आपके दुख के समय इनका विचार आपको शक्ति प्रदान करे एवं

दूसरों के दुख में उन्हें सहायता देने के योग्य बनाये। इस बात को स्पष्टतया समझने के लिये, जिसकी कि आवश्यकता है, आपको इस बात से सहायता मिल सकती है; यदि आप अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ायें तो आप पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि बहुत भले मनुष्यों पर लगातार ही विपत्तियां और दुख-कष्ट आते रहते हैं, जिन्होंने—जैसा कि बहुधा कहा जाता है—ऐसे कोई भी काम नहीं किये जिनके फलस्वरूप वे उन दुखों के पात्र बनते, अर्थात, उनका वर्तमान जीवन इतना श्रेष्ठ और उपयोगी है कि उसमें उनका ऐसा कोई भी बुरा कर्म नहीं हुआ। हमारी मनःप्रवृत्ति सदा अपनी तुलना अपने से अधिक सौभाग्यशाली व्यक्तियों से करने की ओर ही रहती है; किन्तु कभी-कभी अपने से कम सौभाग्यशाली व्यक्तियों से तुलना करना अच्छा होता है, ताकि हमारे जीवन में जितना भी सुख है उसके लिये हम भगवान् का अनुग्रह मान सकें। हमारा यह भूल जाना संभव है कि हमारे पास कितनी ऐसी वस्तुयें हैं जिनके लिये हमें कृतज्ञ होना चाहिये, क्योंकि हम सदा अपने भाग्य में जो दुख और अभाव है उसी का विचार करते रहते हैं, किंतु हमें ऐसा नहीं करना चाहिये।

लेडबीटर—जो मनुष्य वास्तव में ही कर्म के विधान को समझता और उस पर विश्वास करता है, वह सदा-सर्वदा प्रसन्न रहता है। यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट कर देनी चाहिये कि गुरुत्वाकर्षण की भाँति कर्म भी प्रकृति का एक नियम है, जोकि सर्वदा क्रियाशील रहता है। इसके विषय में कभी-कभी लोग ऐसा सोचते अथवा कहते हैं कि जब वे कुछ क्रिया करते हैं तभी उस क्रिया के प्रसंगवश

कर्म की क्रिया भी चालू होती है। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। कर्म की क्रिया तो प्रतिक्षण चालू है। मनुष्य अपने निश्चित कार्य, विचार और वचन से इसके लिये केवल ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है जिसमें कि इसकी क्रियाओं का प्रभाव उस पर पड़ सके। कर्म-विधान के अनुसार प्रत्येक के अच्छे और बुरे कर्मों के हिसाब का एक खाता सदा वर्तमान रहता है। हम सभी जंगलियों की उस अवस्था को पार करके आये हैं जिसमें कि हमने सभी प्रकार के असंयत कार्य किये थे, अतः यह संभव है कि जब तक हम उन सब को भोगकर शेष कर देने के लिये बहुत से जन्म न लेलें, तब तक एक बहुत बड़े परिणाम में हमारे वे बुरे कर्म अपना फल देने की राह देख रहे हों। जब कोई दुख हम पर आकर पड़ता है तो हमें यह सोच लेना चाहिये कि हम कदाचित् उस कर्म के अवशेष अंश को भोग रहे हैं। यदि हम कुछ महान् सन्तों का जीवन-चरित्र पढ़ें तो देखेंगे कि उन्होंने असीम कष्ट भोगे हैं। जिन-जिन लोगों ने जगत् की सहायता करने की चेष्टा की है उन सबने ही कष्ट पाया है। यह दीक्षा के लिये दिये जाने वाले शिक्षण का ही एक अंग है, किंतु यह सदा पूर्ण न्याय-युक्त ही होता है, क्योंकि शिक्षण के प्रयोजन को लेकर भी कभी कोई अन्याय नहीं किया जा सकता।

कर्म के विधाता देव केवल उस नियम के पालनकर्त्ता ही हैं। यह 'विधाता' शब्द कुछ अस्पष्ट सा है, क्योंकि इससे यह सूचित होता है कि यह लोग कर्म के नियम का संचालन और उसका शासन करते हैं। आप गुरुत्वाकर्षण के नियम का संचालन या उस पर शासन नहीं कर

सकते, किन्तु आप किसी विशेष स्थल पर और विशेष प्रकार से इसका उपयोग करने का प्रबंध कर सकते हैं। यही बात कर्म के नियम की भी है; जो देव इसके सम्बन्ध में कार्य कर रहे हैं वे इसके प्रबन्धकर्त्ता हैं। कर्म के अधिष्ठाताओं का एक कार्य यह है कि वे मनुष्य के संचित कर्मों का कुछ अंश छाँटकर उसके आगामी जीवन में भोगने के लिए प्रारब्ध के रूप में दे देते हैं। मनुष्य के जितने कर्म संचित होते हैं उनकी अपेक्षा वे अधिक अच्छे या अधिक बुरे कर्मों को नहीं ले सकते, किंतु वे उसके उतने भाग को छाँट अवश्य देते हैं जितने को भोगने के लिए वे उस मनुष्य को समर्थ समझते हैं। तथापि मनुष्य को अपनी इच्छाशक्ति का उपयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, और यदि मनुष्य अपने प्रारब्ध कर्मों को उनको आशा से शीघ्र ही भोग कर निःशेष कर दें तो ऐसी अवस्था में वे उसे और भी अधिक कर्म भोगने के लिये दे देते हैं। "एक भक्त का जीवन सदा कष्टमय रहता है," इस असाधारण वाक्य का यही अर्थ है कि ईश्वर जिस पर अनुग्रह करते हैं उसी को दंड देते हैं। मनुष्य अपने कर्मों को दार्शनिक रीति से न भोगकर उन्हें दुख मान कर भोगता है, और अपनी प्रत्यक्ष मूर्खता के कारण ही अपने लिये अनिर्दिष्ट कष्टों को खड़ा कर लेता है किन्तु इसके लिए कर्म के विधाता देव उत्तरदायी नहीं हैं।

"यह कर्मफल कितना ही कठिन या दुःसह क्यों न हो, किन्तु प्रभु का अनुग्रह मानो कि यह इससे भी अधिक कठिन नहीं है।"

———

लेडबीटर—कष्ट पानेवाला लगभग प्रत्येक मनुष्य यही कहा करता है कि यह कष्ट कितना कठिन है। और सदा अपने अच्छे दिनों की बातें ही सोचता रहता है। हम इसे दूसरे दृष्टिकोण से देख कर ऐसा कह सकते हैं कि "कदाचित् स्थिति इससे भी अधिक कठिन हो सकती थी," अथवा "मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि मेरे यह सब बुरे कर्म शेष हो रहे हैं; संभव था कि मुझे इससे भी अधिक कर्म भोगने को मिल जाते; कम से कम मुझे अपनी स्थिति का लाभ उठाना चाहिये।"

"स्मरण रखो कि अपने बुरे कर्मों का क्षय हुए बिना तुम श्री गुरुदेव के कार्य के लिये अधिक उपयोगी नहीं हो सकते।"

एनी बेसेंट—श्री गुरुदेव के दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य के संचित कर्म में से किसी भी बुरे कर्म का क्षय होना बहुत ही सौभाग्य की बात है, क्योंकि हमें यह याद रखना चाहिये कि जो लोग श्री गुरुदेव की सेवा करने के इच्छुक हैं, इनके बुरे कर्म श्री गुरुदेव के कार्यों में विघ्नरूप हैं। इस विघ्न के कारण श्री गुरुदेव उनका उपयोग उतनी सरलता से नहीं कर सकते जितना कि अन्यथा वे कर सकते थे। श्रीमती ब्लावैड्स्की ने, जो कि स्वयं अपने विषयमें सदा ही स्पष्ट बात कहा करती थीं और जो सभी बातों में पूर्ण सत्यशील थीं—एक बार कूलम्ब दम्पति द्वारा दिये जानेवाले कष्ट के विषय में कहा था कि "इस जन्म के किसी कर्म के फलस्वरूप तो मैं इस कष्ट की अधिकारिणी नहीं हूँ, किंतु यह मेरे किसी पूर्वजन्म के कर्म का फल है।" उनके लिये अपने उस कर्म से मुक्त होना अत्यावश्यक था, अतः उस घटना में आदि से अन्त तक उनके साथ

जो निंदनीय और लज्जाजनक वर्ताव किया गया, वह उनके
लिये वड़े से वड़ा आशीर्वाद था। और जव उन्होंने इस
विषय को दार्शनिक रीति से देखा तो इस वात को समझ
लिया किंतु कभी-कभी उनमें वाहरी व्याकुलता दिखाई
दे जाती थी।

इस विचार द्वारा सभी जिज्ञासुओं को आश्वासन
मिलना चाहिये, ताकि वे अपनी ओर दृष्टि रखने के स्थान
पर श्री गुरुदेव की ओर ही दृष्टि रखें और सोचें कि "जिन
कष्टों को मैं झेल रहा हूँ, वे मुझे श्री गुरुदेव की सेवा के
लिए अधिक उपयोगी वना देंगे।"

यदि आपने अपने कर्मों को शीघ्र क्षय कर देने की
प्रार्थना की है, तो उस प्रार्थना के स्वीकृत होने पर
असंतोष प्रकट करना व्यर्थ है। इस प्रेरणादायक विचार
को सदा अपनी स्मृति में रखिये कि "मैं अपने वुरे कर्मों
से जितना ही अधिक मुक्त होऊँगा, उतना ही श्री गुरुदेव
की सेवा के लिए अधिक उपयोगी होऊँगा।" एक वार अर्पण
कर दी गई भेंट को लौटाना नहीं चाहिये। प्राचीन हिन्दू
ग्रन्थों की कथाओं में कई स्थलों पर इस विषय का वर्णन
आता है। एक वार दिया गया दान अथवा कहा गया
वचन कभी लौटाया नहीं जा सकता। यदि आप का दिया
हुआ दान किसी परिस्थितिवश आपके पास लौट भी
आये, तो आपको उसे फिर दे देना चाहिये। यह अव
आपका नहीं रहा, अतः इसे अपने पास रखना एक प्रकार की
चोरी ही होगी। अतः जव आपने अपने आप को ही
भेंट-स्वरूप अर्पण कर दिया-जोकि सवसे महत् और सवसे
श्रेष्ठ भेंट है—तो आपको फिर इसे लौटाना नहीं चाहिये।

लोग अपने आपको श्री गुरुदेव के भेंट कर देने की मौखिक बातें तो करते रहते हैं, किंतु उस भेंट को वे मुठ्ठी से छोड़ते नहीं, जिसका आशय यह कि यदि श्री गुरुदेव उनकी इच्छा के विरुद्ध उसका उपयोग करें तो वे उसे वापिस लौटा लें। यदि श्री गुरुदेव उनके दिये हुये वचनों को स्वीकार कर लें, तो वे मुकरने लगते हैं। कभी कभी ऐसा भी हो सकता है कि श्री गुरुदेव उन्हें यह जतलाने के लिये कि वे लोग अपने आप को धोखा दे रहे हैं, ग्रहण कर लें।

लेडवीटर—यदि मनुष्य के समस्त बुरे कर्म क्षय होजायें, तो वह अपनी संपूर्ण शक्ति और समय के साथ श्री गुरुदेव की सेवा करने के लिये स्वतंत्र हो जायेगा। यह स्पष्ट किया गया है कि श्री गुरुदेव के कार्य में हमारे बुरे कर्मों द्वारा विघ्न पड़ता है, अतः इनसे शीघ्र छुटकारा पाना अपने को श्री गुरुदेव की सेवा के लिये अधिक उपयुक्त बनाना है। मद्रास में सन् १८८४ ई० में श्रीमती कूलम्ब तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा आरोपित लांछनों को श्रीमती ब्लावैड़स्की ने इसी दृष्टिकोण से देखा था। यद्यपि उन्हें उन लांछनों के लिये रोष था, उनलोगों की कृतघ्नता के लिये खेद था, तथा इस बात की चिंता थी कि कहीं इन बातों की छाया थिऑसोफिकल सोसायटी पर न पड़े और इसको कोई हानि न हो, तथापि उन्होंने कहा कि "कम से कम यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि यह सब विपत्तियाँ मुझे श्री गुरुदेव की सेवा के लिये अधिक उपयुक्त बनाती हैं।"

इस विचार को व्यक्तिगत कष्टों के साथ २ हम सोसायटी के संकटों पर भी लागू कर सकते हैं।

सोसायटी के संकटों के समय भी सदा श्री गुरुदेव की सेवा का ही विचार कीजिये। जब भी यह किसी विशेष कठिनाई में से निकलती है तो इसकी और भी उन्नति होती है, क्योंकि यह कुछ बुरे कर्मों से मुक्त हो जाती है और इसलिये अधिक उपयोगी अर्थात् अपने संचालकों के लिये अधिक अच्छा यंत्र बन जाती है। ऐसे अप्रिय प्रसंगों की समाप्ति पर सोसायटी और भी अधिक उन्नति की ओर अग्रसर हो सकती है। मैडम-ब्लावैट्स्की के कथनानुसार ऐसे प्रसंगों द्वारा वे निरुपयोगी व्यक्ति, जिनकी और अधिक उन्नति करने की सामर्थ्य समाप्त हो चुकी है, डिग जाते हैं और उनका विच्छेद हो जाता है। वे व्यक्ति किसी समय उपयोगी रहे होंगे, किंतु भविष्य की उन्नति के मार्ग में तो वे एक बाधा ही बन गये थे। तथापि हमें उन मित्रों के विच्छेद का बहुत दुख हुआ। उनके द्वारा खड़ी की गई पिछली घटना के समय मुझे ऐसा लगा कि उनके विरोध का केंद्र मैं ही था और उन विरोधियों को यह एक अच्छा बहाना मिल गया था। अतः मैंने यह घटना महा चौहान के सम्मुख रखने का साहस किया और उनसे प्रार्थना की कि यह परीक्षा उन लोगों के लिये बहुत ही कठिन थी, अतः उनपर अनुग्रह किया जाये। स्वभावतः ही वे मेरे इस प्रस्ताव पर सदय भाव से हँसे और बोले कि "यदि येही लोग श्रीमती बेसेंट का भी विरोध करें, तब तो तुम (उनके विच्छेद से) संतुष्ट होगी?" मैंने कहा हाँ, निश्चय ही।" मुझे विश्वास था कि वे ऐसा नहीं करेंगे। किंतु कुछ ही महीनों के पश्चात् उन्होंने श्रीमती बेसेंट का भी विरोध करना प्रारंभ कर दिया, और तब महा चौहान अपनी

उसी मंद मुस्कान से बोले "अब तुम समझ सकते हो कि इस जीवन के लिये उनका सूर्य अस्त हो चुका है किंतु अभी और भी बहुत से जन्म बाकी हैं, और उनमें उनका सौभाग्य सूर्य फिर उदित होगा।"

कोई भी मनुष्य अपरिहार्य नहीं है। यद्यपि भारतवर्ष में कभी २ सोसायटी की किसी २ शाखा का कार्य किसी एक ही प्रतिष्ठित सभासद पर निर्भर रहता है और उसके उस नगर से चले जाने पर उस शाखा की कार्यशीलता मंद पड़ जाती है। जब श्रीमती ब्लावैडस्की का देहान्त हुआ तो हम लोगों को, जो कि उनसे नित्य प्रेरणा पाने के अभ्यस्त थे, ऐसा प्रतीत हुआ मानों अब सब जगह अंधकार छा जायेगा। किंतु हमारी प्रेसिडेंट के रूप में एक और महान् व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। तथापि मुझे विश्वास है कि सबसे पहिले वे ही यह कहेंगी कि उनके शरीर त्याग की बारी आने पर भी हमें सोसायटी के लिये चिंता करने की आवश्यकता नहीं। श्री गुरुदेव के कार्य के ये सब यंत्र अपना शरीर बदल लेते हैं। यद्यपि "अज्ञानी लोगों की दृष्टि में वे मृत्यु को प्राप्त होते प्रतीत होते हैं।" परन्तु श्री गुरुदेव, जो इस कार्य के पृष्ठ पोषक हैं, वे मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, अतः जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक उनका कार्य चलाने के लिये कोई न कोई मिलता ही रहेगा।

"श्री गुरुदेव को आत्म-समर्पण करके मानों तुमने शीघ्र ही कर्मक्षय कर देने की प्रार्थना की है, अतः अब एक या दो जन्मों में शीघ्र ही तुम उन संपूर्ण कर्मों को भोग लोगे, जिन्हें भोगने के लिये कदाचित् तुम्हें सौ जन्म धारण करने पड़ते हैं। किंतु इसका पूर्ण लाभ लेने के लिये तुम्हें इनको प्रसन्न और प्रफुल्लित चित्त से सहन करना चाहिये।"

ऐनीबेसेंट—जिस विधि से पुराना ऋण चुकाया जाता है, उसके अनुरूप ही नया कारण उत्पन्न कर लिया जाता है। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। यदि आप अपने दुष्कर्मों के फल को बुद्धिमानी से भोगते हैं, तो आप अपनी भलाई के लिये नई शक्तियों का संचार करते हैं; और यदि आप उन्हें अनिच्छापूर्वक भोगते हैं और अपने उस ऋण को रो रोकर चुकाते हैं, तो ठीक इससे विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है। 'पहाड़ पर के उपदेश' (Sermon on the mount) नामक पुस्तक में क्राइस्ट ने कहा है कि "यदि मार्ग में कभी तुम्हारे शत्रु का भी साथ हो जाये, तो तुरंत उसके साथ मैत्री स्थापित कर लो।" विपत्ति के समय के लिये यह एक उत्तम उपदेश है। आपके कष्ट और अभाव आपके सन्मुख शत्रु के ही रूप में उपस्थित होते हैं; साहसपूर्वक उनका सामना कीजिये, तुरंत ही उनके अनुकूल बन जाइये, और तब वे समाप्त हो जायेंगे। यदि हमारे पूर्वकृत कर्मों को भोगते समय हम नवीन कर्मों के बीज न बोयें, तो हम अपने संचित कर्मों से बहुत शीघ्र मुक्त हो सकते हैं।

लेडबीटर—लोग कभी-कभी श्री गुरुदेव को अपना सर्वस्व अर्पण कर देने की बात तो करते हैं, किंतु फिर उन्हें इस बात का भय होता है कि कहीं श्री गुरुदेव उनसे बहुत अधिक माँग न कर लें। बाइबल में वर्णित अनानियास (Ananias) और साफ़िरा (Sapphira) नामक स्त्री-पुरुष की यही वृत्ति है। इस अभागे दम्पति को अपने पदार्थों का कुछ भाग अपने लिए सुरक्षित रखने का सचमुच ही पूर्ण अधिकार था, किंतु उन्होंने यह

बहाना करने की भूल की कि वे सभी कुछ त्याग रहे हैं। यह कहना कि "मैं यह दे सकता हूँ, मैं श्रीगुरुदेव के लिये इतना कुछ कर सकता हूँ, किंतु मैं अविरोध भाव से पूर्ण आत्मसमर्पण नहीं कर सकता—हमारी वर्तमान अवस्था का द्योतक है। किन्तु जब मनुष्य श्री गुरुदेव के प्रति आत्म-समर्पण करता है तो उसे यह समर्पण भी उसे प्रकार सच्चे हृदय से करना चाहिये, जिस प्रकार कि वह अन्य वस्तुओं को समर्पण करता है। इसके लिये ऐसा कोई भी प्रतिबंध नहीं लगाना चाहिये कि इसका उपयोग इस प्रकार होना चाहिये और इस प्रकार नहीं होना चाहिये, और न इसे लौटाने की ही इच्छा करनी चाहिये। किसी को यह भय करने की आवश्यकता नहीं कि श्री गुरुदेव उनकी सामर्थ्य से अधिक मांग कर लेंगे। यदि हम अपने आपको श्री गुरुदेव के अर्पण कर देते है तो अचानक आये हुए कष्टों के लिये दुखित अथवा विस्मित नहीं होना चाहिये। इन कष्टों से यह सूचित होता है कि आपका समर्पण किसी अंश में स्वीकार कर लिया गया। अतः वे बहुत सी बातें जिन्हें संसार दुख और कष्ट कहता है, हमारे लिये शीघ्र उन्नति की सूचक हैं। लोग बहुधा हमारे साथ सहानुभूति रखने के स्थान पर हमें दोष दिया करते हैं, किन्तु यह भी एक सौभाग्य की ही बात है। जैसा कि रूइसब्रोक (Ruysbrock) ने कहा है कि जब मनुष्य अपने लक्ष्य के निकट पहुंचने की स्थिति पर आता है, तभी उसके विषय में मिथ्याबोध उत्पन्न हुआ करता है और उसकी भलाई को भी बुराई ही बताया जाता है। सम्पूर्ण इतिहास बतलाता है कि आत्म-विद्या

अथवा रहस्यवाद के महान शिक्षकों के साथ सदा यही बीती है। इसे प्रसन्नता-पूर्वक सहना स्वयं ही एक सत्कर्म है, और इससे हमारे भीतर धैर्य, दृढ़ता, सहन-शीलता, दीर्घकाल तक दुःख सहन करने की क्षमता आदि विभिन्न अमूल्य गुणों का विकास होता है। अस्तु, अतीत काल की बीती हुई बुराई में से भी हम भलाई निकाल सकते हैं।

एक बात और भी है; तुम्हे प्रत्येक वस्तु में से 'अहं भाव' को त्याग देना चाहिये। तुम्हारे कर्मों के फलस्वरूप तुमसे अपनी परम अभीष्ट वस्तुओं और परम प्रिय व्यक्तियों का भी वियोग हो सकता है। उस अवस्था में भी तुम्हे प्रसन्न ही रहना चाहिये और प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक व्यक्ति से विलग होने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये।"

ऐनीबेसेंट—अब हम उस बात पर आते हैं जो पहली बात की अपेक्षा बहुत कठिन है। पूर्वकेकर्म-फल को सहन करना इससे कहीं सरल है। आपको अपने 'अपना पन" के भाव अर्थात् अधिकार-भावना का त्याग कर देना चाहिये। सबसे पहिले वस्तुओं पर से अपनी ममता का, तत्पश्चात् व्यक्तियों पर से स्वाधिकार का। इनमें से दूसरी बात ही अधिक कठिन है। क्या आपने उन व्यक्तियों के प्रति ममता की भावना को त्याग दिया है जिन्हें आप सबसे अधिक प्रेम करते हैं? किंतु लोगों को ऐसा सोच लेने पर भी उनकी परीक्षा के लिये ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाया करतीं हैं जिनसे यह प्रकट हो जाता है कि उनकी यह धारणा मिथ्या है। क्या आप उस व्यक्ति को अपने जीवन से विलग कर सकते हैं जो आपको प्राणों से भी प्रिय है? इसे

आप श्री गुरुदेव के प्रति अपनी सच्ची भक्ति की अंतिम और सबसे कठिन परीक्षा कह सकते हैं। जिज्ञासुओं को चाहिये कि इस विषय में परीक्षा का समय आने से पहिले ही वे अपने को तैयार कर लें, क्योंकि पूर्वाभ्यास द्वारा वे उस आघात को कम कर सकते हैं। किसी के प्रति अपनी प्रेम-भावना को नष्ट मत कीजिये, यह तो वाम-मार्गियों की रीति है। उस व्यक्ति के प्रति हर समय प्रेम भावना रखते हुए, किंतु कुछ समय के लिये उसके सहवास से अलग होकर अथवा कुछ ऐसा कार्य हाथ में लेकर जो आप के जीवन को सुखी करने वाले व्यक्ति से दूर रहकर ही किया जा सके, अथवा ऐसा ही किसी अन्य उपाय द्वारा आप इसका अभ्यास कर सकते हैं। यदि आप प्रसन्नता और हर्षपूर्वक ऐसा कर सकते हैं तो समझो कि आप उस मार्ग पर आ गये हैं जब कि सबको त्याग कर श्री गुरुदेव का अनुसरण करने की पुकार आने पर आप उसके लिये भी प्रस्तुत हो जायेंगे।

जब भगवान् मैत्रेय पैलेस्टाइन में थे उस समय की घटनाओं का जो वृत्तांत हमें बताया गया है उसमें इस बात को कितना महत्व दिया गया है, यह आप को स्मरण होगा। उस समय उनकी पुकार को सुनकर कतिपय व्यक्तियों ने ही लाभ उठाया था, सबने नहीं। जिन लोगों ने अपना सर्वस्व त्याग कर उनका अनुसरण किया था, वे ही उनके पश्चात् धर्मगुरु बने। अन्य लोगों ने तो उनके विषय में फिर कभी कुछ सुना ही नहीं। उस धनी युवक की बात याद कीजिये जो शोक करता हुआ लौट गया था, यद्यपि उससे केवल अपने धन का ही परि-

त्याग करने के लिये कहा गया था। लोग सोचा करते हैं कि यदि उस युवक के स्थान पर वे होते तो अवश्य ही उनके आदेश का तुरंत पालन करते; तथापि मुझे विश्वास नहीं कि संसार में ऐसे मनुष्य बहुत होंगे जो एक परिव्राजक का अनुसरण करने के लिये अपनी अतुल सम्पत्ति को त्याग देंगे क्योंकि क्राइस्ट उस समय इसी रूप में अर्थात् कुछ अर्ध-शिक्षित लोगों से घिरे हुये और स्थान स्थान पर भ्रमण करने वाले एक शिक्षक के रूप में ही प्रकट हुए थे। तथापि अपनी परम अभीष्ट वस्तुओं और परम प्रिय जनों का त्याग करके भी श्री गुरुदेव का अनुसरण करने को प्रस्तुत रहना ही साधक की परीक्षा है।

लैडबीटर—हमें यह बात अवश्य समझनी चाहिये कि व्यक्तिगत रूप से यहां कुछ भी हमारा अपना नहीं है; और जो कुछ भी हमारे पास है वह हमें विकास क्रम में सहायता करने के लिये धरोहर के रूप में ही प्रदान किया गया है। यदि मनुष्य के पास धन अथवा सत्ता है तो वह इसलिये कि इनसे इस कार्य में सहायता करने के और भी अवसर प्राप्त होते हैं। कोई भी वस्तु इस रूप में हमारी अपनी नहीं है कि हम इस काय के अतिरिक्त उसका और भी कोई उपयोग करें। मनुष्य की स्थिति सदा एक व्यवस्थापक अथवा सेवक जैसी ही है जो अपने स्वामी के धन का उपयोग करते हुए भी उसकी पाई पाई के लिये उतना ही सावधान रहता है जितना कि उस धन के अपना होने पर रहता। प्रत्येक धनवान् और सत्तावान् मनुष्य की यही मनो वृत्ति होनी चाहिये।

इन जीवन्मुक्त महात्माओं में मानवजाति के प्रतिनिधि के रूप में जीवन धारण करने की मनोवृत्ति का अद्भुत और अतीव सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। उनमें जितनी महान् शक्तियां हैं उन सब का वे अपने को केवल एक भंडारी ही समझते हैं। यही कारण है कि श्रीगुरुदेव के कोई भी शुभाशुभ कर्म उन्हें मनुष्य की स्थिति में बांधने वाले नहीं होते। इन महापुरुषों और महा अभिनेताओं का कोई भी कर्म बन्धनकारक नहीं होता, क्योंकि वे सभी कर्मों को अकर्त्तापन के भाव से, व्यक्तिगत इच्छा से सर्वथा रहित होकर ही करते हैं। वे अपना सारा कार्य उसी प्रकार करते हैं जैसे युद्ध करते समय एक सैनिक के मनमें किसी शत्रु विशेष के मारने का विचार नहीं रहता, किंतु यह भावना रहता है कि वह किसी महान् योजना का ही एक अंग है और किसी विशेष प्रयोजन के लिये ही लड़ रहा है। अस्तु, ये महर्षिगण उस महान भ्रातृमंडल (Great Brotherhood) के एक सदस्य के रूप में ही अपना कार्य करते हैं, और उनके समस्त कार्य मानवजाति के कल्याण और उत्थान के लिये ही होते हैं।

सर्व प्रथम तो हमें वस्तुमात्र के प्रति और तत्पश्चात् व्यक्तियों के प्रति, जो सबसे कठिन है, 'ममता' की भावना को त्याग देना चाहिये। संभव है मृत्यु ही उन्हें हमसे विलग कर दे, अथवा कदाचित् मनुष्यजाति की सेवाके लिये ही हमारा उनसे विच्छेद हो जाये। महायुद्ध के समय यह बात सहस्रों ही मनुष्यों के लिये सत्य हो गई—पत्नी ने पति को, माता ने पुत्र को अपने कर्त्तव्य के लिये युद्ध करने को भेज दिया। निश्चय ही हमें भी बिना किसी

असमंजस के श्री गुरुदेव की उसी प्रकार सेवा करनी चाहिये जैसे कि उन सहस्रों मनुष्यों ने अपने देश की सेवा की। किसी ऐसे व्यक्ति को जो अपने को प्राणों से भी प्रिय है, विस्मरण करना बहुत ही कठिन है। तथापि बहुतों को ऐसा करना पड़ा है; किसी को तो दुखप्रद स्थितियों में पड़कर बलात् ऐसा करना पड़ा, और किसी को ऐसी स्थिति में पड़कर करना पड़ा, जिसने कि उनके बलिदान को पवित्र और सुंदर बना दिया।

अपनी प्रेम-भावना को नष्ट करके समस्त दुखों से बचने की रीति तो उन लोगों की है जो वाममार्ग का अनुसरण करते हैं किंतु जिन्हें उस महा भ्रातृमंडल का सदस्य बनना है। उन्हें तो अपने को उत्तरोत्तर दृढ़ ही करना चाहिये, तथापि अपने उस प्रेम में से स्वार्थ को नष्ट कर दीजिये जो कि सदा ही प्रेम में केवल बाधा ही पहुंचाया करता है। आपको याद होगा कि किस प्रकार क्राइस्ट की माता कुमारी मेरी के हृदय को तलवार से बेधा गया था, यदि उन्होंने अपने पुत्र की स्मृति को हृदय से निकाल कर उन्हें सर्वथा भूल जाना स्वीकार कर लिया होता, तो वे उस आघात से बच सकती थीं। बहुत बार ऐसा ही होता है; जैसे कि स्वयं क्राइस्ट ने भी कहा है कि "यह मत सोचो कि मैं पृथ्वी पर शांति लाने के लिये आया हूं, मैं शांति नहीं वरन् संघर्ष उत्पन्न करने आया हूं।" उनके कथन का तात्पर्य यह था कि उनकी नवीन शिक्षा को कहीं कहीं किसी कुटुम्ब में कोई एक आध व्यक्ति ही ग्रहण करेगा, कुटुम्ब के अन्य लोग उस पर आपत्ति करेंगे, जिससे कि भेद उत्पन्न होगा; अथवा मनुष्य को किसी विशेष कार्य को करने के